

बाल व्यवहार विकास

[विश्वविद्यालयों की डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों,
अभिभावकों तथा अध्यापकों के लिए]

लेखक

डॉ. सरयू प्रसाद चौबे

एम.ए., एम.एड, (इलाहाबाद),

डी.एड. (इण्डियाना, यू.एस.ए.), डी.लिट्. (लखनऊ),

शिक्षा में जी.जे. वातूमल मेमोरियल अवार्ड के आदाता

शिक्षा विभाग, कला संकाय,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक :

विनोद पुस्तक मन्दिर

कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२
बिक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

[सर्वाधिकार लेखक के अधीन]

बिना लेखक की अनुमति के, समालोचना के लिए छोड़कर,
इस पुस्तक से कुछ भी उद्धृत न किया जाय ।

प्रथम संस्करण : १९६९

मूल्य : ७.००

कम्पोजिंग : हिन्दी कम्पोजिङ्ग ग्रुह, आगरा
मुद्रण : कैलाश प्रिन्टिङ्ग प्रेस, आगरा
[२०५६९१२]

श्रीमती विद्या चौबे, एम. ए.

को



इन्हें समझो.....

प्राक्कथन

इस पुस्तक में बाल व्यवहार सम्बन्धी सभी बातों की विवेचना इस प्रकार की गई है कि जो बालकों के सर्वमुखी विकास के लिए उत्तरदायी हैं उन्हें बालकों के विविध प्रकार के विकास; जैसे—शारीरिक, मानसिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, संवेगात्मक, आदत, चरित्र, भाषा, तर्क, चिन्तन, सौन्दर्यात्मक, व्यक्तित्व, समझ, स्मृति तथा उनके विकास की विषमताओं का अच्छी प्रकार परिचय हो जाय। स्पष्ट है कि इस पुस्तक की सहायता से माता-पिता, अभिभावक तथा अध्यापकगण बालकों के विकास-सम्बन्धी विविध बातों को समझ सकेंगे और तत्सम्बन्धी अपने कर्तव्य की ओर जागरूक होंगे। विभिन्न विषयों के निर्वाह में भारतीय पृष्ठभूमि से ही उदाहरण दिये गये हैं। पुस्तक की भाषा सुबोध और सरस रखने की चेष्टा की गई है जिससे बाल-स्वभाव-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के समझने की प्रक्रिया में पाठक कहीं उलझ न जाय।

कभी-कभी कुछ बालकों को समस्या-बालक की संज्ञा दे दी जाती है। यह ठीक नहीं, क्योंकि बालक अपने प्रायः सभी व्यवहार किसी न किसी प्रकार दूसरों के व्यवहारों के अनुकरण के आधार पर सीखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें बालकों का वातावरण सभी विधि से स्वस्थ रखना है और उनके सामने कोई अवांछित उदाहरण न रक्खा जाय। इस बात को प्रायः हम भूल जाते हैं। फलतः बालकों के स्वभाव में कुछ विषमतायें आ जाती हैं। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि वस्तुतः समस्या माता-पिता होते हैं, न कि समस्या बालक। इस पुस्तक के अध्ययन से माता-पिता को उस पथ का बोध होगा जिसके अनुसरण करने से अपने बच्चों को समस्या-बालक होने से रोक सकेंगे, क्योंकि वे बालकों के सामने अपने व्यवहार में वे स्वयं मनोवैज्ञानिक हो सकेंगे। यदि ऐसा कुछ हद तक भी सम्भव हो सका तो लेखक अपना प्रयास सफल समझेगा।

विश्वविद्यालयों की डिग्री कक्षाओं में अब 'बाल-विकास' या 'बाल मनो-विज्ञान' अध्ययन का एक स्वतन्त्र विषय हो चला है। इन कक्षाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति का लक्ष्य इस पुस्तक में रखा गया है। आशा है यह पुस्तक उनके लिए उपयोगी होगी।

(ख)

पुस्तक में सुधार के लिए रचनात्मक सुझावों का सदैव स्वागत किया जायगा ।

इस पुस्तक की रचना में जिन स्रोतों से सहायता ली गई है उनका उल्लेख पुस्तक के क्रम में अथवा सहायक पुस्तकों की सूची में कर दिया गया है । लेखक इन स्रोतों के लेखकों और प्रकाशकों के प्रति आभार प्रगट करता है ।

लेखक अपने प्रकाशक विनोद पुस्तक मन्दिर, अस्पताल रोड, आगरा के प्रति बड़ा कृतज्ञ है, क्योंकि उन्होंने अपने अन्य विषम उत्तरदायित्वों के मध्य में भी इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी तत्परता दिखलाई है ।

२७ अगस्त, १९६६
श्रावणी, सं० २०२६ वि०
कर्मभूमि, महानगर,
लखनऊ ।

—सरयूप्रसाद चौबे

विषय-सूची

- १—बाल अध्ययन के विकास की रूपरेखा १-७
- बच्चों के प्रति समाज का दृष्टिकोण, शिक्षा प्रणाली में बाल-मनोविज्ञान का प्रवेश, सत्रहवीं शताब्दी, अठारहवीं शताब्दी, उन्नीसवीं शताब्दी, बाल विकास के अध्ययन में प्रगति, बीसवीं शताब्दी—(क) बालकों की विभिन्न क्षमताओं का विशेष अध्ययन, (ख) असमायोजित बच्चों का अध्ययन, (ग) व्यवहारों के आधार पर शिशु अध्ययन, (घ) बुद्धि परीक्षण द्वारा अध्ययन, (ङ) पूर्व-विद्यालय-बालक का अध्ययन, शिशु के अध्ययन में पड़ने वाली रुकावटें ।
- २—बाल-अध्ययन के उद्देश्य और विधियाँ ८-१६
- पहले की स्थिति, बाल-अध्ययन का महत्त्व, बाल-अध्ययन के उद्देश्य, बाल-अध्ययन की विधियाँ, बाल-अध्ययन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक बातें ।
- ३—बचपन का महत्त्व और बाल-विकास के मूल सिद्धान्त १७-२५
- बचपन का महत्त्व, बाल विकास के मूल सिद्धान्त ।
- ४—शारीरिक विकास २६-४५
- शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार का सम्बन्ध, शारीरिक विकास के अध्ययन की विधियाँ, तौल की बाढ़, ऊँचाई की बाढ़, विभिन्न अवयवों के विकास में परस्पर सम्बन्ध, हड्डियाँ, दाँत, माँसपेशियाँ, आन्तरिक अवयवों में परिवर्तन, स्नायुमण्डल का विकास ।
- ५—गति विकास ४६-६०
- गद्य विकास के अध्ययन का महत्त्व, गति के विकास की कुछ साधारण विशिष्टताएँ, विभिन्न अवयवों में गति के विकास का अनुक्रम, गति के विकास में विलम्ब ।
- ६—समझ का विकास ६१-७७
- बच्चों के प्रत्यय, सामान्य और विशिष्ट प्रत्यय, बच्चे अर्थ कैसे समझते हैं ? बच्चों के प्रश्न और प्रत्यायात्मक विकास, स्थान

का प्रत्यय, संख्या का प्रत्यय, समय का प्रत्यय, तौल का प्रत्यय, आकार और स्वरूप का प्रत्यय, आत्म का प्रत्यय, सौन्दर्य का प्रत्यय ।

७—सीखना

७८-८६

परिभाषा, परिपक्वता, परिपक्वता व सीखने की प्रक्रिया में अन्तर, सीखने के सिद्धान्त—(क) प्रयास व भूल का सिद्धान्त, (ख) अनुकरण का सिद्धान्त, (ग) सम्बद्ध प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त, (घ) अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त, सीखने के नियम—(क) अभ्यास-सम्बन्धी-नियम, (ख) तत्परता-सम्बन्धी-नियम, (ग) परिणाम-सम्बन्धी नियम, सीखने का विकास—(क) बालक की जन्मजात क्षमता, (ख) बालक के पालन-पोषण का वातावरण, सीखने की प्रक्रिया के प्रभावकारी तत्त्व—(१) मनोवैज्ञानिक तत्त्व, (२) शारीरिक तत्त्व, (३) वातावरण जनित तत्त्व, सीखने की प्रक्रिया में अवरोध-स्थल (पठार) ।

८—भाषा, तर्क और चिन्तन का विकास

९०-११०

भाषा कैसे सीखी जाती है? अनुकरण, वस्तुओं के नाम सीखना, बचपन में भाषा का कार्य, भाषा समाजीकरण का एक साधन, बालक का भाषा-विकास, भाषा-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं का स्वरूप, बालक के शब्द-चयन का विकास, बच्चों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के प्रकार, बालक का वाक्य-विकास, बालक पढ़ना कैसे सीखता है? भाषा-विकास पर प्रभाव डालने वाली बातें, कुछ भाषा-दोष और उनके सुधार, चिन्तन और तर्क का विकास, तर्क क्या है?

९—स्मृति का विकास

१११-१२०

स्मृति का स्वरूप, स्मृति के अंग, स्मृति के प्रकार, स्मरण या याद करने के नियम, स्मरण करने की विधियाँ, बालक में स्मृति का विकास, स्मरण करने का सबसे अच्छा काल कौन ?

१०—मानसिक विकास

१२१-१३६

मानसिक और शारीरिक विकास में सम्बन्ध; बुद्धि के स्वरूप-सम्बन्धी प्रतिपादित सिद्धान्त, मानसिक विकास का भ्रम, बुद्धि के विकास की वक्र रेखाओं से ज्ञात बातें, बुद्धि का माप, शैशव में मानसिक विकास की रेखा, बाल्यावस्था में मानसिक विकास, बुद्धि-परीक्षा की उपयोगिता, कुछ शिक्षा समस्याएँ ।

- ११—**अवधान और रुचि का विकास** १३७—१४६
 अवधान का स्वरूप, अवधान और चेतनता, अवधान की दशायें, वातावरण-सम्बन्धी अवधान की दशायें, अवधान की व्यक्तिगत दशाएँ, रुचि, बालक में अवधान देने की शक्ति का विकास, बालक की रुचियाँ ।
- १२—**संवेगात्मक विकास** १४७—१६१
 संवेग का स्वरूप, बालकों के कुछ संवेग—क्रोध, आनन्द, भय, कष्ट और रोना, प्यार, ईर्ष्या, संवेगों पर नियन्त्रण पाने के उपाय ।
- १३—**सामाजिक विकास** १६२—१८८
 समूह का बड़ा प्रभाव, सामाजिक विकास का अर्थ, सामाजिक विकास की धारा एक क्रम में, सामाजिक व्यवहार के प्रारम्भ, प्रारम्भिक सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप, प्रारम्भिक बचपन में सामाजिक व्यवहार, सामाजिक स्वीकृति की अभिलाषा, बचपन के अन्तिम दिनों में सामाजिक व्यवहार, विरोधात्मक काल, साथियों का चुनाव, नेतृत्व, सामाजिक प्रसिद्धि, बहिष्कृत बच्चे ।
- १४—**मूल-प्रवृत्तियाँ और उनकी शिक्षा** १८९—२००
 मूल-प्रवृत्तियों की कुछ प्रधान विशेषताएँ, मूल-प्रवृत्तियों में परिवर्तन, मूल-प्रवृत्तियाँ और शिक्षा ।
- १५—**ज्ञानेन्द्रियाँ और उनकी शिक्षा** २०१—२०७
 ज्ञानेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियों का वर्गीकरण, जिह्वा और नाक, ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा ।
- १६—**आदत और चरित्र** २०८—२२०
 आदत और चरित्र में भेद, आदत, आदत की विलक्षणताएँ, आदत का हमारे जीवन में महत्त्व, आदत डालने के नियम, बुरी आदतें स्वतः क्यों आ जाती हैं ? कुछ आदतों को दूर करने के उपाय, चरित्र ।
- १७—**चरित्र का विकास** २२१—२३४
 चरित्र का अर्थ और उसका प्रयोग, चरित्र-विकास के सिद्धान्त, चरित्र की प्रवृत्ति, चरित्र निर्धारण के प्रमुख कारक, चरित्र का विकास, चरित्र के लिए शिक्षा, चरित्र की शिक्षा का गतिमान रूप, चरित्र मूल्यांकन ।

१८—व्यक्तित्व का विकास

२३५—२६१

व्यक्तित्व-व्यवहार-विधि का दर्पण, प्रत्येक का अपना एक व्यक्तित्व, व्यक्तित्व के गुण, व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण, व्यवहार पर व्यक्तित्व का प्रभाव, व्यक्तित्व के कुछ प्रारम्भिक स्वरूप, व्यक्तित्व के गुणों का विकास, व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन, व्यक्तित्व के कुछ प्रशंसित गुण, व्यक्तित्व पर प्रभाव डालने वाली कुछ बातें, अस्वस्थ व्यक्तित्व, व्यक्तित्व के माप, क्या बालक शीघ्र क्रोध में आ जाता है या देर में ? आत्म और सामाजिक व्यवस्थापन के सन्तुलन पर जीवन-व्यवस्थापन आधारित ।

१९—नैतिक विकास

२६२—२७९

नैतिकता का स्वरूप, नैतिक विकास के अंग, नैतिक व्यवहार का विकास, नैतिक प्रत्यय का विकास, नैतिक विकास की अवस्थाएँ, विनय, दण्ड और पुरस्कार, नैतिक विकास पर प्रभाव डालने वाली कुछ बातें, बुद्धि और नैतिकता, शरारतें, अपराधी बालक ।

२०—धार्मिक विकास

२८०—२९०

धार्मिक जीवन का विकास, शिशुओं के धार्मिक विकास के साधन ।

२१—सौन्दर्यात्मक विकास

२९१—२९७

निर्वाचन का ज्ञान प्राप्त करना ।

२२—असामान्य बालक

२९८—३०४

(क) मानसिक दोषयुक्त बालक, (ख) शारीरिक दोषयुक्त बालक, (ग) अकाल प्रौढ़-बालक ।

२३—अपराधी बालक—कुछ कारण और उपचार

३०५—३१८

बालकों के असामान्य व्यवहार के मनोवैज्ञानिक कारण, बालक को अपराधी बताने वाले घरेलू कारण, बालक को अपराधी बनाने वाले बाह्य वातावरण सम्बन्धी कारण, बालक के अपराधी होने के व्यक्तिगत कारण, अपराधी बालकों का उपचार, बालकों की अपराधी-प्रवृत्ति को रोकने के उपाय ।

२४—प्रतिभावान् बालक

३१९—३२४

प्रतिभावान् बालकों का राष्ट्रीय और सामाजिक महत्त्व, प्रतिभावान् बालकों के विशेष गुण, प्रतिभावान् बालकों का चुनाव, प्रतिभावान् बालकों की मूलभूत समस्याएँ, प्रतिभावान् बालकों

की शिक्षा, विशेष विद्यालयों की व्यवस्था, विशेष कार्यक्रमों की व्यवस्था ।

२५—बालकों का स्वास्थ्य

३२५—३३६

शारीरिक स्वास्थ्य, जन्मजात अस्वस्थता, स्वाभाविक पालन-पोषण, नियमित आहार, विश्राम और व्यायाम, स्वस्थ वातावरण, मानसिक स्वास्थ्य, मानसिक अस्वस्थता, मानसिक स्वास्थ्य का महत्त्व, मानसिक स्वास्थ्य के नियम, मानसिक स्वास्थ्य तथा शिक्षा व्यवस्था, मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का अध्ययन ।

सहायक पुस्तकों की सूची

३३७—३४७

अभिसूचिका

३४६—३५१

बाल-अध्ययन के विकास की रूपरेखा (AN OUTLINE OF DEVELOPMENT OF CHILD STUDY)

बच्चों के प्रति समाज का दृष्टिकोण (The Attitude of Society towards Children)

प्राचीन समाज में बच्चों के सर्वाङ्गीण विकास के प्रति प्रायः सभी देशों के लोग उदासीन थे। बच्चों को अपने सहज विकास के लिए स्वच्छन्दता और अवसर नहीं मिल पाता था। इतना अवश्य था कि दैनिक आचरणों, नियम पालन, व्यायाम और नियमित रहन-सहन की कठोरता, सर्वाङ्गीण विकास के नियम पालन, व्यायाम और नियमित रहन-सहन की कठोरता प्रति उदासीनता तथा आत्म-संयम द्वारा उनके शारीरिक विकास पर विशेष बल दिया जाता था। सामान्यतया प्रत्येक अभिभावक की यह अभिलाषा होती थी कि उसके बच्चे को ऐसी शिक्षा प्राप्त हो, जिससे वह उचित आयु प्राप्त करने पर अभिभावक को परिवार के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व से मुक्त कर सके। इस प्रकार बच्चों की शिक्षा के मापदण्ड का निर्धारण व्यक्ति की कुछ आवश्यकताओं पर आधारित था। फलतः पूर्वनिर्धारित मापदण्ड के अनुरूप उन्हें तैयार करना शिक्षा का एक मात्र लक्ष्य था। बच्चों के विकास की सहज प्रवृत्ति और उनकी स्वच्छन्दता का अध्ययन करना तो दूर रहा—उन पर जान-बूझकर कुठाराघात किया जाता था।

समाज के विकास के साथ-साथ शिक्षा के उद्देश्यों एवं स्तर में भी परिवर्तन होता गया। समाज को अपने निरन्तर विकास हेतु सुयोग्य नागरिकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः शिक्षा के उद्देश्य के क्षेत्र में कुछ शिक्षा का उद्देश्य विस्तार हुआ है। अब तक शिक्षा का ध्येय बच्चों को सफल नागरिक बनाना अपने परिवार का उत्तरदायित्व वहन करने योग्य बनाना था और अब उत्तरदायित्व की परिधि विस्तृत होकर परिवार से समाज और देश में परिवर्तित हो गई। फलस्वरूप केवल शिक्षा के उद्देश्य-क्षेत्र में विस्तार मात्र हो गया। बालकों की सहज प्रवृत्ति के विकास को फिर भी अवसर नहीं मिल पाया।

शिक्षा-प्रणाली में बाल-मनोविज्ञान का प्रवेश

बालकों को सुयोग्य नागरिक बनाने के सम्बन्ध में शिक्षकों को बालकों के सम्बन्ध में उनकी प्रवृत्ति, रुचि और इच्छाओं का ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी ज्ञान ने वस्तुतः

मनोवैज्ञानिक तथ्यों की खोज की प्रेरणा दी। फलतः बालकों के सहज विकास पूर्व प्रचलित शिक्षा-प्रणाली पूर्णतया परिवर्तित हो गई।
बालकों के सहज विकास में शिक्षा का स्थान पहले पूर्व निश्चित शिक्षा के स्तर के अनुसार बालकों को शिक्षित किया जाता था और अब बालकों के विकास-स्तर के अनुकूल उनकी शिक्षा-व्यवस्था की जाती है। अगले पृष्ठों में हम इस परिवर्तन की गति अर्थात् मनोवैज्ञानिक शिक्षा के विकास का अध्ययन करेंगे। शिक्षा में मनोविज्ञान का आविर्भाव प्रायः १७वीं शताब्दी से हुआ है। अतएव १७वीं शताब्दी से वर्तमान २०वीं शताब्दी तक के काल में इस दिशा में हुई प्रगति का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक शताब्दी का विवरण अलग-अलग प्रस्तुत करना ठीक होगा।

सत्रहवीं शताब्दी

सर्वप्रथम शिक्षा सुधारक कमेनियस (Johann Amos Comenius) के परिश्रम से उनकी पुस्तक 'स्कूल आफ इन्फैन्सी' (School of Infancy) के प्रकाशन के साथ

सन् १६२८ ई० में शिक्षा-प्रणाली में वैज्ञानिक पद्धति का वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश उद्भव हुआ। परन्तु इस पुस्तक से प्रायः धनाढ्य वर्ग ही, जो अपने बच्चों के समुचित विकास हेतु सचेष्ट था, लाभान्वित हो सका। कोमल तथा चपलमति बालकों की

ग्राह्य शक्ति को दृष्टिगत करते हुए कमेनियस ने १६५७ ई० में 'आरबिस पिक्टस' (Orbis pictus : World in pictures) नामक दूसरी पुस्तक का सृजन किया। इस पुस्तक की पठन-सामग्री चित्रों में अंकित थी, जिसका मूल उद्देश्य—बच्चों को सर्व-प्रथम स्थूल तथ्यों (Objective facts) से परिचित कराने के पश्चात् उनके सूक्ष्म नामों (Abstract terms) का ज्ञान प्रदान करना था। इस प्रकार कमेनियस के शिक्षा-प्रणाली का एक नया पथ प्रशस्त किया। बच्चों की व्यक्तिगत-क्षमता और प्रवृत्ति पर उनके स्वच्छन्द विकास की प्रणाली निर्धारित की गई।

अठारहवीं शताब्दी

१८वीं शताब्दी में बालकों के अध्ययन की प्रायः दो प्रणालियाँ थीं। प्रथम, बाल-शिक्षा के अध्ययन की दार्शनिक शाखा; और दूसरी धारा के अन्तर्गत बालकों का अध्ययन नित्य प्रति के अवलोकन द्वारा किया जाता था। इन प्रणालियों को क्रमशः बाल-अध्ययन की परोक्ष एवं प्रत्यक्ष विधि की संज्ञा दी जा सकती है। जॉन लॉक (John Locke), रूसो (Rousseau) तथा हर्बार्ट (Herbart) आदि शिक्षाविदों के विचारों ने बालकों के अध्ययन की प्राकृतिक विधि का प्रणयन किया और बालकों के

बाल-अध्ययन की प्रमुख धाराएँ

सहज विकास को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की। फ्रोबेल (Froebel) को, जिन्हें किंडरगार्टन (Kindergarten) शिक्षा का जन्मदाता कहा जाता है, इस सम्बन्ध में विशेष ख्याति प्राप्त है।

अब तक बालकों का अध्ययन व्यक्तिगत अथवा समूह के रूप में होता था। परन्तु १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जीवनी की रीति से बालकों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। १७७४ ई० में पेस्तालॉजी ने अपने ३½ वर्षीय पुत्र के अवलोकन-पद्धति द्वारा किए गये अध्ययन द्वारा बाल-अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति का श्रीगणेश किया। इस प्रकार १८ वीं शताब्दी में बाल-अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति का प्रारम्भ हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी

१९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बालकों के अध्ययन की गति में उतनी तीव्रता नहीं रही जितनी इसके उत्तरार्द्ध में।

बाल-विकास के अध्ययन में प्रगति

१९ वीं शताब्दी में बाल-विकास के अध्ययन में आशातीत प्रगति हुई। शिशुओं का व्यक्तिगत रूप में प्राणिशास्त्रीय अध्ययन किया गया। विभिन्न विचारकों द्वारा डार्विन के विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्राणिशास्त्रीय रचना के दृष्टिकोण से शिशु विकास शृङ्खला का वह स्तर है, जिसे जानवर और मानव के बीच की खोई हुई कड़ी कहा जा सकता है। इस शताब्दी में बाल-विकास का अध्ययन विभिन्न प्रकार से भिन्न-भिन्न रूपों में किया गया।

बाल-विकास सम्बन्धी तथ्यों एवं आँकड़ों के संकलन हेतु विभिन्न पत्रों एवं पत्रिकाओं का सम्पादन भी इस शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड तथा फ्रांस आदि पश्चिमी देशों में १९ वीं शताब्दी में बाल विकास के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया गया और पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई।

बाल-विकास के इस वैज्ञानिक अध्ययन को विश्वव्यापी बनाने के ध्येय से अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड, फ्रान्स तथा पोलैण्ड आदि प्रायः सभी पश्चिमी देशों में अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक समितियों की स्थापना हुई। बाल-विकास के अध्ययन समिति के श्री गणेश का श्रेय स्टैनली हाल को है। १८९४ ई० में शिकागो (Chicago) में होने वाली 'अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा समिति' (International Conference on Education) के अवसर पर स्टैनली हाल ने इस प्रकार के प्रथम अमेरिकी संगठन की व्यवस्था की। फिर उनके चरण-चिह्नों पर

पर चलकर विभिन्न देशों ने भिन्न-भिन्न समितियों की स्थापना की। १९०६ ई० में बर्लिन (Berlin) में सर्वप्रथम इस प्रकार की 'अन्तर्राष्ट्रीय काँग्रेस' (International Congress for Child Study) का आयोजन हुआ।

बाल-विकास-अध्ययन के फलस्वरूप उन शिशुओं का भी पता चला जो मानसिक दुर्बलता अथवा अक्षमता के कारण विद्यालय, परिवार और समाज की एक समस्या का रूप धारण कर चुके थे। सर्वप्रथम १८९१ ई०

असमायोजित शिशु में ऐसे बच्चों के उपचार हेतु मनोवैज्ञानिक केन्द्र की (Maladjusted Children) स्थापना हुई। दूसरा मनोवैज्ञानिक उपचार गृह (Psychological Clinic) १८९६ ई० में पेन्सिलवेनिया ((Pennsylvania) नामक विश्वविद्यालय में स्थापित किया गया। २० वीं शताब्दी में इस दिशा में विशेष प्रगति हुई।

शिशु-अध्ययन के विकास के फलस्वरूप, जाने अथवा अनजाने रूप में उन पर होने वाले अत्याचारों की खोज की गई। इनके निवारणार्थ १८६८ ई० से ठोस कदम उठाये गये। १८७५ ई० में 'शिशु-शिशु-कल्याण समितियों निर्दयता अवरोध समिति' (Society for the Prevention of Cruelty to Children) की स्थापना हुई।

की स्थापना १८८७ ई० में न्यूयार्क (New York) में शिशु सेटिलमेंट हाउस (Settlement House) की नींव पड़ी। १८९९ ई० में इस विषय से सम्बन्धित अभिभावकों के लिए, फ्लोरेंस एच० विन्टरबर्न (Florence H. Winterburn) द्वारा "फ्रॉम दि चाइल्ड्स स्टैंड प्वाइंट" (From the Child's Standpoint) नामक पुस्तक प्रकाशित कराई गई। इसके अतिरिक्त १८९८ एवं १९०० ई० के अन्तर्गत डेनवर (Denver), बोस्टन (Boston), शिकागो (Chicago) तथा न्यूयार्क (New York) नामक शहरों में किशोर-अपराध न्यायालयों की स्थापना हुई।

बीसवीं शताब्दी

शिशु-अध्ययन के विकास को देखते हुए वर्तमान शताब्दी को 'शिशु-शताब्दी' कहना अत्युक्ति न होगी। पूर्व प्रचलित जीवनी प्रणाली के स्थान पर शिशुओं के व्यवहारों को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। अध्ययन की गति को नवीनता प्रदान करने वाले तथ्य इस प्रकार हैं :—

'क' बालकों की विभिन्न क्षमताओं का विशेष अध्ययन

२० वीं शताब्दी के पूर्व शिशु-अध्ययन उनकी जीवनी पर आधारित था। अब बच्चों के ज्ञानार्जन, उनके शारीरिक एवं भावात्मक विकास, भाषा, धार्मिक प्रवृत्ति, चारित्रिक बल, नैतिकता, खेल-कूद, भाव-प्रदर्शन की जिज्ञासा और विधि तथा उनकी सामाजिकता को अध्ययन का विषय बनाया गया।

अध्ययन के विषयों में परिवर्तन

इस प्रकार उपयुक्त तथ्यों को लेकर प्रकार विशेष से की जाने वाली अध्ययन की रीति अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई।

‘ख’ अपसमायोजित बच्चों का अध्ययन (Study of Maladjusted Child)

अपसमायोजित बालकों पर १९वीं शताब्दी में ही ध्यान दिया गया था। इस शताब्दी में इन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित करके इनके विशेष अध्ययन की व्यवस्था की गई। बुद्धि-परीक्षा के आधार पर मानसिक दुर्बलता विभिन्न श्रेणियों में अध्ययन वाले बच्चों के निर्वाचन से उनका एक अलग समूह बनाकर अनुकूल स्तर की शिक्षा प्रदान करने की योजना कार्यान्वित की गई। दूसरी श्रेणी में उन अपसमायोजित बालकों को रखा गया जिनके अपसमायोजन का कारण—घर, स्कूल अथवा समाज का प्रतिकूल वातावरण था। ऐसे बच्चों के, मनोवैज्ञानिक रीति से उपचार की व्यवस्था की गई। तीसरी श्रेणी में वे बच्चे थे जो अपनी तीव्र बुद्धि के कारण सामान्य बच्चों से भिन्न हो गये थे। उनके समुचित विकास हेतु, बौद्धिक स्तर के अनुकूल आवश्यक पाठ्यक्रम और शिक्षा की व्यवस्था की गई।

‘ग’ व्यवहारों के आधार पर शिशु-अध्ययन

१९ वीं शताब्दी में प्रचलित बाल-विकास के अध्ययन की जीवनी पद्धति द्वारा प्रत्येक बालक का अध्ययन व्यक्तिगत रूप में हो पाता था। उसी आधार पर बाल समूह की गति-विधियों का अनुमान कर लिया जाता था। अतएव यह पद्धति पूर्णतया दोष-मुक्त नहीं कही जा सकती। वर्तमान शताब्दी में अध्ययन का आधार बालक का व्यक्तिगत और सामूहिक-व्यवहार मानकर पद्धति को अत्यधिक उपयुक्तता और वैज्ञानिकता प्रदान की गई। अनुमान का स्थान प्रत्यक्ष अवलोकन और अनुभव ने ले लिया।

‘घ’ बुद्धि परीक्षण द्वारा अध्ययन (Study by Intelligence Test)

२० वीं शताब्दी के प्रथम दशाब्दि तक बुद्धि-परीक्षण में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। इस प्रणाली-प्रवृत्ति अथवा रुझान-परीक्षण को भी समुचित स्थान प्राप्त था। परीक्षण में प्रत्येक बालक के जीवन स्तर, लिंग, जाति और सामाजिक मूल्यों को यथेष्ट महत्त्व प्राप्त एवं पाठ्यक्रम का निर्माण होने के कारण विभिन्न बालकों के विकास के अन्तर और उसके कारणों का पता सुगमता से चल जाता है। अतएव विकास स्तर के अनुसार उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करके तदनुरूप उनके पाठ्यक्रमों का चयन किया गया।

‘इ’ पूर्व-विद्यालय-बालक का अध्ययन (Study of Pre-school Child)

जन्मजात शिशु के अध्ययन की प्रणाली २० वीं शताब्दी की नवीनतम देन है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। प्रथम विश्व महायुद्ध की विभीषिका ने समाज के ढाँचे को चकनाचूर कर दिया जन्म से विद्यालय प्रवेश था। शिशुओं के पालन-पोषण की असुविधाओं ने इस तक की आयु का अध्ययन वर्ग की स्थिति बड़ी ही घृणास्पद और दयनीय कर दी थी। फलतः मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। जन्मजात शिशु को प्राणिशास्त्रीय मानव (Biological Man) मानकर अध्ययन प्रारम्भ किया गया। शिशु को औसत मानकर उसके शारीरिक और मानसिक विकास की गतिविधि का, उस पर पड़ने वाले प्राकृतिक, सामाजिक तथा नैतिक आदि कारणों के प्रभावों को दृष्टिगत करते हुए, अध्ययन किया गया। इस प्रकार व्यक्तिगत अन्तर का भी पता चला।

शिशु के अध्ययन में पड़ने वाली रुकावटें

यद्यपि २० वीं शताब्दी में शिशु-विकास के अध्ययन में अभूतपूर्व प्रगति हुई और वांछित सफलता भी मिली, फिर भी सुयोग्य मनोवैज्ञानिकों का अभाव सदैव खटकता रहा। सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि प्रारंभिक मनोवैज्ञानिकों का अभाव विद्यालयों के अध्यापकों और अभिभावकों में यह क्षमता समुचित मात्रा में नहीं है। फलतः मनोवैज्ञानिक पुट के साथ वैज्ञानिक आधार पर शिशुओं का समुचित बिकास नहीं हो पाता। अपने भारत में इसका दायित्व किसी सीमा तक आर्थिक दुर्बलता पर भी है।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में हम कह चुके हैं, समाज का दृष्टिकोण शिशुओं में प्रौढ़ों का दर्शन करना था। बाल-शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य उनमें प्रौढ़ों के गुणों की सृष्टि करना था। इस प्रकार बालकों के स्वच्छन्द व्यक्तित्व की सर्वथा अवहेलना होती थी। शनैः शनैः समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन के साथ-साथ बाल-मनोविज्ञान की प्रगति हुई।

मनोविज्ञान के उदय के समय की बाल-अध्ययन प्रणालियाँ पूर्णतया वैज्ञानिक न होने के कारण उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकीं। फलतः उनसे आशातीत लाभ नहीं उठाया जा सका। इनमें धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार संशोधन होता जा रहा है।

बाल-विकास अध्ययन की सबसे बड़ी कठिनाई—बालकों की अलभ्यता थी। नवजात शिशु पर तो परिवार के बाहर के सदस्य की दृष्टि पड़ना भी असम्भव था। भारत में आज भी शिशुओं को घर की डेहरी से बाहर ले जाने के पूर्व दिठौना लगा

दिया जाता है। सौभाग्यवश सामाजिक कुरीतियों के दमन वंज्ञानिक अध्ययन हेतु के फलस्वरूप अस्पतालों और जच्चा-बच्चा गृहों की शिशुओं की अलभ्यता सहायता से मनोवैज्ञानिकों को शिशुओं के अध्ययन का अवसर अब प्राप्त होने लगा है।

किशोर बालकों के अध्ययन में आज भी यह समस्या ज्यों की त्यों बनी है। कारण यह है कि इस आयु के बालकों से वास्तविक तथ्य नहीं प्राप्त हो पाते। वे बहुत सी बातें जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन में अत्यधिक सहायक और महत्त्वपूर्ण हैं सामाजिक एवं नैतिक संकीर्णतावश प्रकट नहीं करते। कभी-कभी मनोवैज्ञानिक तथ्यों की जटिलता में फँसकर अपना ही मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। अतएव परीक्षण का फल वास्तविकता के परे निकलता है। किशोर बालक भी अध्ययन की ऊहापोह से खीभ जाते हैं। ऐसी स्थिति में सुयोग्य बालकों के न मिलने से अध्ययन सफल और उपयोगी नहीं हो पाता। परन्तु समाज के विकास के साथ-साथ इस ओर भी हमें सफलता प्राप्त होती जा रही है।

बाल-अध्ययन के उद्देश्य और विधियाँ (OBJECTIVES & METHODS OF CHILD PSYCHOLOGY)

पहले की स्थिति

यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि समाज बालकों के प्रति बहुत उदार और दयालु सदा नहीं रहा है। कुछ लोगों की तो यह भी धारणा रही है कि बालकों को बड़े कड़े नियन्त्रण में रखना अत्यन्त आवश्यक है, पहले बालकों के साथ अन्यथा उनका समुचित विकास न हो सकेगा। यद्यपि सदा अमानुषिक व्यवहार कुछ ऐसे माता-पिता रहे हैं जो अपने बालकों के विकास और सुरक्षा पर सदैव बहुत ध्यान देते रहे हैं, परन्तु इसके साथ ही कुछ ऐसे भी रहे हैं, जो उनके दुःख और विकास के सम्बन्ध में आश्चर्य में डालने वाली उदासीनता प्रदर्शित करते रहे हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय इंग्लैण्ड में छोटे-छोटे बालकों से फ़ैक्टरियों में अमानुषिक रूप में परिश्रम कराया जाता था। जिन सँकरी खानों से युवक मजदूर नहीं निकल पाता था, उनसे छोटे-छोटे बालकों को बोझा ढोने पड़ते थे। छोटे-छोटे लड़के और लड़कियों को १२ से १५ घण्टों तक एक दिन में काम करने पड़ते थे। कभी-कभी उन्हें ११ बजे (रात) काम से छुट्टी मिलती थी। १८ वीं और १९ वीं शताब्दी का संयुक्त राज्य अमेरिका भी बालकों के प्रति इसी प्रकार की कड़ाई दिखलाता था। 'सुस्त मस्तिष्क शैतान का घर होता है'—इस कहावत के आधार पर चर्च के कुछ पादरी भी इस नीति का समर्थन करते थे। समाज भी सोचने लगा था कि बेकार लड़के और लड़कियाँ अवगुणों के अभियुक्त हो जायेंगे। अतः इस नीति का विरोध करना आवश्यक नहीं समझा जाता था। बालकों के प्रति इस कड़ाई में स्कूल भी पीछे न थे। स्कूल के अध्यापक बालकों को शारीरिक दण्ड देना आवश्यक समझते थे और अवसर पर बालकों को बड़ी मार मारते थे।

आधुनिक स्थिति

परन्तु आज की स्थिति कुछ और ही है। अब तो वर्तमान युग को 'बालकों

का युग' कहा जाता है। सर्वत्र बालक के व्यक्तित्व के समुचित विकास पर विशेष बल दिया जा रहा है। प्रत्येक उन्नतशील देश में बालकों के हित के लिए समितियाँ स्थापित की जा रही हैं और 'बालक का युग' उनके स्वस्थ विकास के साधनों का अन्वेषण किया जा रहा है। वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर जो बातें प्रकाश में आ रही हैं उनसे पुराना अन्धकार धीरे-धीरे उठ रहा है। बालकों सम्बन्धी प्रकाशित पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ पहले से अधिक लोकप्रिय हो उठी हैं। माता-पिता, अभिभावक, अध्यापक, विद्यार्थी तथा सारा समाज ही अब बाल-मनोविज्ञान को समझने में पहले से अत्यधिक रुचि ले रहा है। सन् १९०४ ई० में स्टैनली हाल (G. Stanley Hall) ने अपने अन्वेषण के फलस्वरूप किशोरावस्था (Adolescence) सम्बन्धी अपनी पुस्तकें प्रकाशित कीं। स्टैनली हाल के इस कार्य से बाल-अध्ययन-आन्दोलन को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला। व्यक्तित्व तथा मानसिक रोगों-सम्बन्धी फ्रायड (Sigmund Freud) के कार्यों और प्रकाशनों से लोगों की आँखें खुलीं और वे मानव विकास में बचपन के महत्त्व को पहले से अधिक समझने लगे। कहना न होगा कि पारश्चात्य देशों में आई हुई इस लहर का प्रभाव हमारे देश में भी अवश्य ही पड़ा है। इसीलिए तो अध्यापकों के शिक्षण में बाल-अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है।

आज के अध्यापक, समाज-सेवी, मनोवैज्ञानिक दाइयाँ तथा बाल-रोग-विशेषज्ञ आदि सभी बाल-स्वभाव को समझने में अत्यधिक रुचि लेने लगे हैं, क्योंकि उनकी सफलता बाल-स्वभाव के ज्ञान पर बहुत हद तक निर्भर करती है। फलतः बाल-मनोविज्ञान अब एक विशेष अध्ययन का विषय माना जाता है। माता-पिता भी अब समझने लगे हैं कि बाल-स्वभाव के ज्ञान से अपने बच्चों का लालन-पालन वे अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। बहुत से माता-पिता अपने बचपन में अनुभव की हुई कठिनाइयों से अपने बच्चों को बचाना चाहते हैं, और जो सुख बचपन में नहीं पा सके उसे वे उन्हें देना चाहते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आज का पूरा सभ्य समाज ही बालक के प्रति अधिक जागरूक हो गया है, क्योंकि अब वह समझने लगा है कि उसकी भावी उन्नति बालकों के वांछित विकास पर ही निर्भर है।

बाल-अध्ययन का महत्त्व (Importance of Child Study)

मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि व्यक्तिगत और सामाजिक अनुकूलन (Personal & Social Adjustment) के लिए बचपन के कुछ प्रथम वर्ष बड़े ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। स्वभाव तथा साधारण प्रवृत्तियों की जड़ बचपन में ही पड़ जाती है। गति तथा भाषा-सम्बन्धी कौशलों के अतिरिक्त विविध संवेगात्मक प्रवृत्तियाँ भी घर तथा समाज के वातावरण द्वारा परिचारित होती हैं। बाद के चरित्र और व्यक्तित्व पर

माता-पिता के व्यवहार का बड़ा गहरा पड़ता है। व्यक्ति का भङ्गी, उत्साही, डरपोक तथा हठी आदि होना बहुत हद तक उसके बचपन की शिक्षा पर निर्भर करता है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के जीवन में बचपन का विशेष महत्व है, और बालक के सफल लालन-पालन के लिये उसका अच्छी तरह अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

बाल-अध्ययन के उद्देश्य (The Aims of Child Study)

१. बाल-विकास के नियन्त्रण हेतु उपायों की ओर संकेत करना—बाल-विकास में समाज की अभूतपूर्व रुचि के कारण मनोवैज्ञानिक बाल-स्वभाव के अध्ययन में अब अधिक वैज्ञानिक होने लगे हैं। अब वे अनुभव करने लगे हैं कि ठीक-ठीक निरीक्षण (Observation) के आधार पर बालक के पालन हेतु अधिक अच्छे सुभाव दिये जा सकते हैं। उनका यह विश्वास है कि मानव विकास के सम्बन्ध में भी 'कारण' और 'कार्य' का बड़ा भारी हाथ रहता है। अतः अब वे यह जानने की चेष्टा में हैं कि व्यक्तित्व के पूर्ण तथा वांछित-विकास के लिये कैसे वातावरण की आवश्यकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बाल-अध्ययन का उद्देश्य—सामाजिक तथा व्यक्तिगत दृष्टि से वांछित विकास के हेतु बालक के व्यवहार को नियन्त्रित करने के उपायों की ओर संकेत करना है। बाल-मनोविज्ञान यह भी बतलाता है कि इन उपायों के कार्यान्वित करने से किस प्रकार के विकास की आशा की जा सकती है।

२. निर्दिष्ट पथ की ओर विकास को नियोजित करना—बाल-व्यवहार के बहुत से ऐसे अङ्ग हैं, जिनकी अभी ठीक से व्यवस्था नहीं की जा सकती। अतः उनके व्यवस्थापन हेतु उपायों के विषय में अभी नहीं सोचा जा सका है। परन्तु अब तक जो कुछ भी ज्ञात है उसके आधार पर बालक-जीवन को सुखी बनाने के क्रम में हम बहुत दूर तक जा सकते हैं। बाल-अध्ययन इन्हीं सब ज्ञात बातों से माता-पिता, अध्यापक तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों को अवगत कराना चाहता है, जिससे बालक के वांछित विकास के लिए समुचित वातावरण का आयोजन किया जा सके। प्रायः यह सभी लोगों का अनुभव है कि छोटे बालक बहुधा कुछ अवांछित व्यवहार दिखलाया करते हैं। कुछ विधियों से इन अवांछित व्यवहारों को रोका जा सकता है। विकास पर आवश्यक नियन्त्रण रखकर उसको एक निर्दिष्ट पथ की ओर नियोजित कर सकना और सम्भव बनाना बाल-अध्ययन का एक उद्देश्य है।

बाल-अध्ययन के कई उद्देश्य—उपर्युक्त दो साधारण उद्देश्यों के अतिरिक्त बाल-अध्ययन के कई अन्य उद्देश्य भी हैं। इन उद्देश्यों की ओर संक्षेप में नीचे संकेत किया जा रहा है :—

१. बालक के वंशानुक्रम-सम्बन्धी बातों तथा संक्रमित गुणों के आधार को समझना (Mechanisms of Inheritance and Bases of Inherited Traits)

२. शिशुओं की प्रतिक्रियाओं के रूप तथा आधार को समझना (Dynamics of Infant Reactions)
३. बाल-व्यवहार में आवश्यक सुधार लाने के लिए उपायों और विधियों को खोजना ।
४. बालक के शारीरिक विकास, स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्यायें, विकास पर घर का प्रभाव तथा संवेगात्मक विकास (Emotional Development) का अध्ययन करना ।
५. बालक की रुचियों के संदर्भ में उसकी बुद्धि, तर्क करने तथा समझने की शक्ति तथा भाषा-विकास का अध्ययन करना ।
६. बालक के सामाजिक, नैतिक, तथा धार्मिक विकास को समझना, जिससे उसका उचित पथ-प्रदर्शन किया जा सके ।
७. बालक के मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक अनुकूलन (Social Adjustment) तथा व्यक्तित्व-विकास-सम्बन्धी बातों को समझना ।

बालक की विभिन्न क्रियायें—उपयुक्त उद्देश्यों से यह न समझ बैठना चाहिए कि बालक विभिन्न क्रियाओं तथा भागों का योग है । वस्तुतः बालक की क्रियायें एक सम्पूर्णता में चलती हैं । बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एक सम्पूर्ण के अंग विकास होता चलता है, न कि शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक अथवा सामाजिक विकास अलग-अलग । केवल सुविधा की दृष्टि से ही एक बार उसके विकास के केवल एक अंग का अध्ययन किया जाता है । एक क्षेत्र में विकास का प्रभाव दूसरे पर बड़ा गहरा पड़ता है । किसी एक भाग का अध्ययन 'सम्पूर्ण' को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए ही किया जाता है ।

बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन आवश्यक—समाज हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन किया जाय, क्योंकि समाज के वे ही भावी नागरिक व निर्माता होते हैं । उनका विकास जितना अच्छा हो सकेगा, उतना ही अच्छा वे समाज के निर्माण में अपना योग दे सकेंगे । योग्य नागरिकों की सहायता से ही विभिन्न मानव सम्बन्धों को सुधारा जा सकता है, समाज से अन्याय को दूर किया जा सकता है और एक नये आदर्श-समाज की स्थापना की जा सकती है । भाग्यवश बालक गतिशील रहकर दिये हुए सुभावों के अनुसार अपने को बनाने में समर्थ होते हैं । तभी तो उनके सुधार की चेष्टा की जाती है और तभी मानव भी उत्तरोत्तर विकास के पथ पर चलता जा रहा है । बाल-मनोवैज्ञानिकों की खोजों और शिक्षा-विशेषज्ञों की धारणाओं से यह विश्वास बँधता है कि सभ्यता सदैव उन्नति के पथ पर अग्रसर रहेगी ।

उपयुक्त विवरण के बाद बाल-अध्ययन में लाई जाने वाली विधियों की ओर यहाँ संकेत कर देना संगत दिखलाई पड़ता है । अतः नीचे हम इन्हीं की ओर आ रहे हैं :—

बाल-अध्ययन की विधियाँ (Methods of Child Study)

बालक के सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातें वैज्ञानिक विधियों के सहारे ही मालूम हो सकती हैं। नीचे कुछ ऐसी विधियों के नाम दिये जा रहे हैं :—

- १—व्यक्तिगत आँकन (Subjective Appraisal)
- २—नियन्त्रित व्यक्तिगत निरीक्षण (Controlled Subjective Observation)
- ३—क्रम-निर्धारणमान् तथा प्रश्नावली विधि (Rating Scale & Questionnaire Technique)
- ४—व्यक्ति-इतिहास विधि (Case History Method)
- ५—मनःशारीरिक अध्ययन (Psycho-physical Studies)
- ६—परीक्षात्मक विधियाँ (Experimental Methods)
- ७—चिकित्सक विधि (The Clinical Method)
- ८—जीवन चरित (Biography)

१. व्यक्तिगत आँकन—व्यक्तिगत आँकन विधि में निरीक्षणकर्त्ता बाल-व्यवहार का अध्ययन अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से करता है। लोग उसकी विधि को वैज्ञानिक कहेंगे अथवा नहीं, इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। पता नहीं, कब से अध्यापक, माता-पिता, कहानीकार तथा अन्य लोग इस विधि का प्रयोग करते आये हैं। बालकों के विषय में जो कुछ कहावतें प्रचलित हैं वे इसी विधि पर बहुधा आधारित रहती हैं। इस विधि में निरीक्षणकर्त्ता अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार बालक के विकास को समझने की चेष्टा करता है और यह निर्णय करता है कि उसकी शिक्षा कैसे संचालित की जाय।

इस विधि से ज्ञात हुई बहुत-सी बातें उपयोगी हो सकती हैं; परन्तु इसमें डर यह है कि माता-पिता अपने बालक की अच्छाइयों पर अधिक भुक्त सकते हैं और बुराइयों की वे अनजाने में अवहेलना कर सकते हैं। यदि निरीक्षणकर्त्ता किसी सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादी हुआ तो अपने निरीक्षण के आधार पर वह अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन की ही चेष्टा करेगा। इस प्रकार इस विधि को प्रोत्साहन देना ठीक नहीं। बचपन-सम्बन्धी बहुत-सी गलत धारणाओं का जन्म इस विधि से भी हुआ है।

यह विधि अनियन्त्रित है। इसलिए इससे प्राप्त फल कभी वैज्ञानिक नहीं हो सकते। इसमें बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों को निरीक्षणकर्त्ता छोड़ सकता है और अपनी रुचि के अनुसार केवल कुछ ही बातों पर विशेष बल दे सकता है। कुछ ही बातों के आधार पर एक साधारण नियम बनाने की निरीक्षणकर्त्ता चेष्टा कर सकता है; परन्तु यह नियम सभी बालकों के विषय में लागू नहीं हो सकता। परन्तु इन सब दोषों के होते हुए

भी यह विधि बाल-सम्बन्धी समस्याओं में लोगों की बड़ी रुचि उत्पन्न कर सकती है और इस रुचि के सहारे कुछ लोग उनके वैज्ञानिक अध्ययन की ओर भुक्त सकते हैं।

२. नियन्त्रित व्यक्तिगत निरीक्षण—नियन्त्रित व्यक्तिगत निरीक्षण व्यक्तिगत आँकन विधि का एक शोधित रूप कहा जा सकता है। इस विधि में निरीक्षणकर्ता बाल-विकास से सम्बन्धित किसी परिस्थिति को पहले से ही चुन लेता है और तत्सम्बन्धी बालक की विभिन्न स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं (Natural Responses) को अङ्कित करता रहता है। प्रतिक्रियाओं को अङ्कित करने के लिए पहले से ही बाल व्यवहार-सम्बन्धी विभिन्न बातों की एक सूची तैयार रहती है। इस सूची को अंग्रेजी में 'चेक लिस्ट' अथवा 'सिम्प्टम शीट' (Check List or Symptom Sheet) कहते हैं। जो व्यवहार देखा जाता है उसके सामने सूची में एक चिह्न लगा दिया जाता है। एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत यह देखने की चेष्टा की जाती है कि बालक ने किसी प्रतिक्रिया-विशेष को कितनी बार दिखलाया। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक किसी निरीक्षण की सत्यता निर्धारित करने की चेष्टा करता है। ऑलसेन और गुडइनफ¹ ने इस विधि का काफी प्रयोग किया है।

३. क्रम-निर्धारण मान् तथा प्रश्नावली विधि—बालक के सम्बन्ध में विविध बातों को जानने के लिए इस विधि का बड़ा प्रयोग किया जाता है। क्रम-निर्धारण-मान् विधि से व्यवहार के उन अंगों को समझने की चेष्टा की जाती है जिन्हें सांख्यकीय विधियों से ठीक-ठीक नहीं मापा जा सकता। इस विधि में कभी-कभी व्यक्तियों को उनकी योग्यता के क्रम में रखकर समझने की चेष्टा की जाती है। जिस बालक में कोई विशिष्ट गुण उच्चतम कोटि का रहता है, उसे सर्वप्रथम रखा जाता है और जो निम्नतम कोटि का होता है उसे सबसे नीचे रखा जाता है और अन्य सब इन दोनों के अन्तर्गत रखे जाते हैं।

क्रम-निर्धारण मान् विधि की सत्यता अब संदिग्ध मानी जाने लगी है। इस विधि² में कुछ कल्पित गुणों को आधार मानकर चला जाता है। निरीक्षणकर्ता किसी गुण के वास्तविक अर्थ के विषय में अपना-अपना मत रख सकते हैं।

प्रश्नावली विधि को स्टैनली हाल (G. Stanley Hall) ने बड़ा प्रोत्साहन दिया है। स्टैनली हाल अमेरिका में बाल अध्ययन आन्दोलन के जन्मदाता कहे जाते हैं। प्रतिमाओं के प्रकार (Types of Imagery) के अध्ययन में गाल्टन (Galton) ने भी इस विधि का प्रयोग किया है। इस शताब्दी के प्रथम २५ वर्षों में इस विधि

¹ Cf. W. C. Olson and F. Goodenough—"The Measurement of Nervous Habits in Normal Children," *Jour. Juv. Research*, 12, 230-235.

² J. E. Aderson—"The Method of Child Psychology," *A Handbook of Child Psychology*. p. 6, (C. Mutchison, Editor) Clark University Press, Worcester, 1933.

का बड़ा प्रयोग किया गया है। इस विधि का प्रयोग बड़ी सतर्कता से करना चाहिए, अन्यथा बड़ी गलतियाँ हो सकती हैं। वस्तुतः इस विधि से कुछ समस्याओं को अधिक सरलता से समझा जा सकता है, परन्तु उन समस्याओं-सम्बन्धी बातें इससे ठीक-ठीक नहीं मालूम हो सकतीं।

४. **व्यक्ति-इतिहास विधि**—इस विधि से किसी व्यक्ति के विषय में बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं। कुटुम्ब-इतिहास, स्कूल के अनुभव, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ तथा शारीरिक और मानसिक विकास-सम्बन्धी विभिन्न बातें इस विधि से अच्छी प्रकार समझी जा सकती हैं। बालक को समझने के लिए जो-जो बातें आवश्यक हो सकती हैं, वे सभी इस विधि द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। पथ-प्रदर्शन के लिए इस विधि का सहारा लेना अनिवार्य सा माना जाता है। पहले इस विधि का प्रयोग समस्या-बालकों के समझने में ही किया जाता था। परन्तु अब साधारण बालकों के अध्ययन के लिए भी यह विधि बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। ब्रुकस¹ के अनुसार तो किसी बालक के अध्ययन में इस विधि के सहारा लिए बिना काम ही नहीं चल सकता। परन्तु इस विधि के आधार पर किसी सामान्य नियम के प्रतिपादन में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है और इसके लिए सैकड़ों बालकों का अध्ययन आवश्यक होगा।

५. **मनः शारीरिक अध्ययन**—इस विधि से बालक के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें मालूम हो जाती हैं। शारीरिक और मानसिक विकास एक-दूसरे से बहुत सम्बन्धित होता है। अतः किसी बालक को पूर्णरूपेण समझने के लिए उसके शरीर और मस्तिष्क—दोनों का अध्ययन करना आवश्यक है।

६. **परीक्षात्मक विधियाँ**—परीक्षात्मक विधियाँ बाल-अध्ययन की विधियों के विकास की चरम सीमा की ओर संकेत करती हैं। इनसे अधिक वैज्ञानिक कोई अन्य विधि नहीं। किसी नियन्त्रित अवस्था में किसी विशेष प्रकार के निरीक्षण को परीक्षण की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे अन्य क्षेत्रों में परीक्षात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार बाल-अध्ययन में उनका सहारा लिया जाता है। इस विधि में नियन्त्रित टोली द्वारा किये गये कार्य को किसी स्वतन्त्र टोली के बालकों के कार्य से तुलना की जाती है और तदनुसार एक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा की जाती है।

७. **चिकित्सक विधि**—इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति के इतिहास, साक्षात् (Interview) तथा परीक्षा आदि के आधार पर बालक के सम्बन्ध में विविध बातों को समझने का चिकित्सक प्रयास करता है। इस प्रकार बालक का अध्ययन करके उसके दोषों को दूर करने के लिए उपाय बताये जाते हैं। यदि इन उपायों से कुछ लाभ नहीं दिखलाई पड़ता तो चिकित्सक विधि एक परीक्षण का रूप ले लेती है। परन्तु किसी प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व बहुत से बालकों का अध्ययन करना आवश्यक होता है।

¹ Brooks F. D. : *Child Psychology*, p. 13, Houghton Mifflin, Boston, 1937.

इसी विधि के अन्तर्गत मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) का उल्लेख किया जा सकता है। इस विधि में चेतना की धारा (Stream of Consciousness) के विश्लेषण के आधार पर अन्तर्निहित भावना-गन्धियों (Underlying Complexes), प्राथमिक प्रेरणाओं (Basic Drives) तथा अवदमित स्मृतियों (Repressed Memories) को समझने की चेष्टा की जाती है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस विधि की वैज्ञानिकता में संदेह किया जा सकता है। इस सन्देह के कई कारण हो सकते हैं। पहले, मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्त अभी तक परीक्षण के आधार पर पूर्णरूपेण नहीं प्रतिपादित किये जा सके हैं। दूसरे, बालक मनोविश्लेषक के निर्देश (Suggestions) को स्वीकार करते हुए मनोविश्लेषण के सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले उत्तर दे सकता है।

८. **जीवन चरित**—बाल अध्ययन के लिए यह बड़ी ही पुरानी विधि है। बालकों के जीवन-चरित्र को लिखने वालों में पेस्तालाञ्जी, द्विपिल, पेण्टन, स्टर्न वैनलनटाइन तथा वाटसन के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। जीवन-चरित विधि वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसमें लेखक के अनुमान, रूचि तथा आवेश का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः इनसे प्राप्त निष्कर्ष की प्रामाणिकता में संदेह करना स्वाभाविक है।

केवल एक ही विधि का सहारा पर्याप्त नहीं—बाल-अध्ययन के सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि किसी एक ही विधि के सहारे बालक को समझने का प्रयास करना ठीक नहीं। बहुत सम्भव है कि किसी एक बालक को समझने के लिए एक से अधिक विधियों की आवश्यकता हो और विभिन्न बालकों के सम्बन्ध में इन विधियों में परिवर्तन करना आवश्यक जान पड़े, क्योंकि सभी बालकों को समान विधि से नहीं समझा जा सकता।

बाल-अध्ययन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक बातें (Factors Necessary for the Achievement of the Purposes of Child Study)

बाल-व्यवहार को नियन्त्रित करके उसका अध्ययन करना तथा उसके भावी विकास की ओर संकेत करना बाल-अध्ययन के प्रधान उद्देश्य कहे जा सकते हैं। परन्तु इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी अच्छी तरह हो सकती है, जब बाल-व्यवहार-सम्बन्धी बातों के संकलन, संगठन, विश्लेषण तथा व्याख्या की विधियाँ वैज्ञानिक हों।

बाल-अध्ययन के विद्यार्थी का किसी विशिष्ट बाल-व्यवहार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने में समर्थ होना चाहिए। उसे बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समझने के लिए उसकी सभी सम्भव परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए। अतः बाल व्यवहार क्षेत्र का उसे अच्छा ज्ञान होना चाहिए। उसे अपने आवेश,

विधि वैज्ञानिक हो

**व्यक्तित्व की मनो-
वैज्ञानिक व्याख्या**

१६ ○ बाल व्यवहार विकास

रुचि तथा प्रवृत्ति से नहीं प्रभावित होना चाहिए। उसे याद रखना है कि प्रत्येक बालक का अपना एक व्यक्तित्व होता है, अतः प्रत्येक बालक का एक व्यक्तित्व की हैसियत से अध्ययन करना है।

बाल-व्यवहार-सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक व्यवहार दिखलाने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। परन्तु यह सत्य है कि उचित व्यवहार दिखलाने की इच्छा रखते हुए भी आवश्यक ज्ञान और समुचित अन्तःप्रेरणा दोनों आवश्यक इस ज्ञान के बिना बालकों के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण कोई मनोवैज्ञानिक नहीं हो सकता। अतः बालकों के प्रति मनो-वैज्ञानिक व्यवहार दिखलाने के लिए आवश्यक ज्ञान और समुचित अन्तः प्रेरणा—दोनों अपेक्षित हैं। जिन बालकों को इस प्रकार अनुप्राणित माता-पिता अथवा अभिभावकों के सम्पर्क में रहने का सौभाग्य मिलता है, वे अवश्य ही बड़े सुखी होते हैं और उनके व्यक्तित्व का विकास अत्यन्त स्वस्थ दिशा की ओर चलता है। स्पष्ट है कि सफल बाल-मनोवैज्ञानिक होने के लिए आवश्यक बातों का ज्ञान तथा उन्हें बालकों के सम्बन्ध में प्रयोग में लाने की सच्ची अनुप्रेरणा आवश्यक है।

बचपन का महत्त्व और बाल-विकास के मूल सिद्धान्त

(IMPORTANCE OF CHILDHOOD & FUNDAMENTAL PRINCIPLES OF CHILD DEVELOPMENT)

बचपन का महत्त्व

(Importance of Childhood)

बचपन के महत्त्व के विषय में जितना कहा जाय, थोड़ा है। प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि व्यक्तिगत और सामाजिक अनुकूलन के लिए जीवन के कुछ प्रथम वर्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। सारे जीवन की नींव सर जार्ज न्युमैन के अनुसार प्रथम पाँच वर्षों में व्यक्ति शरीर और मन; दोनों से बड़ा ही ग्रहणशील (Receptive) होता है। एडलर के अनुसार पूरे जीवन का ढाँचा शैशव में ही पड़ जाता है। अतः बालक के भावी जीवन को बनाने के लिए उसके बचपन पर विशेष ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। फ्राँड का कथन है कि प्रथम पाँच-छः वर्षों में ही बालक अपने भावी जीवन में जो कुछ बनने को रहता है, बन जाता है। प्रारम्भिक बचपन में ही व्यक्ति की प्रवृत्तियों और स्वभाव की नींव पड़ जाती है। गति तथा भाषा-सम्बन्धी कौशलों (Motor & Language Skills) के अतिरिक्त व्यक्ति की संवेगात्मक प्रवृत्तियाँ भी बचपन में प्राप्त कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। भावी चरित्र तथा व्यक्तित्व-सम्बन्धी विभिन्न गुण माता-पिता तथा अभिभावकों द्वारा प्राप्त व्यवहारों पर बहुत हद तक निर्भर करते हैं। बचपन में जिस हद तक बालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उसका उसके भावी सामाजिक अनुकूलन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। बालक डरपोक है, असामाजिक है, अहंकारी है, स्वार्थी है, परोपकारी है, अथवा पूर्णरूपेण व्यवस्थित है—इत्यादि बातें कुटुम्ब तथा निकट वातावरण से प्राप्त व्यवहारों का फल होती हैं; जैसे—जब तक मिट्टी का बर्तन कच्चा और गीला है तब तक उसे चाहे जिस ओर मोड़ा जा सकता है; परन्तु सूख अर्थात् पक जाने पर उसमें परिवर्तन लाना

अन्य क्षेत्रों में भी बालक पहले साधारण प्रतिक्रियायें ही दिखला पाता है। उदाहरणार्थ—भाषा सीखने के क्रम में पहले वह 'गिल-बिल गिल-बिल' ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। ऐसा करने के बाद ही वह कुछ शब्दों को स्पष्टतः उच्चारित कर पाता है। शिशु पहले एक ही नाम से प्रत्येक को पुकारना प्रारम्भ कर देता है, इसके बाद वह प्रत्येक को उसके नाम से पुकारने में समर्थ होता है। पाठक शिशुओं के साथ अपने अनुभव के आधार पर इस कथन की पुष्टि स्वयं कर सकते हैं। कुछ बच्चे प्रारम्भ में सभी को अम्मा, मामा, बाबा अथवा दादा पुकारते हैं। बच्चे के संवेगात्मक व्यवहार के सम्बन्ध में भी यही बात देखी जाती है। पहले वह किसी भी विचित्र वस्तु को देखकर भय प्रदर्शित कर सकता है। कुछ दिन बाद वह किसी विशिष्ट परिस्थिति में ही भय प्रदर्शित करता है और उसके भय-प्रदर्शन का रूप भी विशिष्ट हुआ करता है।

३. क्रमिक विकास (Continuous Development)—विकास की गति गर्भाधान के समय से प्रौढ़ावस्था तक चलती रहती है। यह गति बड़ी धीमी होती है और एक नियम के अनुसार चलती रहती है। शारीरिक और मानसिक—दोनों प्रकार के गुण (Traits) एक क्रम से धीरे-धीरे विकसित होते रहते हैं और किशोरावस्था¹ के अन्त होते-होते वे अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं।

कोई शारीरिक अथवा मानसिक गुण यकायक नहीं विकसित हो उठते। वस्तुतः उनकी नींव बच्चे में जन्म से ही पड़ जाती है। शारीरिक विकास के सम्बन्ध में कुछ लोग यह अनुमान कर सकते हैं कि दाँत प्रथम वर्ष के किसी गुण का यकायक विकास नहीं विकसित होते हैं। परन्तु दाँत की नींव तो गर्भाधान के लगभग पाँचवें महीने से ही पड़ जाती है, यद्यपि जन्म के ५-६ महीने के बाद ही मसूड़े के बाहर वे निकल पाते। इसी प्रकार एक ही दिन अथवा रात में भाषा का विकास बच्चे में नहीं हो जाता। भाषा विकास की नींव में बच्चे की अनेक 'गिल-बिल-गिल-बिल' अर्थात् निरर्थक ध्वनियाँ पड़ी रहती हैं।

शारीरिक और मानसिक विकास की गति सदा समान नहीं रहती, परन्तु अपनी चरम सीमा पर पहुँचने के पूर्व वह कभी रुकती नहीं। इस गति का रुकना किसी विशिष्ट बीमारी, भोजन का अभाव, तथा वातावरण-विकास की गति का न सम्बन्धी कुछ अन्य कारणों से हो सकता है। मानसिक रुकना विकास की तुलना में शारीरिक विकास इन सब कारणों से अधिक प्रभावित होता है। जब किसी समय विकास की गति बाह्य रूप से धीमी जान पड़ती है तो उस समय विकास विशेषतः आन्तरिक

¹ प्रायः किशोरावस्था का काल लगभग १२वें या १३वें वर्ष से २१वें या २२वें वर्ष तक माना जाता है, और बाल-काल सामान्यतः प्रथम १२ या १३ वर्ष तक।

रूप से अधिक चलता रहता है, और यह आन्तरिक रूप आगे चलकर स्वाभाविक बाह्य रूप ले लेता है।

विकास के क्रमिक होने से एक अवस्था के विकास का दूसरी अवस्था के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ—यदि एक अवस्था में पौष्टिक भोजन बच्चे को नहीं दिया जा सका तो उससे शारीरिक और एक अवस्था का दूसरी अवस्था पर प्रभाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बच्चे को इतनी हानि पहुँच सकती है कि विकास की दूसरी अवस्था में उसका शीघ्र ही पूरा करना अत्यन्त कठिन हो जाय। अमनोवैज्ञानिक वातावरण के कारण बच्चे को जो संवेगात्मक धक्के (Emotional Shocks) लग सकते हैं, उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व (Personality) पर सदा के लिए स्थायी हो सकता है। बचपन में यदि कोई अवांछित प्रवृत्तियों (Undesirable Attitudes) को बालक ने अर्जित कर लिया है तो उनसे उसे पूर्णतः मुक्त नहीं किया जा सकता। ऐसी अवांछित प्रवृत्तियों का प्रभाव युवावस्था अथवा बुढ़ापे में भी देखा जाता है।

४. विकास की गति में वैयक्तिक वैभिन्न्य की स्थिरता (Constancy of Individual Differences in Rates of Development)—कुछ लोगों की यह धारणा है कि प्रारम्भ में जो बालक शारीरिक और मानसिक विकास की दृष्टि से औसत से नीचे रहता है, बाद में वह ठीक हो जाता है। विकास की गति में अनुरूपता परन्तु इस धारणा की पुष्टि के लिए कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत बहुत से ऐसे वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि विकास की गति में एक अनुरूपता मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसका विकास पहले द्रुत गति से प्रारम्भ होता है उसका विकास सदैव द्रुत गति से ही चलता रहेगा, और जिसका विकास मन्दगति से प्रारम्भ होता है उसका विकास मन्द गति से ही चलता रहेगा। कुशाग्र, साधारण तथा मन्द बालक की मानसिक उम्र की वक्र रेखा से इस बात की पुष्टि होती है। ऊँचाई की वक्र रेखा से यह ज्ञात होता है कि जो बालक एक उम्र पर लम्बे रहते हैं, वे प्रायः दूसरी उम्र पर भी लम्बे मिलते हैं। जेसेल¹ ने कुशाग्र बालकों के अध्ययन में इस बात की सत्यता सिद्ध की है। प्रतिभाशाली (Genius) व्यक्तियों के अपने अध्ययन में टरमैन² ने देखा कि वे बचपन में भी बड़े प्रतिभाशाली थे।

¹ Gesell. A. : *Infancy & Human Growth*, Macmillan, New York, 1928.

² Terman, L. M. : *Genetic Studies of Genius*, Vol. 2, Stanford University Press, Stanford, 1926.

विकास की गति में वैयक्तिक वैभिन्न्य की स्थिरता के कारण बहुत प्रारम्भ में ही भावी अन्तिम विकास के रूप का अनुमान किया जा सकता है। यह अनुमान तभी सम्भव नहीं होता जब विकास की गति कुछ वातावरण सम्बन्धी कारणों से रुक जाती है और बाद में कारण दूर कर दिये जा सकते हैं।

भावी विकास का अनुमान

५. शरीर के विभिन्न अवयवों के लिए विकास की विभिन्न गति (Different Rates of Development for Different Parts of the Body)—शरीर के सभी अङ्गों का विकास समान गति से नहीं चलता और न विभिन्न मानसिक शक्तियाँ समान गति से विकसित होती हैं। जन्म के शारीरिक और मानसिक विकास के विभिन्न अङ्गों का विकास विभिन्न अङ्गों के विभिन्न अङ्गों का विकास विभिन्न गति से अङ्ग विभिन्न समय में अपनी प्रौढ़ावस्था पर आते हैं। मस्तिष्क (Brain) ६वें तथा ८वें वर्ष के अन्तर्गत अपना अधिकतम तौल पा लेता है, परन्तु बाद में भी उसका सुसंगठन चलता रहता है। हाथ, पैर तथा नाक आदि विभिन्न अवयव किशोरावस्था के अन्तर्गत पूर्णरूपेण विकसित हो जाते हैं। कदाचित् इसीलिए किशोरावस्था में व्यक्ति के व्यवहार में बड़ा अव्यवस्थान दिखलाई पड़ता है। हृदय, यकृत तथा विभिन्न पाचन-सम्बन्धी अंग किशोरावस्था में खूब बढ़ते हैं।

व्यक्ति की खेल-सम्बन्धी रुचियाँ बचपन में ही अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं। सामाजिक तथा स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी रुचियों का विकास किशोर में अपनी चरम सीमा पर रहता है। बचपन में रचनात्मक कल्पनायें बड़ी द्रुत गति से विकसित होती हैं और उनका विकास प्रौढ़ावस्था तक चलता रहता है। तर्क-शक्ति का विकास अनुपाततः कुछ धीमी गति से चलता है। मूर्त्त वस्तुओं-सम्बन्धी स्मृति का विकास अमूर्त्त गुणों की अपेक्षा शीघ्रतर होता है। एक सामान्य व्यक्ति के लिए सामान्य बुद्धि का विकास लगभग १६वें वर्ष में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है।

किस अवस्था में किस प्रकार का विकास द्रुत गति से चल रहा है—इसके ज्ञान से बालकों का पथ-प्रदर्शन अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—

विकास के रूप के ज्ञान से पथ-प्रदर्शन अच्छा

तरुणावस्था (Puberty, nearly at the age of 13, 14 or so) में जब व्यक्ति में विभिन्न प्रकार के शारीरिक और ग्रन्थि-सम्बन्धी परिवर्तन (Glandular Changes) होते हैं, उस समय व्यक्ति के लिए स्कूल और घर का कार्य कुछ हल्का कर देना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत बहुधा माता-पिता और अध्यापक इस समय व्यक्ति से अत्यधिक कार्य की अपेक्षा करते हैं। जब विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है तो बालक को पर्याप्त नींद और विश्राम की

आवश्यकता होती है। बालक की दिनचर्या के आयोजन में इन सब बातों पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए।

६. विकास की दृष्टि से अधिकांश गुणों में सह-सम्बन्ध (A Correlation in most of the traits from the point of view of Development)—कुछ लोगों की यह धारणा है कि जो बालक एक गुण के विकास में तीव्र होता है, वह दूसरे में धीमा होता है और जो एक में धीमा होता है, वह दूसरे में तीव्र बालक के सभी प्रकार के विकास अच्छे प्रकार के विकास अच्छे उलटा ही सत्य होता है। जिस बालक का बौद्धिक विकास औसत से ऊपर होता है वह ऊँचाई, आकार, सामाजिकता तथा विशिष्ट भुकावों के विकास में भी उत्कृष्ट कोटि का दिखलाई पड़ता है। जिस बालक का बौद्धिक विकास औसत से नीचा होता है उसका विकास प्रायः अन्य क्षेत्रों में भी औसत से नीचे होता है। मानसिक दोष वाले व्यक्ति साधारणतः कद में नाटे ही दिखलाई पड़ते हैं। उत्कृष्ट बुद्धि वालों में सभी प्रकार की प्रौढ़ता शीघ्रतर आती है और साधारण बुद्धि वालों में प्रौढ़ता अपेक्षाकृत देर से आती है। इस सम्बन्ध में वातावरण, जलवायु तथा जाति-सम्बन्धी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

७. विकास के अन्तिम रूप का अनुमान सम्भव (Development can be roughly Predicted)—प्रत्येक बालक के विकास की गति में स्थिरता रहती है, इसलिए उसके विकास के भावी रूप का अनुमान किया जा सकता है। ऊपर भी इस ओर संकेत किया जा चुका है। इस प्रकार के अनुमान से सभी प्रकार के विकास के बालक के शिक्षा-अयोजन में बड़ी सहायता मिल सकती है। सम्बन्ध में ठीक-ठीक अनुमान सम्भव नहीं है। परन्तु यह ध्यान रखना है कि सभी प्रकार के मानसिक विकास के सम्बन्ध में ठीक-ठीक अनुमान कर सकना सम्भव नहीं। जिस बालक की योग्यता सामान्य होती है, उसके विषय में बहुत प्रारम्भ में ही अनुमान किया जा सकता है और जो सामान्य कोटि से नीचे होता है, उसके विषय में ठीक-ठीक अनुमान करना कुछ कठिन होता है। मन्द बुद्धि बालकों के सम्बन्ध में तो यह और भी कठिन होता है।

८. प्रत्येक विकासावस्था की अपनी विशिष्टतायें (Each development phase has its own characteristic Traits)—प्रत्येक विकासावस्था में कुछ बातें दूसरी से शीघ्रतर विकसित होती हैं। उदाहरणार्थ—जन्म के पूर्व, (Parental) शैशव (Infancy) तथा पूर्व कैशोर (Early Adolescence) में शारीरिक विकास का अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्व होता है। शैशव में शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करने का विकास उसी प्रकार अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है; जैसे—उत्तरार्द्ध बचपन (Late Childhood : between 10 and 11) में सामाजिकता

(Sociability) और सहकारिता (Co-operativeness), पूर्व कौशोर (Early Adolescence : Near 13, 14 or so) में अव्यवस्थापन तथा आत्मप्रदर्शन हेतु उत्तर-कौशोर (Late Adolescence : 18, 19, 20 or so) की स्फूर्ति (Smartness) की वृद्धि को अधिक महत्व दिया जा सकता है।

६. किसी अवस्था के कल्पित समस्या-व्यवहार, उस अवस्था के सामान्य व्यवहार (The Supposed Problem behaviour of a stage is only a Normal behaviour)—विकास की प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति में कुछ अवांछित-व्यवहार दिखलाई पड़ते हैं। ये व्यवहार उस अवस्था के समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु कुछ माता-पिता स्वतः दूर हो जाना इस सामान्य नियम से अवगत नहीं रहते और बालक के कुछ व्यवहार से बड़े ही घबड़ा जाते हैं और सोचते हैं कि वह एकदम चौपट होता जा रहा है। उदाहरणार्थ—प्राइमरी स्कूल की अवस्था में बालक अपने शरीर और कपड़े को शीघ्र ही गन्दा कर डालता है। इससे कुछ मातायें बड़ी घबड़ाती हैं। वे सोचती हैं कि उनका बच्चा कभी स्वच्छता से रहना न सीख सकेगा। परन्तु कौशोर के आने पर वही बच्चा अपने शरीर तथा कपड़े के सौन्दर्य पर विशेष ध्यान देने लगता है। लड़के और लड़कियाँ—दोनों प्राइमरी स्कूल की अवस्था में बड़े ही ऊधमी दिखलाई पड़ते हैं। उनका ऊधम उनके शारीरिक विकास की द्रुत-गति का परिणाम होता है। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद उनका यह ऊधम बन्द हो जाता है। इसी प्रकार कौशोर के प्रारम्भ में लड़के और लड़कियों के विभिन्न अवयवों में व्यवस्थापन की कमी होती है। वे बहुधा समय-समय पर लड़खड़ा जाते हैं और उनके हाथ से वस्तुएँ गिर जाती हैं। परन्तु ये सब दोष बाद में स्वतः दूर हो जाते हैं।

१०. प्रत्येक व्यक्ति का अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँचना सम्भव (Every individual can reach his maximum stage of Development)—यह सत्य है कि व्यक्तियों के विकास की गति में विभेद पाया जाता है और सबका विकास एक ही गति से नहीं चलता। परन्तु साधारणतः यह देखा जाता है कि कुछ विरले व्यक्तियों को छोड़कर, २१वें वर्ष में विकास अपनी लगभग २१ वें वर्ष पर चरम सीमा पर पहुँच जाता है। यदि किसी व्यक्ति का सभी प्रकार का विकास इस अवधि के अन्तर्गत न हुआ तो उसके मन्द बुद्धि होने में कम सन्देह किया जा सकता है। बुरा स्वास्थ्य, पौष्टिक भोजन का अभाव, कोई विशिष्ट बीमारी, अवांछित वातावरण अथवा कुछ अन्य बातें व्यक्ति के विकास को कुछ अवश्य अवरोधित कर सकती हैं, परन्तु यह अवरोधक केवल अस्थायी ही होता है। कहने का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास की चरम सीमा पर किसी न किसी प्रकार एक दिन पहुँच सकता है।

विकास-सिद्धान्त के ज्ञान से दो लाभ—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विकास के सिद्धान्तों से माता-पिता, अभिभावकों तथा अध्यापकों को अवश्य अवगत होना चाहिए, अन्यथा वे बालकों से अत्यधिक अथवा विकास-सिद्धान्त के ज्ञान से बहुत कम अपेक्षा करने लगेंगे। कहना न होगा कि उनकी आवश्यक प्रेरणा दे सकना ऐसी अपेक्षा का लड़के अथवा लड़कियों के विकास पर सम्भव बड़ा प्रभाव पड़ेगा। यदि उनसे अत्यधिक अपेक्षा की जाती है तो वे आत्महीनता की भावनाग्रन्थि (Inferiority Complex) के अभियुक्त हो सकते हैं और उनमें आत्म-विश्वास की कमी आ सकती है। यदि उनसे कम की ही आशा की जाती है तो उनके सामने यथाशक्ति काम करने की प्रेरणा न रहेगी। ऐसी दशा में फल यह होगा कि उनका विकास कुण्ठित हो जायगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि विकास-सिद्धान्त के ज्ञान से बच्चों को आवश्यक प्रेरणा देना सरल हो सकता है।

विकास-सिद्धान्त के ज्ञान से दूसरा लाभ यह है कि इससे बालक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना अधिक सरल हो सकता है, क्योंकि ऐसी अवस्था में यह समझना कठिन होगा कि कब कौसी प्रेरणा देनी चाहिए और कब कौसी नहीं देनी चाहिए।

शिक्षा की समुचित
व्यवस्था सम्भव

शारीरिक विकास

(PHYSICAL DEVELOPMENT)

शारीरिक-विज्ञान के अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के विकास को इतना महत्व दिया जाता है कि इस विषय पर शरीर-विज्ञान वेत्ताओं ने अनेक पुस्तकें लिख डाली हैं। वस्तुतः शारीरिक विकास एक मानसिक विकास से ऐसा विषय है जो बाल-विकास के क्षेत्र में प्रत्यक्षतः नहीं घनिष्ठ सम्बन्ध आना चाहिए। परन्तु मानसिक और शारीरिक विकास में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि शारीरिक विकास के समुचित ज्ञान बिना बाल-व्यवहार-सम्बन्धी विभिन्न बातों समझना अत्यन्त कठिन है। इस अध्याय में शारीरिक विकास सम्बन्धी केवल उन्हीं बातों पर संक्षेप में विचार किया जायगा जिनका मानसिक विकास से सीधा सम्बन्ध होता है।

शारीरिक विकास का साधारण रूप वंशानुक्रम (Heredity) द्वारा निर्धारित होता है और वातावरण (Environment) द्वारा उसमें विभिन्न प्रकार का सुधार आना सम्भव होता है। शारीरिक विकास इतने स्वाभाविक रूप से चलता रहता है कि उस पर हम कदाचित् ही कभी विशेष ध्यान देते हैं। हम यह कभी नहीं सोच पाते कि हमारे जीवन-काल का लगभग तृतीयांश शारीरिक विकास में चला जाता है। विगत ४० वर्षों में शारीरिक विकास तथा उसके सिद्धान्तों के विषय से बड़े अन्वेषण किये गये हैं और उनसे बड़ी नई-नई बातें प्रकाश में आई हैं। इन नई-नई बातों के समुचित ज्ञान बिना माता-पिता और अध्यापक बालकों के पथ-प्रदर्शन में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सकते। परन्तु इस अध्याय का तात्पर्य इन विषय अन्वेषणों के फल से पाठक को आश्चर्य-चकित नहीं करना है, वरन् बालक के मानसिक और व्यक्तित्व-विकास के सम्बन्ध में शारीरिक विकास के महत्व पर थोड़ा प्रकाश डालना है।

शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार का सम्बन्ध (Two Types of Relationship between Physical and Mental Development)

शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार के सम्बन्ध का उल्लेख किया जा सकता है। वे प्रकार ये हैं :—

१—मानसिक विकास के कई अंग शारीरिक विकास पर स्वभावतः निर्भर करते हैं।

२—किसी शारीरिक अंग के कुण्ठित विकास से मानसिक विकास केवल अवरोधित ही नहीं होता, वरन् उसके फलस्वरूप बालक में कुछ 'अवांछित असामान्य व्यवहार' (Undesirable abnormal behaviour) भी देखे जा सकते हैं।

इन दोनों प्रकार के तात्पर्य की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

साधारण शारीरिक विकास—साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि शारीरिक और मानसिक विकास एक-दूसरे के विपरीत दिशा पर चलते हैं; अर्थात् यदि कोई व्यक्ति शरीर के हृष्ट-पुष्ट है तो वह प्रायः अति मानसिक विकास से साधारण अथवा मन्द बुद्धि (Of average intelligence, or mentally backward) का होता है और जो उत्कृष्ट बुद्धि का होता है, उसका शारीरिक विकास अच्छा नहीं होता है। परन्तु इस धारणा के समर्थन में कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत, बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि बचपन में शारीरिक और मानसिक विकास में सहसम्बन्ध होता है; अर्थात् अच्छे शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास भी प्रायः उतना ही अच्छा चलता है। प्रतिभाशाली (Genius) व्यक्तियों-सम्बन्धी अपने अध्ययन में टरमैन¹ ने यह देखा कि मन्द मानसिक विकाम वाले बालकों का शारीरिक विकास भी मन्द गति से चलता है।

बालक में संवेगात्मकता (Emotionality) के विकास का उसमें दाँत आने से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। तभी तो ६ महीने से २½ वर्ष की उम्र के अन्तर्गत दाँतों के आने के साथ बालक विभिन्न प्रकार का संवेगात्मक व्यवहार दिखलाता है। पाठक ने यह देखा होगा कि दाँत आने के समय बालक कुछ अस्वस्थ दिखाई पड़ता है और वह बड़ा चिड़चिड़ा स्वभाव का हो जाता है। तरुणावस्था में भी व्यक्ति में 'स्नायविक निर्बलता' (Nervousness) तथा संवेगात्मता दिखलाई पड़ती है। यह भी उस समय शरीर में होने वाले परिवर्तन के

¹ Terman : *Genetic Studies of Genius*, Vol. I, Stanford University Press, Stanford, 1925.

पहली विधि अधिक प्रामाणिक है। इस प्रकार विकास-सम्बन्धी निष्कर्ष अधिक प्रामाणिक होता है। शटलवर्थ¹ ने इस विधि की श्रेष्ठता सिद्ध की है। उसने देखा कि १२ वर्ष तक २४८ व्यक्तियों के बार-बार परीक्षण करने से जो निष्कर्ष निकलता है, उसकी प्रामाणिकता दूसरी विधि से २,७०,००० व्यक्तियों पर परीक्षण से प्राप्त निष्कर्ष के समान थी। अतः पहली विधि अधिक प्रामाणिक निष्कर्ष देती है। इससे वैयक्तिक वैभिन्य को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है और विकास की सामान्य गति का भी इससे अच्छा संकेत मिलता है।

दूसरी विधि से किसी समूह, जाति, जनसंख्या तथा स्त्री अथवा पुरुष वर्ग के विकास के साधारण रुख का पता लगाया जा सकता है। पहली विधि से विभिन्न काल में अपने ही विकास से व्यक्ति के साधारण विकास का पहली विधि द्वारा प्राप्त निष्कर्ष रुख समझना सम्भव होता है। इस प्रकार उसके समूह-विशेष से भी उसकी तुलना की जा सकती है।² पहली विधि के अनुसार शारीरिक विकास के अध्ययन से यह पता चलता है कि विकास की गति एक चक्र के अनुसार चलती है। इस चक्र-गति में कभी विकास की द्रुत चाल से चलता है और कभी उसकी चाल धीमी जान पड़ती है। पहली विधि के अनुसार अपने १२ वर्ष के हारवर्ड ग्रोथ स्टडी³ के फलस्वरूप रॉथनी⁴ का कथन है कि यह जोरदार शब्दों में कहा सकता है कि जन्म से प्रथम दो वर्ष तक विकास बड़ी ही द्रुत गति से चलता है और तरुणावस्था आने के तीन वर्ष पहले तक विकास की गति चलती रहती है, पर प्रथम दो वर्ष के काल की तरह विकास-गति तीव्र नहीं होती, इसके बाद तरुणावस्था तक पहुँचने के लिए इसकी गति फिर बड़ी तीव्र हो जाती है। परन्तु १७ वें और १९ वें वर्ष के बीच में इसकी गति कुछ धीमी हो जाती है। लड़के और लड़कियों—दोनों की विकास-गति प्रायः समानान्तर चलती है, परन्तु किशोरावस्था के पास दोनों की गतियों में भेद आ जाता है।

¹ Shuttleworth, F. K.—“Sexual Maturation and the Physical Growth of girls age six to nineteen”, *Monogr. Soc. Res. Child Development* : 2. No. 5, 1937.

² Harold, E. Jones—“Resources for the Consultant”; *Journal of Consulting Psychology*, 3 : 157-159, 1939.

³ Dearborn, E. W. F. and Rothney, J. W. M.—“Predicting the Child's Development,” *Sci-Art Publishers, Cambridge (Mass)*, 1941.

⁴ Rothney, J. W. M.—“Recent Findings in the Study of the Physical Growth of Children,” : *Journal of Educational Research*, 35 : 161-182.



हली विधि के अनुसार अपने अध्ययन के आधार पर कोर्टिस¹ ने विकास की अधो-सूचित चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है :—

१—जन्म से पूर्ण (Parental) गर्भाशय में ।

२—प्रथम ५ या ६ वर्षों तक शैशव (Infancy) । इस अवस्था में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील हो जाती हैं और बच्चा रेंगना, चलना और बात करना सीख लेता है ।

३—लगभग ५ वर्ष से १२ वर्ष तक बचपन (Childhood) । इस काल में स्थायी दाँत आ जाते हैं । बच्चा पढ़ना, लिखना और कुछ हद तक अपनी देख-रेख करना सीख लेता है । इस प्रकार के विकास के कारण व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है ।

४—साधारणतः १२ से १८ वर्ष तक केशोर (Adolescence) । इस काल में जननेन्द्रियों का पूर्ण विकास हो जाता है । इस विकास से व्यक्ति में संवेगात्मक, सामाजिक तथा अन्य व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुणों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आते हैं ।

कोर्टिस के अनुसार इन विविध अवस्थाओं का ऊँचाई, तौल, हड्डियों, बुद्धि, ज्ञान प्राप्ति, खेल में रुचि तथा सामाजिक क्रियाशीलतायें आदि के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

विकास चक्र (Growth Cycles)—विकास का रूप सदा किसी एक नियम के अनुसार नहीं चलता; अर्थात् बालक की तौल वर्ष भर में किसी निश्चित रूप में नहीं बढ़ती । किसी वर्ष अधिक बढ़ती है और किसी वर्ष कम । वस्तुतः विकास का एक चक्र अथवा लहर (Wave) होती है । यदि विकास की गति सदा एक-सा नहीं किसी समय तीव्र हुई तो बाद में वह अवश्य कुछ धीमी पड़ जाती है, क्योंकि सुसंगठन के लिए अवयवों विशेष को कुछ समय की आवश्यकता होती है । मेरिडिथ² ने १२४३ बालकों के अध्ययन में विकास के चार चक्रों को पाया । उसके अनुसार प्रथम दो वर्ष तक विकास का एक ऐसा काल होता है जब विकास बड़ी ही द्रुत गति से चलता है । दूसरे से ११वें वर्ष तक विकास की गति धीमी रहती है । ११वें से १५ वें वर्ष तक विकास फिर पहले की तरह द्रुत गति से चलता है । फिर १५वें या १६वें से १८ वें वर्ष तक विकास की गति धीमी पड़ जाती है । जैसा ऊपर कहा गया है, विकास-चक्र में बड़ा वैयक्तिक वैभिन्न्य पाया जाता है ।

¹ Courtis, S. A.—“Maturation in Educational Diagnosis,” in Educational Diagnosis, Thirty-Fourth Year Book, National Society for the Study of Education, pp. 177-178, 1935.

² Meredith, H. V.—“The Rhythm of Physical Growth”, *Univ.-la. Stud. Child Welfare*, 11, No. 3; 1935.

शरीर के प्रत्येक अंग के विकास का अपना-अपना नियम होता है। प्रत्येक अंग के द्रुततम विकास का समय भिन्न-भिन्न होता है और प्रत्येक के विकास की चरम सीमा अलग-अलग समय पर पहुँचती है। माँस-पेशियाँ, प्रत्येक अंग के विकास हड्डियाँ, फेफड़े तथा जननेन्द्रियाँ अपने विकास-काल में अपनी का अपना-अपना पूर्वावस्था से बीस गुना बढ़ती हैं। आँखें, मस्तिष्क तथा नियम कुछ अन्य अवयव इतना अधिक नहीं बढ़ते, क्योंकि जन्म के समय वे अपेक्षाकृत अधिक विकसित रहते हैं। उदाहरणार्थ—आँख की पुतलियाँ प्रथम ५ वर्षों में अपने अन्तिम स्वरूप को प्रायः पहुँच जाती हैं। मस्तिष्क प्रथम १० और हृदय प्रथम २० वर्षों में अपने अन्तिम स्वरूप पर आ जाता है। शरीर के ऊपरी अंगों का विकास अपेक्षाकृत शीघ्रता से होता है और वे अपनी परिपक्वावस्था पर जल्दी आते हैं। अतः मस्तिष्क और चेहरा आदि ऊपरी अंग, धड़ तथा हाथ-पैर की अपेक्षा जल्दी बढ़ते हैं।

अध्ययन के आधार पर यह देखा गया है कि जुलाई से जनवरी के अन्दर तौल बहुत बढ़ती है। फरवरी से अप्रैल तक तौल के इस बाढ़ का प्रायः एक-चौथाई ही बढ़ पाता है। मई और जून के महीने में तौल की बाढ़ अन्य महीनों से बहुत कम होती है। ऊँचाई के सम्बन्ध में एक दूसरा ही नियम दिखाई पड़ता है। अप्रैल से अगस्त के अन्दर ऊँचाई सबसे अधिक बढ़ती है। अगस्त से नवम्बर के अन्दर ऊँचाई की बाढ़ कम होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तौल और ऊँचाई की बाढ़ की गति एक-दूसरे के विपरीत चलती है।

तौल की बाढ़

(The Growth of Weight)

जन्म के समय एक सामान्य शिशु की तौल ५ से ८ पौण्ड के अन्तर्गत होती है। साधारणतः जन्म के समय लड़कियाँ लड़कों से हल्की होती हैं। जन्म के बाद प्रथम सप्ताह में शिशु की तौल कुछ घट जाती है, क्योंकि नये प्रथम वर्ष में प्रकार के भोजन तथा वातावरण के प्रति व्यवस्थित होने में उसे कुछ समय लगता है। प्रथम महीने के अन्त तक शिशु अपना खोया हुआ तौल पाकर उसमें कुछ बाढ़ भी दिखलाता है। चौथे महीने के लगभग जन्म से तौल दुगुनी बढ़ जाती है; अर्थात् इस समय शिशु की तौल १४ पौण्ड ने लगभग होनी चाहिये। आठवें महीने पर शिशु की सामान्य तौल १६ से १९ पौण्ड के अन्तर्गत होती है। जिन शिशुओं को माँ का दूध पीने को नहीं मिलता, उनकी तौल प्रथम आठ महीने में सामान्यतः कुछ कम होती है। प्रथम वर्ष के अन्त में उसकी तौल जन्म से लगभग तिगुनी अर्थात् २१ पौण्ड, सामान्यतः होनी चाहिए। इस प्रकार प्रथम वर्ष के अन्तिम चार महीनों में जो तौल में विशेष बाढ़ नहीं होती, उसका कारण

यह है कि इस समय शिशु अपनी जाग्रतावस्था को अधिकांशतः रेंगने तथा चलने आदि सीखने में देता है और इस शारीरिक परिश्रम से उसकी मांसपेशियों की मोटाई अनुपात की दृष्टि से पहले से कुछ कम हो जाती है।

दूसरे और तीसरे वर्ष के अन्तर्गत सामान्यतः प्रति वर्ष ३ से ५ पौण्ड के अन्तर्गत तौल में बाढ़ होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो वर्ष के एक शिशु को २५, और तीन वर्ष वाले को २९ या ३० पौंड का होना चाहिये। जन्म के समय जो शिशु साधारणतः तौल में अधिक होते हैं, वे प्रथम तीन वर्ष के अन्तर्गत तौल में सामान्यतः कुछ अधिक होते हैं।

छः वर्ष की उम्र पर बच्चे की तौल जन्म से पचगुनी अर्थात् ३५ और ४० पौंड के अन्तर्गत होनी चाहिए। ६वें या १०वें वर्ष के प्रारम्भ से लड़कियों की तौल में बाढ़ की गति द्रुत हो जाती है और १२ वें वर्ष पर गति अपनी द्रुतता की चरम सीमा पर पहुँच जाती है, और इस समय प्रति वर्ष लगभग १४ पौंड की बाढ़ उसमें होती है। वान डाइक^१ अपने अध्ययन ने आधार पर इस बात की पुष्टि करते हैं।

लड़कों में तौल की सबसे अधिक बाढ़ लगभग १४ वर्ष में आती है और उनमें प्रायः १५ पौंड प्रति वर्ष के हिसाब से बाढ़ होती है। १४ वर्ष के बालक की औसत तौल लगभग ९५.४ पौण्ड और १६ वर्ष के होने पर उसकी औसत तौल ११६.७ पौण्ड होती है। किशोरावस्था के अन्तिम वर्षों में जो बाढ़ होती है, वह मांसपेशियों तथा अस्थि-पञ्जर के विकास पर निर्भर करती है।

११वें वर्ष से १४वें वर्ष तक के काल को छोड़कर अन्य समय लड़के— लड़कियों से प्रायः तौल में अधिक होते हैं। इस काल में लड़कियों की तौल में अत्यधिक बाढ़ उनमें तरुणावस्था के आगमन के कारण होती है। हॉलिङ्गवर्थ^२ के अनुसार अधिक बुद्धिमान बालक अपनी ऊँचाई के हिसाब से अन्य बालकों से तौल में अधिक होते हैं।

ऊँचाई की बाढ़

(Growth of Height)

जन्म के समय शिशु की ऊँचाई लगभग १९ या २० इञ्च रहती है। वंशानुक्रम, स्त्री या पुरुष-भेद तथा किसी जाति विशेष के कारण इस औसत ऊँचाई से जन्म

^१ Van Dyke G. E.—“The Effect of the Advent of Puberty on the Growth in Height and Weight of Girls.” : *School Review*, 38, pp. 211-221, 1930.

^२ Hollingworth, L. S. : *Gifted Children, Their Nature & Nurture*, Macmillan, New York, 1926.

के समय शिशु की ऊँचाई कुछ अधिक या कम हो सकती है। प्रथम दो वर्षों में ऊँचाई बहुत बढ़ती है। प्रथम चार महीने में शिशु लगभग २ $\frac{1}{2}$ या ३ $\frac{1}{2}$ इञ्च बढ़ जाता है और २२ या २३ इञ्च का हो जाता है। आठ महीने पर उसकी ऊँचाई २५ या २७ इञ्च के करीब होनी चाहिए। एक वर्ष पर उसकी औसत ऊँचाई २७ और २९ इञ्च के अन्तर्गत आती है। दूसरे वर्ष में उसकी ऊँचाई लगभग ४ इञ्च बढ़ जाती है। तीसरे से छठे वर्ष में ऊँचाई में बाढ़ की गति इतनी द्रुत नहीं रहती। इस काल में प्रति वर्ष लगभग ३ इञ्च लम्बाई बढ़ती है। इस प्रकार ६ वर्ष की अवस्था पर बच्चे की उम्र बचपन से लगभग दूनी अर्थात् ४० इञ्च हो जाती है।

तरुणावस्था आने के पूर्व, अर्थात् १०वें और १२वें वर्ष के अन्तर्गत ऊँचाई की बाढ़ कम होती है, परन्तु यह बाढ़ नियमतः चलती रहती है। १२ वर्ष की अवस्था में बच्चा जन्म से २ $\frac{3}{4}$ गुना ऊँचाई में बढ़ जाता है, अर्थात् वह ५५ इञ्च के लगभग हो जाता है। १० से १४ वर्ष की उम्र में लड़कियों का, और १२ से १४ वर्ष की उम्र में लड़कों का सभी दृष्टि से शारीरिक विकास बड़ी द्रुत-गति से चलता है। इसके बाद १८ या २० वर्ष तक विकास बड़ी धीमी गति से चलता है। इसी समय ऊँचाई की अन्तिम सीमा पहुँच जाती है। साइमन्स¹ का कहना है कि शैशव अथवा पूर्व केशोर में भावी ऊँचाई का अनुमान करना अत्यन्त कठिन है। उसने देखा कि लड़के १५वें अथवा २०वें वर्ष में प्रौढ़ व्यक्ति की ऊँचाई पा सकते हैं, और लड़कियाँ १४वें या १८वें वर्ष में अपनी अन्तिम ऊँचाई पा सकती हैं। लड़के या लड़कियाँ कितने लम्बे होंगे, यह प्रायः उनके वंशानुक्रम पर निर्भर करता है। तथापि एक पुरुष की औसत ऊँचाई ६६ इञ्च और स्त्री की ६० इञ्च मानी जा सकती है।

जन्म से लगभग २१ वर्ष तक लड़के, लड़कियों से प्रायः लम्बे होते हैं। १२वें वर्ष में लड़कियाँ, लड़कों से कुछ अधिक ऊँची हो जाती हैं। १५ वर्ष की अवस्था में प्रायः दोनों समान ऊँचाई के हो जाते हैं। इसके बाद लड़के, लड़कियों से ऊँचाई में बढ़ जाते हैं और विकास-काल में सदा बढ़े ही रहते हैं। जो बालक केशोर के पूर्व ही औसत ऊँचाई से लम्बे लगते हैं वे प्रौढ़ावस्था में भी औसत से ऊँचे होते हैं, और जो केशोर के पूर्व छोटे कद के जान पड़ते हैं वे प्रौढ़ावस्था में भी छोटे कद के होते हैं। इस प्रकार केशोर के पूर्व और उत्तर अवस्था की ऊँचाई में एक निश्चय सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। जो लड़कियाँ केशोर में शीघ्र आ जाती हैं, वे

¹ Simmons K.—“The Brush Foundation Study of Child Growth & Development,” II. (Physical Growth & Development), *Monogr. Soc. Res., Child Development*, 2. No. 5, 1944.

अपेक्षाकृत शीघ्रतर अपनी प्रौढ़ावस्था पर पहुँचती हैं। जो लड़कियाँ १३ वर्ष की उम्र के पहले ही रजस्वला हो जाती हैं, वह १३ वर्ष के बाद रजस्वला होने वाली लड़कियों से लम्बाई में प्रायः १० वर्ष से १४वें वर्ष तक ऊँची रहती हैं।

बच्चे की ऊँचाई पर जाति (Race) अथवा वंशानुक्रम का काफी प्रभाव पड़ता है। महाराष्ट्री बालकों की औसत ऊँचाई प्रायः कम होती है और पञ्जाबी बालकों की औसत ऊँचाई अधिक होती है। ऐसा जाति-मिश्रण जाति, वंशानुक्रम तथा तथा वंशानुक्रमीय गुणों के कारण ही होता है। इसी प्रकार सामाजिक-आर्थिक उत्तर योरुपीय प्रदेशों के माता-पिता के बच्चे दक्षिणी योरुप-स्थिति का प्रभाव प्रदेशीय माता-पिता के बच्चे से कुछ अधिक लम्बे होते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का भी प्रभाव पड़ता ही है।

अतः गरीब घरों के बच्चों की औसत ऊँचाई अच्छे घरों के बच्चों से कुछ कम होती है। मजदूर-वर्ग के बच्चे प्रायः व्यावसायिक वर्ग के बच्चों से दुर्बल और छोटे कद के होते हैं। विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति से आये हुए बालकों की ऊँचाई की तुलना में मेरिडिथ ने देखा कि मजदूर वर्ग के बच्चे व्यावसायिक वर्ग के बच्चों से ऊँचाई में लगभग $\frac{2}{3}$ इञ्च कम थे।

प्रारम्भिक दिनों के अत्यधिक पौष्टिक भोजन का भी ऊँचाई और तौल की वाढ़ पर प्रभाव पड़ता है। वाडल्स ने अपने अन्वेषण में देखा कि हारवर्ड के विद्यार्थियों की वर्तमान पीढ़ी अपने पिता की अपेक्षाकृत $1\frac{1}{2}$ इञ्च अधिक लम्बी और १० पौण्ड अधिक तौल में है। चार पूर्वीय कॉलेजों के विद्यार्थी अपने पिता से १'१ इञ्च अधिक लम्बे और ३'९ पौण्ड अधिक तौल में थे। मेरिडिथ¹ के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका के आजकल के बालक आज से ५० वर्ष पूर्व वाले बालकों से ६ से ८ प्रतिशत अधिक लम्बे होते हैं। कहना न होगा कि यह अन्तर पहले से रहन-सहन से उच्चतर हो जाने के कारण है।

ऊँचाई और बुद्धि में परस्पर-सम्बन्ध को समझाने के लिए हॉलिङ्गवर्थ² ने ९ से ११ वर्ष की उम्र वाले बालकों पर अन्वेषण किया। इन बालकों की बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient or I. Q. Scores). ऊँचाई और बुद्धि सम्बन्धी गुणक १३५ से १९० के अन्तर्गत थे। उसने इन, में सम्बन्ध बालकों की ९० से ११० बुद्धि-लब्धि-गुणक वाले बालकों से तुलना की। उसने इन बालकों की तुलना एक तीसरे समूह से भी की, जिसकी बुद्धि-लब्धि-गुणक ६५ के नीचे था। इन तीनों समूहों के

¹ Meredith, H. V. : *Stature & Weight of Children of the United States*; Amer. Jr. Dis, Child, 62, pp. 909-932, 1941.

² Hollingworth L. S. : *Gifted Children, Their Nature & Nurture*; Macmillan, New York, 1926.

बालकों की औसत ऊँचाई क्रमशः ५२'६, ५१'२ तथा ४६'६ इञ्च आई। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि बुद्धि और ऊँचाई में एक सम्बन्ध है; अर्थात् अधिक बुद्धि वाले बालक मन्द बुद्धि की अपेक्षा लम्बे होते हैं। काज़¹ के अन्वेषण से भी हॉलिंगवर्थ के उपर्युक्त निष्कर्ष का समर्थन होता है। उसने देखा कि 'अति प्रतिभाशाली' (Very Superior) लड़कियाँ 'प्रतिभाशाली' (Superior) लड़कियों से, और 'प्रतिभाशाली' लड़कियाँ, 'साधारण' (Average) लड़कियों से तौल और ऊँचाई में अधिक होती हैं।

विभिन्न अवयवों के विकास में परस्पर सम्बन्ध

(Physical Proportions in the Development of Various Organs)

जन्म के समय शिशु के विभिन्न अवयवों में जो सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्ध प्रौढ़ावस्था पर नहीं रह जाता; उदाहरणार्थ—जन्म के समय सिर अन्य अवयवों की तुलना में अनुपाततः अधिक बड़ा लगता है। इस अनुपात सभी अवयवों का विकास समान गति से नहीं है। विकास के क्रम में विभिन्न अवयव-सम्बन्धी अनुपात शीघ्रातिशीघ्र पाने के लिए प्रकृति की ऐसी व्यवस्था है कि कोई अवयव शीघ्र बढ़ जाता है और किसी का विकास बड़े ही धीरे-धीरे होता है। अतः कोई अवयव पहले परिपक्वावस्था पर आ जाता है और कुछ बाद में आता है। परन्तु १७-१८ वर्ष के लगभग विभिन्न अवयव अपने समुचित अनुपात में प्रायः आ जाते हैं। फलतः तब व्यक्ति प्रौढ़ (Adult) की तरह लगता है।

सिर—ऊपर हम कह चुके हैं कि जन्म के समय सिर अन्य अवयवों की अपेक्षा अधिक बड़ा लगता है। अतः जन्म के बाद इसका विकास कम होता है, क्योंकि इसे कम ही बढ़ना रहता है। जन्म के समय सिर की तौल पूरे शरीर की तौल का २२ प्रतिशत होती है। जन्म के समय अनुपाततः बड़ा यदि सिर की तौल का यह अनुपात बना रहे तो प्रौढ़ावस्था पर व्यक्ति का सिर औसतन ८ या ९ इंच लम्बा न होकर लगभग १६ इंच; अर्थात् इतना बड़ा हो जायगा कि वह दैत्य-सा मालूम होगा। प्रौढ़ावस्था तक पहुँचने के क्रम में सिर की लम्बाई जन्म से दुगनी हो जाती है, परन्तु इसका पूरा आकार जन्म से ३३ गुना हो जाता है। व्याँड² का कहना है कि जन्म के समय शरीर के पूरे क्षेत्रफल का २१ प्रतिशत सिर का क्षेत्रफल होता है,

¹ Katz, E. : "The Relationship of I. Q. to Height & Weight from Three to Five Years"; *Genel. Psychol.*, 51, pp. 65-82, 1940.

² Boyd, E. : "The Growth of the Surface Area of the Human Body", Univ. of Minnesota, Institute of Child Welfare Monogr. No. 10, Minneapolis, 1935.

पाँचवें वर्ष में यह प्रतिशत १३, १२वें वर्ष में १० और १८वें वर्ष में केवल ८ रह जाता है।

जन्म के समय सिर की खोपड़ी काफी बड़ी होती है और चेहरे का क्षेत्रफल छोटा होता है। इस समय चेहरे और खोपड़ी में १ : ८ का अनुपात रहता है। पाँच वर्ष की अवस्था पर यह अनुपात १ : ५ का, और प्रौढ़-वस्था पर १ : २.५ का होता है। जन्म से तरुणावस्था तक खोपड़ी का विकास बहुत धीरे-धीरे होता है और तरुणावस्था के बाद इसका विकास नहीं होता। अतः सिर के आकार में जो वृद्धि होती है उसमें चेहरे के विकास का विशेष स्थान होता है। क्योंकि जन्म के समय सिर की परिधि ३ वर्ष वाली परिधि का ३ होती है। ६ वर्ष पर प्रौढ़ आकार का ६० प्रतिशत और १२ वर्ष पर ६५ प्रतिशत सिर हो जाता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में लड़के के सिर का आकार लड़की के सिर से बड़ा होता है।

चेहरा—खोपड़ी का आकार जन्म के समय ही बहुत बड़ा होता है। अतः प्रारम्भ में सिर अन्य अवयवों की तुलना में भद्दा जान पड़ता है। सिर का ऊपरी हिस्सा चेहरे की तुलना में बड़ा दिखलाई देता है। चेहरे के नीचे का हिस्सा शैशव तथा बचपन में दाँतों के न होने अथवा छोटे होने के कारण छोटा होता है। प्रथम ७ वर्ष के अन्दर चेहरे की हड्डियाँ बहुत बढ़ जाती हैं। जब तक स्थाई दाँत नहीं आ जाते तब तक मुँह, दाढ़ी और नीचे का सारा भाग ऊपर के भाग की तुलना में छोटा होता है। परन्तु इस समय तक मस्तिष्क का विकास बड़ी ही द्रुत गति से चलता रहता है। तरुणावस्था के आते-आते माथा चिपटा हो जाता है, होंठ भर जाते हैं और चेहरा गोलाकार के स्थान पर अण्डाकार (Oval) दिखलाई पड़ता है।

चेहरे के अन्य अंगों की अपेक्षा नाक का विकास बड़े बेडौल रूप में चलता है। कुछ प्रथम वर्षों तक नाक बहुत छोटी दिखलाई पड़ती है और चेहरे में चपटी जान पड़ती है। परन्तु नाक की कोमलास्थि (Cartilage) के बढ़ने के साथ नाक बड़ी होने लगती है और इसका स्वरूप भी सुडौल होने लगता है। १३ या १४ वर्ष की अवस्था में नाक का पूर्ण रूपेण विकास हो जाता है और लड़कों की नाक के बाल पहले से बहुत मोटे और मजबूत हो जाते हैं। नाक के इस प्रकार जल्दी प्रौढ़ हो जाने से किशोर थोड़ा चिन्ता करने लगता है और सोचता है कि उसका चेहरा सदा के लिए भद्दा हो गया।

धड़ (Trunk)—यदि बालक का धड़ बेडौल रूप में बढ़ जाता है तो उसका संतुलन बिगड़ जाता है और बैठने, खड़े होने तथा चलने में उसे कठिनाई का अनुभव होता है। अतः इसे ठीक करने की शीघ्र चेष्टा करनी

चाहिए। धड़ और पैर के लम्बा हो जाने से यह अपने आप ठीक हो जाता है और शरीर सुडौल होने लगता है। बेले और डेविस¹ के अनुसार प्रथम वर्षों में शरीर के साधारण आकार में बड़ा परिवर्तन आता है। प्रथम वर्ष में शिशु बड़ा मोटा हो जाता है। इसीलिए तो इस समय तौल में जितनी वृद्धि होती है, उतनी ऊँचाई में नहीं होती। ६ वर्ष की अवस्था पर धड़ लम्बाई और चौड़ाई में जन्म से दुगना हो जाता है। इसके बाद शरीर दुबला होता जाता है और तरुणावस्था के आने पर उसकी चौड़ाई फिर बढ़ने लगती है। छठे वर्ष से किशोरावस्था तक शरीर लगभग ५० प्रतिशत लम्बाई में बढ़ जाता है। प्रौढ़ावस्था पर धड़ जन्म से लगभग २ $\frac{1}{2}$ गुने से कुछ ही कम होता है। किशोरावस्था के आते-आते छाती गहरी और लम्बी हो जाती है। किशोरावस्था में कूल्हे भी खूब बढ़ते हैं।

भुजायें और पैर (Arms and Legs)—पैर की वृद्धि से शरीर पहले से अधिक सुडौल होने लगता है। जन्म के समय अनुपाततः शिशु के पैर जन्म के समय बहुत बहुत ही छोटे होते हैं और भुजायें बहुत बड़ी जान पड़ती हैं, छोटे हाथ और पाँव बहुत छोटे होते हैं। अतः सुडौलपन लाने के लिए विकास की विभिन्न गतियों का आना आवश्यक है।

जन्म से दूसरे वर्ष के अन्दर भुजायें और हाथ ६० से ७५ प्रतिशत के लगभग बढ़ जाती हैं। ८ वर्ष की अवस्था में भुजायें २ वर्ष की अवस्था से ५० प्रतिशत बढ़ जाती हैं। इस समय वे बड़ी ही पतली जान पड़ती हैं और मालूम होता है कि उनमें मांसपेशियों का अधिक विकास नहीं हुआ है। ८ से १६ या १८ वर्ष तक भुजाओं का विकास बड़ी ही धीमी गति से चलता है।

जन्म से दूसरे वर्ष तक पैर ४० प्रतिशत बढ़ जाते हैं। आठवें वर्ष में दूसरे वर्ष की अपेक्षा वे ५० प्रतिशत बढ़ जाते हैं। इस प्रकार भुजाओं की तुलना में पहले पैर का विकास धीमी गति से चलता है। किशोरावस्था में जन्म के समय से पैर चौगुने और प्रौढ़ावस्था पर पँचगुने हो जाते हैं। भुजाओं की तरह पैर भी किशोरावस्था तक पतले रहते हैं। जब लम्बाई का बढ़ना कुछ बन्द हो जाता है तब मांसपेशियों का विकास पहले से अधिक होने लगता है।

नवजात शिशु के हाथ और पाँव बड़े ही छोटे होते हैं। जब तक वे आकार में और बढ़ नहीं जाते और उनमें कुछ अधिक शक्ति नहीं आ जाती, तब तक उनसे कोई काम लेना असम्भव होता है। अतः प्रथम दो वर्षों में हाथ और पाँव उनका विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है। इसके बाद तरुणावस्था तक विकास की गति धीमी रहती है। परन्तु १४

¹ Bayley, N., and Davis, F. C.—“Growth Changes in Bodily Size and Proportions during the First Three Years”, *Biometrika* 27, pp, 26-87, 1935.

वर्ष की अवस्था पर उनकी लम्बाई प्रायः अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। जो लड़के और लड़कियाँ विकास के नियमों से अवगत नहीं रहते उन्हें इससे बड़ा मानसिक क्लेश होता है, क्योंकि उनके अनुसार हाथ और पाँव का बहुत बढ़ जाना सौन्दर्य के विरुद्ध है।

कुछ लड़कियाँ अपने पाँव को छोटा करने के हेतु अथवा उसकी लम्बाई को छिपाने के लिए चुस्त जूते पहनती हैं। कुछ अन्य किशोर अपने हाथ को पीछे रखकर अथवा जेब में छिपाकर उनकी लम्बाई के कारण कल्पित भद्देपन को छिपाने का प्रयास करते हैं।

हड्डियाँ (Bones)

हड्डियों में विकास का तात्पर्य उनके आकार की वृद्धि, संख्या का बढ़ना तथा उनकी रचना में परिपतन का आना है। एक्सरे द्वारा परीक्षा के आधार पर अन्वेषण करके बेले¹ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम उम्र के साथ विकास-वर्ष में हड्डियों का विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है, इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है, उनके विकास की गति में धीरे-धीरे कमी आने लगती है।

भुजाओं और पैर की लम्बी हड्डियाँ तरुणावस्था में विशेष रूप से बढ़ती हैं; परन्तु इसके बाद भी इनका विकास कई वर्षों तक चलता रहता है। तरुणावस्था पर कूल्हे की हड्डियाँ लड़के और लड़कियों—दोनों में बहुत बढ़ जाती हैं। इससे कमर के पास की परिधि काफी बढ़ जाती है। चेहरे की हड्डियों के बढ़ने से किशोर में व्यक्ति के चेहरे के स्वरूप में भी बड़ा परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किशोरावस्था में हड्डियों का विकास पर्याप्त होता है।

हड्डियों की दशा और संख्याएँ—जन्म के समय शरीर में कुल २७० हड्डियाँ होती हैं। १४ वर्ष की अवस्था तक इनकी संख्या ३५० तक पहुँच जाती है। आश्चर्य है कि तरुणावस्था के बाद हड्डियों की संख्या में पहले बढ़ना पर बाद में संख्या का घटना वृद्धि न होकर कमी आ जाती है और प्रौढ़ावस्था के बाद मध्य जीवन में जन्म से भी उनकी संख्या में कमी आ जाती है। और अब शरीर में केवल २०६ हड्डियाँ ही पाई जाती हैं। एक्सरे द्वारा किसी बच्चे के हाथ की हड्डियों की परीक्षा से इस कमी का कुछ अनुमान मिलता है। दो वर्ष की अवस्था में कलाई में दो या तीन हड्डियाँ दिखलाई पड़ती हैं। छः वर्ष पर ६ या ७ हड्डियाँ जान पड़ती हैं और १२ से १५

¹ Bayley, N. : *Studies in the Development of Young Children*; Univ. California Press, Berkeley, 1940.

वर्ष के अन्दर ८ हड्डियाँ मालूम होती हैं। बात यह है कि उम्र के बढ़ने पर अपने विकास के क्रम में कई हड्डियाँ आपस में मिलकर एक हो जाती हैं। फलतः कुछ दिन के बाद उनकी संख्या में कमी हो जाती है।

जन्म के समय हड्डियाँ बड़ी ही कोमल और लचीली होती हैं। शरीर के कुछ स्थान में कुछ ऐसी भिल्लियाँ होती हैं जो बाद में हड्डियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। अस्थिपञ्जर के कुछ भागों में कुछ ऐसी हड्डियाँ होती हैं जो बाद में मिलकर एक हो जाती हैं। अठारह महीने की अवस्था तक लगभग ५० प्रतिशत शिशुओं के कपाल की एक-दूसरे से अलग हड्डियाँ आपस में जुट जाती हैं और दो वर्ष की अवस्था तक तो प्रायः सभी की जुट जाती हैं। लड़कियों की ये हड्डियाँ बालकों से शीघ्रतर जुटती हैं। जन्म के समय रीढ़ बड़ी ही कोमल होती है और उम्र बढ़ी सरलता से अव्यवस्थित किया जा सकता है, क्योंकि वह कोमलास्थियों से निर्मित होती है। प्रथम तीन वर्ष के अन्दर रीढ़ ही हड्डियों का प्रायः $\frac{1}{2}$ या $\frac{2}{3}$ भाग विकसित हो जाता है।

बच्चों की हड्डियाँ बड़ी ही कोमल होती हैं। अतः बिना किसी विशेष कठिनाई के उन्हें किसी भी आसन में व्यवस्थित किया जा सकता है; उदाहरणार्थ—
 उनके मस्तक को घुटने से छुवाया जा सकता है, अथवा
बच्चे की हड्डियों में दोष आना कठिन नहीं
 पाँव को हलासन के क्रम में मस्तक से छुवाना कठिन न होगा। परन्तु लचीली होने के कारण समुचित सावधानी के अभाव में हड्डियों में दोष भी आ सकते हैं। यदि शिशु को बहुत देर तक पीठ के बल पर नित्य सुलाया जाय तो सिर का आकार चिपटा हो सकता है, या यदि वह बहुत देर तक नित्य पेट के बल सुलाया जाता है तो छाती चिपटी हो सकती है। बचपन में छोटे जूतों के पहनने से पाँव छोटा हो सकता है अथवा उसका आकार बिगड़ सकता है। स्कूल की डेस्क पर झुक कर बैठते रहने से छोटे बालक की रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो सकती है।

हड्डी के बनने अथवा दृढ़ होने की क्रिया (Ossification)—ऊपर यह कहा जा चुका है कि बाद में चलकर कुछ भिल्लियाँ हड्डियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया जन्म के बाद प्रथम वर्ष से प्रारम्भ होती है और तरुणावस्था के कुछ ही पूर्व बन्द हो जाती है। कैल्शियम (Calcium), फासफोरस (Phosphorus) तथा अन्य खनिज पदार्थों (Mineral Salts) की सहायता से हड्डियाँ बनतीं अथवा दृढ़ होती हैं। हड्डी बनने की क्रिया में हड्डी में ६० प्रतिशत अधिक विभिन्न खनिज पदार्थ आ जाते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों में हड्डियों के बनने अथवा दृढ़ होने की क्रिया विभिन्न गति से चलती है। लड़कियों में यह क्रिया लड़कों से दो वर्ष पहले ही समाप्त हो जाती है।

दाँत (Teeth)

बच्चों के दो प्रकार के दाँत होते हैं—अस्थायी अथवा दूध के और स्थायी। इन दोनों प्रकारों के दाँतों में कई विभेद पाये जाते हैं। अस्थायी दाँत संख्या में २० और स्थायी ३२ होते हैं। अस्थायी दाँत स्थायी से छोटे होते हैं। स्थायी और अस्थायी स्थायी दाँत में उत्तमतर तत्त्वों का समावेश रहता है। अतः वे अधिक दिन तक चलते हैं।

दाँत का विकास एक क्रमिक रूप से चलता है। यह क्रम गर्भाशय में पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाता है। अस्थायी दाँतों के आगमन के समय शिशु को बड़ी यातना सहनी पड़ती है, उसे कई दस्त आते हैं, उसकी भूख मारी जाती है और वह बहुत ही चिड़चिड़ा हो जाता है। अस्थायी दाँतों के गिर जाने पर स्थायी दाँत मसूड़ों से ऊपर आ जाते हैं और उनके आने के क्रम में बच्चे को कोई कष्ट नहीं होता। स्थायी दाँतों के आगमन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह होता है कि प्रत्येक स्थायी दाँत यह दिखलाता है कि बालक प्रौढ़ावस्था को अग्रसर हो रहा है और अपने विकास-क्रम के अनुसार वह प्रौढ़ व्यक्तियों के अधिकारों को भी पहले के अधिक समझने लगता है।

अस्थायी दाँत—तीसरे महीने से लेकर १६वें महीने के अन्दर पहला अस्थायी दाँत अवश्य आ जाता है; परन्तु सामान्यतः ६ठे या ८वें महीने में पहला दाँत आ जाता है। नीचे के दाँत ऊपर वालों से पहले आते हैं। ६ठे या ८वें महीने में आना कई बातों पर निर्भर दाँतों के आने का समय साधारण स्वास्थ्य, जन्म के पूर्व और बाद पौष्टिक भोजन, सामाजिक स्थिति, जाति तथा अन्य कुछ बातों पर निर्भर कर सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि लड़कियों में लड़कों से पहले दाँत आते हैं और स्थायी दाँतों को स्थान देने के लिए वे पहले गिर भी जाते हैं।

स्थायी दाँत—अस्थायी दाँतों के आ जाने पर स्थायी दाँत ऊपर आने के क्रम में मसूड़ों के नीचे-नीचे अपनी तैयारी करने लगते हैं। साधारणतः ६ वर्ष की अवस्था में बच्चे को एक या दो स्थायी दाँत आ जाते हैं। आठ वर्ष की उम्र में १० या ११; दस वर्ष पर १४ या १६; बारह वर्ष पर २४ या २६; और तेरह वर्ष पर २७ या २८ दाँत प्रायः आ जाते हैं।

प्रत्येक अवस्था में लड़कियों के स्थायी दाँत लड़कों की अपेक्षा शीघ्रतर आते हैं। अन्तिम चार स्थायी दाँत १७वें और २५वें वर्ष के अन्तर्गत आते हैं। बहुत सम्भव है कि किसी-किसी को वे न भी आयें।

मन्द बुद्धि के बालकों के एक स्कूल से कोहेन और ऐण्डरसन¹ ने २१८ बालकों का यह जानने के लिए अध्ययन किया कि स्थाई दाँतों के आगमन और मानसिक उम्र (Mental Age) में क्या सम्बन्ध होता है। उन्होंने स्थाई दाँत और मानसिक उम्र देखा कि विकास की प्रत्येक अवस्था में मन्द बुद्धि बालक के स्थाई दाँत कम आते हैं और सामान्य बालक के स्थाई दाँत अपेक्षाकृत पहले आते हैं।

पूर्वकाल में दाँतों के आगमन के सम्बन्ध में उम्र का भेद इतना स्पष्ट नहीं था, जितना कि उत्तर-काल में दाँतों के सम्बन्ध में स्पष्ट था। मन्द बुद्धि बालकों में बगल के दाँत (Permanent laterals) कभी-कभी नहीं होते थे; परन्तु सामान्य बालकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं पाई जाती थी।

मांसपेशियाँ (Muscles)

विकास की सभी अवस्था में तौल में वृद्धि चरबी तथा मांसपेशियों के बढ़ने से होती है। बचपन के प्रारम्भ में चरबी की वृद्धि मांसपेशियों की अपेक्षा अधिक होती है। परन्तु १२ से १५ वर्ष के अन्दर लड़कियों में, और १५ से १६ वर्ष के अन्दर लड़कों में मांसपेशियों की वृद्धि विशेष रूप से होती है। शरीर की तौल के अनुपात में मांसपेशियों की तौल प्रौढ़ावस्था के समय द्रुतगति से बढ़ती है, क्योंकि जन्म के समय मांसपेशियों की तौल शरीर के तौल की २३.४ प्रतिशत, आठ वर्ष पर २७.२, पन्द्रह वर्ष पर ३२.६ और सोलह वर्ष पर ४४.२ प्रतिशत हो जाती है। इस प्रकार बचपन में मांसपेशियों का विकास धीमी गति से चलता है और तरुणावस्था के बाद गति द्रुततर हो जाती है।

मांसपेशियों की तौल में वृद्धि होना—तरुणावस्था के आने का एक लक्षण कहा जा सकता है। मांसपेशीय विकास के कारण भुजा तथा पैर के विभिन्न अंगों की परिधियों में बड़ा परिवर्तन आ जाता है। पीठ और कन्धे पर चरबी तथा मांसपेशियों के विकास से घड़ पहले से कुछ मोटी हो जाता है। पहले से अब मांसपेशियाँ मोटी और लम्बी होने लगती हैं। प्रौढ़ावस्था पर वे जन्म से लगभग पँचगुनी मोटी होती हैं। बचपन में मांसपेशियों की रचना में ७२ प्रतिशत पानी तथा २८ प्रतिशत स्थूल पदार्थ होता है और प्रौढ़ावस्था में पानी का प्रतिशत ६४ और

¹ Cohen J. T. and Anderson, J. E.—“Note on the eruption of the permanent teeth in a group of subnormal children, including an observation on the frequency of congenitally missing laterals,” *J. Genet. Psychology*, 39, pp. 279-284, 1931.

स्थूल पदार्थ का ३४ हो जाता है। फलतः मांसपेशियाँ पहले से दृढ़तर हो जाती हैं। परीक्षाओं से यह पता चला है कि इस समय मांसपेशियों की शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

आन्तरिक अवयवों में परिवर्तन

(Changes Occuring in Internal Organs)

यह ध्यान देने की बात है कि बच्चे के आकार और तौल में जो वृद्धि होती है वह चरबी तथा मांसपेशियों के केवल बढ़ने से ही नहीं होती। बचपन में रक्त-संचार (Circulation), पाचन-क्रिया (Digestion) तथा श्वास (Respiration) सम्बन्धी विभिन्न आन्तरिक अवयव भी बहुत बढ़ते हैं। इनके बढ़ने से तौल और आकार में पर्याप्त वृद्धि होती है। नीचे हम संक्षेप में यह देखेंगे कि इन आन्तरिक अवयवों में कब विशेष परिवर्तन आते हैं—

श्वास-सम्बन्धी अवयव—जन्म के समय फेफड़े बड़े छोटे होते हैं, इसीलिए तो जन्म के समय छाती की परिधि सिर की परिधि से छोटी होती हैं। दो वर्ष की अवस्था में सिर और छाती की परिधि प्रायः समान रहती है। १५ वर्ष पर सिर और छाती की परिधि में २ : ३ का अनुपात रहता है और प्रौढ़ावस्था पर यह अनुपात ३ : ५ हो जाता है। १२वें या १३वें वर्ष के लगभग छाती का अन्तिम स्वरूप निश्चित हो जाता है। इसके बाद केवल आकार में ही परिवर्तन होता है।

फेफड़े किशोरावस्था तक फेफड़े तौल और आयतन में बढ़ते रहते हैं। फेफड़े के बढ़ने से श्वास लेने की शक्ति बढ़ जाती है। १७ वर्ष की अवस्था में लड़कियों के फेफड़े पूर्णरूपेण विकसित हो जाते हैं। लड़कों में इसका पूर्ण विकास इसके बहुत दिन बाद होता है।

रक्त-संचार-सम्बन्धी अवयव—जन्म के समय हृदय छाती में ऊपर की ओर होता है और उसकी स्थिति विशेषतः लम्बात्मक दिशा (Horizontal Position) में रहती है। इस समय शरीर की पूरी तौल के अनुपात में जीवन के अन्य समय की अपेक्षा हृदय अधिक भारी और बड़ा होता है। तरुणावस्था के पहले ही शरीर की तुलना में इसकी तौल का अनुपात इतना कम हो जाता है कि ऐसा कम अनुपात जीवन में और कभी नहीं रहता। परन्तु किशोरावस्था में हृदय की तौल पहले से बढ़ जाती है। इस समय हृदय की मांसपेशियाँ आकार और संख्या—दोनों में बढ़ती हैं।

बचपन में धमनियाँ बड़ी होती हैं और हृदय अपेक्षाकृत छोटा होता है। किशोर में रक्तवाहिनी नलिकायें (Blood-Vessels) लम्बाई, मोटाई और क्षेत्रफल—तीनों में बढ़ती है। फलतः बचपन में रक्त-चाप (Blood-Pressure) कम रहता है और तरुणावस्था के प्रारम्भ से धीरे-धीरे बढ़ता है। बचपन में नाड़ी की गति १२० से १४० बार होती है। इसकी तुलना में एक प्रौढ़ व्यक्ति की ७२ के लगभग होती है। किशोर

में हृदय और धमनियों की चौड़ाई में ५ : १ का अनुपात रहता है। इसका फल यह होता है कि हृदय को एक बहुत पतली नली में खून को पम्प करना होता है। इससे हृदय पर कुछ बल पड़ता है और रक्त-चाप पहले से बढ़ जाता है। पूर्व-कैशोर में हृदय तथा रक्त-वाहिनी नलिकाओं में बड़ा परिवर्तन होता है। अतः इस काल में अत्यधिक शारीरिक परिश्रम से सिर-दर्द, हृदय अथवा उसके घड़कन का बढ़ना तथा सिर में चक्कर आदि व्यक्ति में आ सकते हैं। अतः कैशोर में लड़कों और लड़कियों से परिमित रूप में ही शारीरिक परिश्रम करवाना चाहिए।

पाचन-सम्बन्धी अवयव (Digestive Organs)—प्रारम्भ में शिशु का पेट नली के आकार का होता है और उसकी स्थिति तिरछे रूप में होती है। अतः उसकी समाई बहुत ही कम होती है। जन्म के समय पेट में लगभग एक औंस, दो सप्ताह पर २ ३/४ औंस तथा एक महीने पर ३ औंस समा सकता है। तिरछी स्थिति में होने के कारण कुछ वस्तु ले लेने बाद बच्चे का पेट उसे शीघ्र ही बच्चे का पेट खाली भी कर देता है। जब बच्चा दाहिनी करवट लेता रहता है अथवा अर्द्ध सीधे स्थिति में ऊपर उठाया जाता है तो उसका पेट सरलता से खाली हो जाता है। बचपन में पेट शीघ्रतर खाली हो जाता है। किशोर तथा प्रौढ़ व्यक्ति का पेट देर में खाली होता है।

छोटे बच्चे की अँतड़िया बहुत छोटी होती हैं। पाचन-रस बहुत कम मात्रा में निकलते हैं। बच्चे के पाचन-सम्बन्धी सभी अवयव बड़े ही कोमल होते हैं। तरुणावस्था में लगभग वे काफी प्रौढ़ हो जाते हैं। मैके और फाउलर¹ ने कुछ नर्सरी स्कूल के बच्चों के अध्ययन में देखा कि लड़के लड़कियों से अधिक खाते हैं। फलतः उनके प्रवीणता-सम्बन्धी गुणाङ्क (Efficiency Score) लड़कियों से अच्छे आते हैं।

स्नायुमण्डल का विकास

(The Development of Nervous System)

जन्म के पूर्व भी स्नायुमण्डल का विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है और प्रथम तीन या चार वर्ष तक भी यह द्रुत गति चलती रहती है। गर्भाशय में प्रधानतः स्नायु-कोषों (Nerve Cells) की संख्या तथा आकार सम्बन्धी तीन-चार वर्ष तक विकास होता है जन्म के बाद पहले उन स्नायु-कोषों का विकास होता है जो अप्रौढ़ दशा में पड़े रहते हैं। इस क्रम में नये स्नायु-कोषों का बनना कुछ दिनों के लिए रुका रहता है। तीन-चार वर्ष की उम्र के बाद स्नायुमण्डल के विकास की गति पहले से कुछ कम हो जाती है।

मस्तिष्क के विकास का अध्ययन प्रत्यक्षतः नहीं किया जा सकता। इसके

¹ McKay, J. B. and Fowler, M. B.—“Some Sex Differences Observed in a Group of Nursery School Children”, *Child Development*; 12, pp. 75-79, 1941.

विकास का अनुमान मृत व्यक्तियों के मस्तिष्क से अथवा जीवित बच्चों के सिर के बाह्य आकार के माप से कुछ किया जा सकता है। इस प्रकार के माप से यह अनुमान किया जाता है कि जन्म से प्रथम चार वर्ष तक मस्तिष्क का विकास बड़ी द्रुतगति से चलता है। चौथे से षष्ठे वर्ष तक विकास की गति कुछ धीमी पड़ जाती है। इसके बाद गति बड़ी ही धीमी पड़ जाती है और लगभग १६वें वर्ष में इसका विकास एक प्रकार से रुक जाता है। कहा जाता है कि इस अवस्था तक वह अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को पा जाता है।

कुछ प्रथम महीनों तक खोपड़ी की विभिन्न हड्डियाँ, भिल्लियों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं। अतः उनके बढ़ने के लिए काफी स्थान रहता है। जन्म के समय मस्तिष्क की तौल ३५० ग्राम के लगभग रहती है। प्रौढ़ावस्था पर यह तौल १२६० से १४०० ग्राम के बीच आ जाती है। इस प्रकार प्रौढ़ावस्था के तौल की लगभग एक-चौथाई जन्म के समय, नौ महीने में आधा, दूसरे वर्ष तक तीन-चौथाई, चौथे वर्ष तक चार-पँचाई और छठे वर्ष तक नव-साईं तौल मस्तिष्क की होती है। जन्म के समय मस्तिष्क की तौल पूरे शरीर की तौल का $\frac{1}{8}$, दसवें वर्ष में $\frac{1}{4}$ तथा पन्द्रहवें में और प्रौढ़ावस्था में $\frac{1}{8}$ रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि बचपन के प्रथमवर्षों में मस्तिष्क का विकास बड़ी ही द्रुत गति से चलता है। कौशोर में मस्तिष्क का विकास बहुत ही कम होता है, क्योंकि इस समय तक उसकी तौल की प्रौढ़ता आ जाती है; परन्तु बाह्य-रचना (Cortical Tissue) सम्बन्धी इसका विकास कुछ न न कुछ चलता रहता है। आठवें वर्ष तक मस्तिष्क का विकास पूर्ण हो जाता है, परन्तु इससे सम्बन्धित भूरे तत्त्व (Gray Matter) का विकास अभी पूर्णरूपेण नहीं हुआ रहता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मस्तिष्क का अधिकांशतः विकास आन्तरिक होता है, और तौल अथवा आकार की माप से उसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता।

गति विकास

(MOTOR DEVELOPMENT)

गति विकास के अध्ययन का महत्त्व

(The Importance of Study of Motor Development)

बच्चा सर्वप्रथम अपने शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करना सीखता है। शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करने का तात्पर्य—विभिन्न मांसपेशियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। जीवन की साधारण क्रियाओं को चलाते रहने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चा सर्वप्रथम अपनी विविध मांसपेशियों पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर ले। भोजन और जल की आवश्यकता की पूर्ति, मल-मूत्र को निकालने की क्रिया तथा हानिकर परिस्थितियों से बचने के लिए किसी कौशल-विशेष की आवश्यकता नहीं होती। मांसपेशियों पर साधारण नियन्त्रण पा जाने से यह सब अपने आप व्यक्ति के नियन्त्रण में आ जाता है। इन सबसे सम्बन्धित गतियों का सम्बन्ध प्राण-रक्षा से होता है। परन्तु सिर और आँख की गति, विविध वस्तुओं के साथ खेलना, बैठना, खड़ा होना, रेंगना, चलना, दौड़ना और कूदना आदि क्रियाओं का बालक के सामाजिक और बौद्धिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भाषा-ध्वनि का उत्पन्न करना एक प्रकार का गति-सम्बन्धी व्यवहार (Motor Behaviour) है। लिखना भी एक प्रकार का गति-सम्बन्धी व्यवहार है। इसी प्रकार सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार की पृष्ठ-भूमि में किसी-न-किसी प्रकार की गति रहती है।

गति-सम्बन्धी कौशल पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल बच्चा ही नहीं रहता, वरन् प्रौढ़ लोगों को भी उस पर निर्भर रहना पड़ता है। यदि व्यक्ति औद्योगिक, व्यावसायिक, व्यापारिक, सामाजिक अथवा मनोरंजन आदि सम्बन्धी क्षेत्रों में अपने विचारों का दूसरों पर प्रभाव डालना चाहता है तो उसे पहले गति-सम्बन्धी क्रियाओं का सहारा लेना पड़ेगा। उदाहरणार्थ—उसे अपने विचारों को स्वयं कार्यान्वित करके दिखाना होगा, व्यवसाय

गति पर नियन्त्रण
संतोषजनक जीवन
के लिए आवश्यक

तथा उद्योग आदि में उसे फैक्टरी का सहारा लेना होगा, यातायात के साधन होने ही चाहिए तथा पुस्तकों का प्रकाशन होना चाहिए। पढ़ने के क्रम में नेत्रों और अक्षरों में जो नया सम्बन्ध स्थापित होता है, यात्रा में शरीर पर प्राप्त नियन्त्रण तथा परीक्षण-शाला में प्राप्त कौशल आदि का व्यक्ति के बौद्धिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपने निष्कर्ष का व्यक्ति भाषण द्वारा अथवा लेखनी द्वारा दूसरों पर अधिक प्रभाव डाल सकता है। वात रोग से कदाचित् इसीलिए बहुत लोग डरते हैं कि उसके आने पर गति-बिहीनता आ जायगी और दूसरों पर अपने व्यवहारों द्वारा तब कम प्रभाव डाला जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शैशव से वृद्धावस्था तक गति पर नियन्त्रण प्राप्त करना संतोषजनक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कहना न होगा कि संतोषजनक शिक्षा-क्रम के लिए गति-विकास को समझना और उस पर नियन्त्रण प्राप्त करना आवश्यक है।

गति के विकास की कुछ साधारण विशिष्टतायें

(Some General Characteristics of Motor Development)

गति का विकास ऊटपटाँग ढंग पर नहीं चलता, वरन् इसका विकास एक सुसंगठित रूप में चलता है। इसमें एक सुनिश्चित क्रम होता है। सर्वप्रथम बच्चा सिर पर नियन्त्रण प्राप्त करता है। इसके बाद क्रम से भुजायें, हाथ, धड़ के ऊपरी भाग तथा पेट और पाँव का नम्बर विकास एक विशिष्ट क्रम में आता है। विकास का यही क्रम प्रायः गर्भाशय में भी चलता है। तभी तो जन्म के समय सिर सभी दृष्टिकोण से सबसे अधिक विकसित रहता है। विकास पहले केन्द्र की ओर से प्रारम्भ होता है; तब विभिन्न अंगों की ओर चलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भुजा पर नियन्त्रण पा जाने के बाद उँगलियों पर व्यक्ति नियन्त्रण प्राप्त करता है। जन्म के समय शिशु का सिर उसके कन्धों पर अथवा जो व्यक्ति उसे लिए रहता है, उसके शरीर पर विश्राम करता है। इस समय शिशु में इतनी नियन्त्रण-शक्ति नहीं रहती कि उसका सिर स्वतन्त्र रूप से नियन्त्रित रह सके। कुछ ही दिनों बाद गर्दन और सिर की मांसपेशियों पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर लेने पर सिर को संभालने के लिए गर्दन पर ही हाथ लगाने की आवश्यकता होती है। इसके बाद क्रमशः कन्धे पर, पीठ पर तथा कूल्हे पर हाथ लगाना आवश्यक होता है।

यद्यपि गति के विकास में एक विशिष्ट क्रम मिलता है, परन्तु इसमें कुछ वैयक्तिक वैभिन्न्य भी मिलता है। उपयुक्त अभ्यास के लिए अवसर न मिलने पर बालक अपने हाथ पर नियन्त्रण प्राप्त करने में अथवा चलना सीखने में अन्य बालकों के पीछे रह सकता है। बुद्धि, स्वास्थ्य तथा अन्य बातों में विभिन्नता के कारण बालक में गति का विकास पहले पूरा हो सकता है, अथवा उसमें देर लग सकती है।

मांसपेशियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना, सीखना अथवा विवृद्धि (Maturation) का फल हो सकता है। स्नायविक रचनाओं, हड्डियों तथा विभिन्न मांसपेशियों की विवृद्धि पर गति का विकास निर्भर करता है। किसी समन्वित रूप में व्यक्ति अपनी विभिन्न मांसपेशियों को प्रयोग में लाने का जितना अवसर पाता है, उसका भी उसकी गति के विकास पर प्रभाव पड़ता है। गतियों के सुव्यवस्थित होने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चा अपने मांसपेशीय यन्त्रों की प्रौढ़ता पर कुछ हद तक पहुँच जाय। जब तक उसका स्नायुमण्डल उसकी आवश्यक सहायता करने के लिए विकसित नहीं रहेगा, वह सुव्यवस्थित गतियाँ नहीं दिखला सकता। इस प्रकार विवृद्धि आने के पूर्व ही यदि बालक को कुछ सिखलाया जायगा तो परिश्रम और समय नष्ट होगा और बालक में भी आवश्यक रुचि का लोप हो जायगा।

विभिन्न अवयवों में गति के विकास का अनुक्रम

(Sequence of Motor Development in the Different Organs)

सिर के भाग में गति का विकास (Motor Development in the Head-Region)—नेत्रों की गतिशीलता, मुस्कराना, हँसना और सिर का ऊपर उठाने का योग्यता बड़ी शीघ्र आती है। जन्म के बाद कुछ घण्टों तक शिशु का अपने नेत्रों पर नियन्त्रण नहीं रहता। परन्तु चार महीने पर एक सामान्य शिशु नेत्र की कठिन गतिशीलता दिखलाने में समर्थ होता है। लम्बात्मक (Horizontal), उत्तानात्मक (Vertical) और गोलात्मक (Circular) नेत्र-एकीकरण (Co-ordination) में लम्बात्मक एकीकरण सबसे पहले प्राप्त होता है। जोन्स¹ ने अपने परीक्षण में देखा कि ३३ दिन का शिशु लम्बात्मक प्रकाश का बहुत देर तक अनुसरण कर सका। उत्तानात्मक और गोलात्मक नेत्र-एकीकरण ५१वें दिन पाया गया। इस एकीकरण के प्राप्ति-काल में भेद भी पाया जाता है। जोन्स ने देखा कि किसी-किसी शिशु को लम्बात्मक एकीकरण में ६० दिन, उत्तानात्मक में ११० दिन और गोलात्मक में १३० दिन लग गए। जन्म के समय ही शिशु नेत्र मुलकाने में समर्थ रहता है। नेत्र के आस-पास छूने से अथवा उसे किसी प्रकार तनिक प्रभावित करने से उसमें मुलकाने की सहज-क्रिया (Blinking Reflex) देखी जाती है। कुछ दिन बाद यह सहज-क्रिया अनैच्छिक हो जाती है और किसी पहुँचते हुए पदार्थ की आशंका से आँख अपनी प्रतिक्रिया स्वभावतः दिखलाती है। जोन्स ने अपने अन्वेषण में देखा कि ४६ दिन पर कुछ शिशु आँख मुलकाने की अनैच्छिक सहज-क्रिया दिखलाने में समर्थ थे और कुछ १२४ दिन के हो जाने पर इस योग्यता को पा सके।

¹ Jones, M.G.,—“The Development of Early Behaviour Patterns in Young Children.”; *Journal of Genetic Psychology*, 33, pp. 537-585, 1926.

मुस्कराने की सहज-क्रिया शिशु जन्म के बाद पहले ही सप्ताह पर दिखलाने में समर्थ हो जाता है। यह सहज-क्रिया स्पर्श-सम्बन्धी, आवयवक अथवा गति-सम्बन्धी उद्दीपक के फलस्वरूप हो सकती है। किसी के मुस्कराने के उत्तर में शिशु का मुस्कराना अथवा 'सामाजिक मुस्कराना' (Social Smiling) कुछ दिन के बाद आता है। जोन्स ने अपने उपर्युक्त अन्वेषण में देखा कि पहली सामाजिक मुस्कराहट ३६ दिन की अवस्था पर आती है। बहुत से मनोवैज्ञानिक सामाजिक मुस्कराहट से शिशु में सामाजिक व्यवहार का प्रारम्भ समझते हैं।

ब्रायन¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि शिशु जन्म के २० मिनट बाद अपना सिर थोड़ा ऊपर करने में समर्थ होता है। यदि एक महीने का शिशु छाती और पेट के बल सुला दिया जाता है तो लम्बात्मक स्थिति में वह अपना सिर सीधा रख सकता है और दो महीने की उम्र में वह अपना सिर इस स्थिति से ३०° ऊपर उठा सकता है। पीठ के बल पर सोये रहने पर सिर को उठाने में प्रारम्भिक दिनों में बड़ी कठिनाई होती है और यह योग्यता बाद में ही आती है। शर्ली² का कहना है कि इस प्रकार सिर ऊपर उठा सकने में प्रायः २० सप्ताह लग जाते हैं। जेसेल³ ने अपने अन्वेषण में देखा कि चार महीने की अवस्था में लगभग ७५ प्रतिशत शिशु गोद में लेने पर अपने सिर ऊँचा उठाने में समर्थ रहते हैं। छः महीने पर प्रायः सभी अपने सिर उठाने में समर्थ रहे। जेसेल⁴ ने एक दूसरे अध्ययन में देखा कि सोलह सप्ताह पर शिशु का शरीर जब इधर-उधर सरलता से घूम सकता है तो उसका सिर मध्य स्थिति में रहता है। २० सप्ताह की अवस्था में कुर्सी पर बैठने पर सिर इधर-उधर सरलता से घूम सकता है।

भुजायें और हाथों की गति का विकास (Motor Development of the Arms and Hands)—प्रायः यह देखा जाता है कि जन्म से ही शिशु की भुजायें और हाथ गतिशील रहते हैं। पहले इनकी गति सिर की ओर ऊट-ऊटपटाँग क्रम में चलती है। आगे-पीछे भटकना तथा उँगलियों का खोलना और बन्द करना आदि, गति का प्रधान रूप होता है। कभी-कभी सोने में भी कुछ ऐसी ही गतियाँ

¹ Bryan, E.—“Variations in the Responses of Infants during first ten days of postnatal life”, *Child Development* 1, pp. 56-77, 1930.

² Shirley, M. M.—*The First Two Years*, Univ. Minnesota Press, Minneapolis, 1931.

³ Gesell, A.—*Infancy and Human Growth*, Macmillan, New York, 1928.

⁴ Gessell, A.—*The First Five Years of Growth*, Harper, New York, 1940.

दिखलाते हुए शिशु जान पड़ता है। अपनी गतिशीलता में हाथ प्रायः सिर की ओर जाता रहता है। कदाचित् गर्भाशय में स्थिति-विशेष के कारण पड़ी हुई आदत के कारण ही ऐसा होता है। कभी-कभी उँगलियाँ होठों को भी छू देती हैं। इससे शिशु को कदाचित् कुछ सुखद संवेदना मिलती है। तभी तो धीरे-धीरे वह अँगूठा चूसने की आदत अपने में डाल लेता है।

जन्म के समय अपने बचाव के लिए शिशु अपनी गतियों का एकीकरण नहीं कर पाता। परन्तु एक दिन के बाद शिशु इस सम्बन्ध में कुछ योग्यता पाने लगता है। शेरमैन¹ ने अपने अध्ययन में देखा कि २० से ४० घण्टे बचाव के लिए गतियों का एकीकरण की उम्र के बाद शिशु ११ बार भुजाओं की गतियाँ कर लेने के बाद अपने बचाव के लिए उनका कुछ एकीकरण कर सका। उम्र के बढ़ने से एकीकरण की योग्यता स्वतः बढ़ती जाती है; परन्तु यह देखा गया कि १३ दिन बाद भी कुछ शिशु ऐसा एकीकरण दिखलाने में शीघ्र सफल न हो सके।

जन्म के समय यह देखा जाता है कि मुट्ठी बाँधने की सहज-क्रिया में अँगूठे और उँगलियाँ हुक की तरह काम करती हैं। मुट्ठी बाँधने के अतिरिक्त हाथ को उपयोगी होने में यह आवश्यक है कि अँगूठा उँगलियों से अँगूठे स्वतन्त्र अस्तित्व में काम कर सके। इस स्वतन्त्र अस्तित्व का आना तीसरे या चौथे महीने से आरम्भ हो जाता है और आठवें या नवें महीने से बच्चा अपने हाथ में वस्तुओं के पकड़ने योग्य हो जाता है।

यदि हाथ का अचानक उद्दीपक से स्पर्श नहीं होता तो आगे पहुँच कर किसी वस्तु को पकड़ने में आँख और हाथ का एक साथ ही काम करना आवश्यक है, जिससे हाथ की गति आँख से संचालित हो सके। इस आँख और हाथ का प्रकार का साथ काम कर सकना लगभग आठवें महीने पर एक साथ काम करना सम्भव होता है। इस सम्बन्ध में वाटसन² ने अपने अन्वेषण में देखा कि जन्म के १२२वें दिन शिशु मुट्ठी बाँधने में बड़ा ढीला था, परन्तु १७१वें दिन दाहिने हाथ से मुट्ठी अच्छी तरह बाँधना शिशु को आ गया। जब शिशु ६ या ७ महीने का हो जाता है तो मुट्ठी बाँधकर वह विभिन्न वस्तुएँ उठा सकता है। ऐसा करने में उसकी दृष्टि वस्तु की ओर एक टक लगी रहती है, मुँह खुला रहता है, दोनों हाथ वस्तु की ओर बढ़ते हैं, परन्तु एक दूसरे से कुछ आगे रहते हैं और शरीर आगे की ओर कुछ झुका रहता है।

¹ Sherman, M. and Sherman I. C.—*The Process of Human Behaviour*, New York, 1929.

² Watson, J. B. and Watson, R. R.—*Studies in Infant Psychology*, Sci. Mon., 13. pp. 493-515. 1921.

वस्तु को उठा कर मुँह में डालना शिशु शीघ्र सीख लेता है। जोन्स¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि ऐसा करने में समर्थ शिशुओं में सबसे कम उम्र वाला शिशु ११६ दिन का था। साधारणतः २६६ दिन में प्रायः सभी वस्तु को मुँह में उठा कर डालना शिशु ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं। परन्तु कुलमेन² और जेसेल³ के अनुसार यह योग्यता ६ महीने के अन्तर्गत आ जाती है। शिशुओं के साधारण निरीक्षण से भी हमें यही बात मिलती है।

पहले साल के अन्दर किसी उद्देश्य से कुछ दूर जाकर किसी वस्तु को मुट्ठी में पकड़ लेने में शिशु प्रायः समर्थ हो जाता है। किसी वस्तु को दिखलाने पर पहले शिशु एक या दोनों हाथ उसे पाने के लिए हिलाता है। चार महीने पर वह किसी वस्तु के पास पहुँच कर उसे पकड़ने में वस्तु तक पहुँचना और उसे पकड़ना कुछ समर्थ हो जाता है। परन्तु यह समर्थता केवल आंशिक रहती है। पूर्ण समर्थता लगभग सातवें महीने में आती है। चल-चित्र (Moving Pictures) की सहायता से हैलवर्सन⁴ तथा जेसेल और हैलवर्सन⁵ ने एक त्रिघात तक पहुँचने और उसे पकड़ने की शिशु की क्रिया का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि २४ सप्ताह के हो जाने पर ही शिशु ने पहले प्रयत्न में ही त्रिघात को पा लिया। त्रिघात तक पहुँचने की गति में ३२ सप्ताह तक तो वृद्धि हुई परन्तु इसके बाद गति धीमी पड़ने लगी। त्रिघात तक पहुँचने के लिए २८ सप्ताह उम्र तक शिशु अपना हाथ कुछ ऊपर उठाता था; परन्तु ५२वें सप्ताह में हाथ की ऊँचाई कम हो गई। २८ सप्ताह की उम्र में शिशु दोनों हाथ से पकड़ने की कोशिश करता था, परन्तु इसके बाद वह एक ही हाथ से पकड़ने की कोशिश करने लगा। ६० सप्ताह की उम्र में शिशु प्रौढ़ व्यक्ति की तरह वस्तु को हाथ से पकड़ने या उठाने में समर्थ हो जाता है।

¹ Jones, M. C.—“The Development of Early Behaviour Patterns in young children”; *Journal of Genetic Psychology*, 33, pp, 527-585, 2926.

² Kuhelman, F. A.—*Handbook of Mental Tests*, Warwick and York, Baltimore, 1922.

³ Gesell, A.—*Infancy and Human Growths*, Macmillan, New York, 1928.

⁴ Halverson H. M.—“An Experimental Study of Prehension in Infants by means of Systematic Cinema Record”, *Genetic Psychology Monogram*, 10, pp. 107-236, 1931.

⁵ Gesell, A. and Halverson, H. M.—“The Development of Thumb Opposition in the Human Infant”, *Journal or Genetic Psychology*, 48, pp. 339-361, 1936.

लिपमैन¹ ने यह जानने की चेष्टा की कि शिशु एक बार कितनी वस्तुएँ अपने हाथ में पकड़ सकता है। अपने अन्वेषण के फलस्वरूप लिपमैन ने वह निष्कर्ष निकाला है कि पाँच महीने की उम्र में देने पर एक सामान्य शिशु उठा सकने वाली एक वस्तु हाथ में ले सकता है, सात महीने का शिशु दो वस्तुओं की संख्या वस्तुएँ ले सकता है और दस महीने पर वह प्रायः तीन वस्तुएँ पकड़ने में समर्थ हो जाता है। कहना न होगा कि इन सब वस्तुओं का आकार इतना छोटा हो कि शिशु उसे सरलता से सँभाल सके।

खाने के समय शिशु अपने हाथ को कितना सुव्यवस्थित रख सकता है इसका भी अध्ययन किया गया है। आठ महीने का हो जाने पर मुँह में लगा देने से शिशु दूध वाली शीशी स्वयं पकड़ सकता है और नवें महीने पर वह स्वयं उसे अपने मुँह में डाल सकता है और उसे बाहर निकाल सकता है। एक साल की उम्र पर वह प्याले से स्वयं दूध पी सकता है और हाथ अथवा चम्मच उठा कर कुछ खा सकता है। यह सब करने में उससे दूध गिर सकता है और अपने शरीर में वह इधर-उधर जूठा भी पोत लेगा। दूसरे वर्ष में शिशु स्वयं उठा कर कुछ खा सकता है; जैसे टमाटर, अमरूद, सेब और बेर आदि। तीन वर्ष की उम्र में शिशु सरलता से स्वयं भोजन कर सकता है।

कपड़े उतार देना बालक कपड़े पहन सकने से पहले सीख लेता है, क्योंकि उतार देना कुछ सरल पड़ता है। की² ने अपने अन्वेषण में देखा कि १½ से ३½ वर्ष की उम्र में कपड़े पहनने की योग्यता का विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है। विभिन्न प्रकार के कपड़े पहनने के सीखने की गति भिन्न-भिन्न होगी। उदाहारणार्थ, कुर्ता, कमीज और कोट आदि पहनना बालक को धोती पहनने से शीघ्रतर आ जाता है। मोजा पहन लेना जूता पहन सकने से सरल होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि लड़कियाँ लड़कों से अधिक पहले कपड़ा पहनना सीख लेती हैं। उनके शीघ्रतर सीख लेने का कारण उनकी अधिक लचीली कलाई, गति-सम्बन्धी अधिक अच्छा एकीकरण करने की योग्यता और पहनावे का सरलतर ढंग हो सकता है। पहनने सम्बन्धी परीक्षण के लिए वैगॉनर और आर्मस्ट्राङ्ग³ ने एक विशेष प्रकार की जैकेट बनवाई। इस जैकेट

¹ Lippman. H. S.—“Certain Behaviour Responses in Early Infancy, *Journal of Genetic Psychology*, 34. pp. 424-440, 1927.

² Key, C. B. and Others—The process of Learning to Dress among Nursery School Children, *Journal of Applied Psychology* 8, pp. 67-1631, 1936.

³ Wagoner, L. C. and Armstrong, E. M.—The Motor Control of Children as Involved in the Dressing Process, *Journal of Genetic Psychology*, 35, pp. 84-97, 1928.

के सामने, पीछे और बगल में बटन लगे हुये थे बटनों विभिन्न आकार और प्रकार के थे। इस अन्वेषण में यह देखा गया कि शिशुओं के लिए बटन निकालना लगाने से सरल था। दो वर्ष की उम्र के बाद बटनों लगाना अथवा निकालना शिशु के लिए एक मनोरंजन था। तीन से पाँच वर्ष की उम्र में सामने अथवा बगल में बटनों शिशु लगा सकता था और इसमें समय भी पहले से कम लगाता था। कपड़े पहनने में हाथ और आँख के एकीकरण की तब तक आवश्यकता होती है जब तक शिशु स्पर्श के अनुभव से कपड़े पहन लेने में समर्थ न हो। पहनने में पहले बटन, हुक, काज तथा डोरी आदि का देखना छोटे शिशु के लिए आवश्यक है। छठे वर्ष के बाद से बालक बिना देखे ही बटनों आदि लगा सकता है।

गटरिज¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि दो या तीन वर्ष की अवस्था में कोई भी बालक गेंद को एक सुनिश्चित दिशा में फेंकने में समर्थ नहीं था। चार वर्ष की उम्र में केवल २० प्रतिशत, पाँच वर्ष पर ७४ प्रतिशत और गेंद फेंकना, उछालना छः वर्ष पर ८४ प्रतिशत बच्चे ठीक दिशा में गेंद फेंकने में और पकड़ सकना समर्थ थे। पहले दोनों हाथ का प्रयोग किया जाता था और इसमें पूरा शरीर ही हिल जाया करता था। धीरे-धीरे एक ही हाथ से फेंकना सम्भव हो सका। गटरिज ने देखा कि चार वर्ष की उम्र में बच्चे गेंद को ठीक से उछालने में समर्थ न थे। साढ़े छः वर्ष की अवस्था में केवल ६१ प्रतिशत ही बच्चे गेंद ठीक से उछाल सकते थे। लड़के लड़कियों में इसमें कुछ कम प्रवीण दिखलाई पड़ते थे। उछाल सकने की तरह गेंद को पकड़ सकना भी कठिन सिद्ध हुआ। चार वर्ष की उम्र पर २६ प्रतिशत, पाँच वर्ष पर ५६ प्रतिशत और छः वर्ष पर ६३ प्रतिशत बच्चे गेंद पकड़ने में समर्थ थे।

बालकों के लिखने के सम्बन्ध में हिल्ड्रेथ² ने एक अन्वेषण किया। इसमें उसने देखा कि तीन वर्ष की अवस्था तक बच्चे कागज पर एक ऊटपटाँग रूप में खींचना जानते हैं। दो और ३½ वर्ष की अवस्था में बच्चे लिखना लम्बात्मक रूप में लिखने का स्वाँग रचते हैं। इसके साथ ही साथ वे ऊपर-नीचे भी रेखाएँ खींचते हुए देखे जाते हैं। साढ़े तीन से चार वर्ष की उम्र में बच्चे कुछ सुसंगठित चिह्न बनाने का प्रयास करते हैं। परन्तु यह चिह्न अक्षर का रूप नहीं ले पाता। साधारणतः ४½ वर्ष का बच्चा कुछ अक्षर लिखना प्रारम्भ कर देता है; जैसे क, ख, च, त, न आदि। पाँच और ५½ वर्ष के अन्दर बच्चा अच्छी तरह लिखने में समर्थ हो जाता है। छः वर्ष से लिखने की गति पहले से तीव्र होने लगती है।

¹ Gutteridge, M. V.—A Study of Motor Achievement of Young Children, *Arch. Psychology*, N. Y., No. 244, 1939.

² Hildreth, G.—Development Sequences in Name Writing, *Child Development*, 7, pp. 791-303, 1936.

प्रायः यह देखा जाता है कि चार वर्ष की उम्र पर बालक कहने पर कुछ वस्तुओं को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर उन्हें बिना बिगाड़े रख देने में समर्थ होता है। साढ़े चार वर्ष पर वे भोजन की थाली, ग्लास में पीने का पानी तथा अन्य छोटा सामान आदेश के अनुसार लाने में समर्थ हो जाते हैं। जैसेल के अनुसार ८५ से १०० प्रतिशत ५ वर्ष के लड़के कागज को कर्ण रेखावत् मोड़ सकते हैं, किसी छोटे वर्ग की नकल कर सकते हैं तथा कुछ साधारण अवस भी कर सकते हैं। ६५ से ८४ प्रतिशत बच्चे त्रिभुज तथा पहचानने योग्य आदमी का चित्र खींच सकते हैं। वे किसी सन्दूक में अपने खिलौनों को एक ढंग से रख सकते हैं। वे अपने कपड़े को बिना अधिक भिगोये हाथ, मुँह और पैर धो सकते हैं।

कुछ प्रारम्भिक महीनों में यह समझना कठिन होता है कि बच्चा किस हाथ से अधिक काम कर रहा है। वस्तुतः इस समय वह अपने दोनों हाथ समान रूप से प्रयोग में लाता है। परन्तु प्रथम वर्ष के मध्य से कुछ बच्चों में यह देखा जाता है कि उनका भुकाव बायें अथवा दाहिने हाथ के प्रयोग की ओर विशेष हो रहा है। नवें महीने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चा दाहिने अथवा बाँये हाथ वाला होगा। इस समय से यह देखा जाता है कि किसी वस्तु को पकड़ने के लिए वह प्रायः एक ही हाथ बढ़ाता है। प्रथम वर्ष में कुछ बालकों में बायें हाथ की प्रधानता दिखलाई पड़ती है, परन्तु यह प्रधानता प्रायः शीघ्र ही दाहिने हाथ को चली जाती है।

अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि दाहिने अथवा बाँयें हाथ का होना अभ्यास अथवा घरेलू स्थिति के कारण होता है। साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि बाँयें हाथ का होना एक जन्मजात गुण होता है और इसमें किसी प्रकार की बाधा डालने से बालक में स्नायविक कमजोरी आ आने का भय रहता है। अधिकांशतः दाहिने हाथ के प्रयोग के कई कारण दिये जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बाँयीं ओर का मस्तिष्क दाहिनी ओर से मजबूत होता है, इसलिए व्यक्ति बहुधा दाहिने हाथ वाला होता है। कुछ दूसरों का कहना है कि गर्भाशय में भ्रूण की विशिष्ट स्थिति के कारण दाहिना हाथ बाँयें हाथ से स्वभावतः मजबूत होता है, इसलिए उसका प्रयोग अधिक किया जाता है। कुछ अन्य लोगों का विचार है कि व्यक्ति स्वभावतः शरीर के एक अंग को अधिक प्रयोग में लाता है, जैसे एक ही आँख से किसी निशाने की ओर ध्यान केन्द्रित करना, इसलिए व्यक्ति दाहिने अथवा बाँयें हाथ वाला हो जाता है।

घड़ में गति का विकास (Motor Development in the Trunk)—जन्म के समय शिशु करवट लेने में अथवा पीठ के बल से पेट के बल पर आ जाने में

करवट लेना

समर्थ नहीं रहता। दूसरे महीने पर शिशु करवट से पीठ के बल पर आ जाने में; चौथे महीने में पीठ से करवट के बल पर और छः महीने पर एक करवट से दूसरी करवट पर आ जाने में समर्थ होता है। इस प्रकार धूमने में शरीर पहले सिर की ओर से धूमता है और अन्त में पैर के धूमने की बारी आती है। शिशु पहले अपना सिर घुमाता है; इसके बाद कन्धों, कूल्हों तथा पैरों का नम्बर क्रमशः आता है।

पीठ की मांसपेशियों की वृद्धि पर अकेले बैठने की समर्थता निर्भर करती है। बैठ सकने के पूर्व पूरे धड़ पर नियन्त्रण पा जाना आवश्यक है। जैसेल¹ के अनुसार १६ सप्ताह की उम्र में शिशु अपने को बैठने के आसन में खींच सकता है; परन्तु बैठ जाना अभी उसके लिए सम्भव नहीं होता। बीस सप्ताह पर सहारा पाने पर शिशु बैठ सकता है। यदि सहारा छोड़ दिया जाय तो आगे की ओर थोड़ा वह झुक जायगा। नवें अथवा दसवें महीने में बिना किसी सहारे ही शिशु को स्वयं बैठ जाने में समर्थ होना चाहिए।

अकेले बैठने में अपना संतुलन ठीक करने के लिए शिशु थोड़ा आगे झुक जाता है, उसकी भुजायें शरीर के बगल में फैली रहती हैं, और उसके पैर धनुषाकार में रहते हैं। इस स्थिति में बैठे रहने से शिशु खड़े होने की स्थिति में स्वयं नहीं आ सकता, यदि वह थोड़ा उठने का प्रयत्न करता है तो लड़खड़ा जाता है। धीरे-धीरे चौथे या पाँचवें वर्ष में बच्चा प्रौढ़ व्यक्ति की तरह बैठने और उठने लगता है।

पैरों में गति का विकास (Motor Development in the Legs)—बालक को चलना सीखने में काफी कठिनाई होती है। वस्तुतः चलने का अभ्यास जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है जब शिशु पैरों को आगे-पीछे फेंकते हुए दिखलाई पड़ता है। इस क्रम में शिशु अपने पैरों तथा धड़ की मांसपेशियों में एकीकरण स्थापित करना सीखता है। सर्व प्रथम शिशु रेंगना सीखता है। यह प्रथम चार महीने में देखा जा सकता है। उतान सोने के क्रम में शिशु अपने पैर इधर-उधर फेंकता रहता है। फेंकने के इस क्रम में कुछ इञ्च वह ऊपर या नीचे, अथवा दाहिनी या बाईं ओर खिसक जाता है। कभी-कभी वह इधर-उधर लुढ़क भी जाता है। सातवें और नवें महीने के अन्दर रेंगना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। रेंगने में शिशु पेट के बल रहता है; उसका शरीर जमीन से लगा रहता है; सिर और कन्धे थोड़ा ऊपर उठे रहते हैं; और शरीर के ऊपरी भाग का वजन केहुनियों पर पड़ता है।

रेंगना

¹ Gesell, A.—The First Five Year of Life, Harper, New York, 1940.

नवें महीने की उम्र में एक सामान्य शिशु घुटनों के बल चलने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार की गति में धड़ जमीन से ऊपर और समानान्तर रहता है।

घुटनों चलना हाथ और घुटनों की सहायता से शिशु आगे बढ़ता है। पहले इस गति में लय नहीं दिखलाई पड़ती; परन्तु अभ्यास से इनमें लय आ जाती है और एक बार आगे बढ़ने को एक ही अंग उठता है। कुछ अधिक शक्ति पा जाने पर शिशु घुटनों को ऊपर उठा लेता है; और तब वह हाथों और पैरों के बल पर पशुओं की तरह चलने लगता है।

यह याद रखना है कि सभी शिशुओं में रेंगने और घुटनों पर चलने का विकास समान रूप से नहीं होता। कुछ शिशु बैठने की स्थिति में झटका मार कर रेंगते हैं। कुछ शिशु रेंगने से घुटनों पर चलने की स्थिति में बड़े शीघ्र आ जाते हैं।

खड़ा होना चलना सीखने के लिए खड़ा होने में समर्थ हो जाना आवश्यक है। प्रायः यह देखा जाता है कि शिशु जब घुटनों चलने लगता है तो कुछ पकड़ कर खड़ा हो जाना भी उसके लिए सम्भव होता है। प्रायः आठवें महीने में किसी सहारे के बल खड़े होने में शिशु समर्थ हो जाता है। ऐसा कर सकने के बाद धीरे-धीरे बिना सहारे के भी खड़े होने की समर्थता शिशु में ९वें या १०वें महीने तक आ जाती है। अपना संतुलन बनाने के लिए पहले शिशु दोनों पाँवों को एक दूसरे से कुछ दूरी पर व्यवस्थित करता है, अँगूठे बाहर की ओर रहते हैं घुटने तने रहते हैं, और सिर तथा धड़ का ऊपरी भाग कुछ आगे को झुका रहता है।

चलना खड़ा होना अच्छी तरह सीख लेने पर शिशु चलने के लिए कदम उठाता है। धीरे-धीरे इसमें उसकी प्रवीणता बढ़ती है और किसी सहारे के बल पर सरलता से चलना उसे आ जाता है। जितनी उम्र में शिशु अकेले बैठना सीखता है उसकी प्रायः दुगनी उम्र में वह अकेले चलना सीख लेता है। यदि बालक रेंगता है तो उसके रेंगने की १½ गुनी उम्र पर उसके चलने की उम्र आ जायगी। यदि शिशु अकेले बैठ जाने में समर्थ हो जाता है तो चलना भी उसे शीघ्र आ जायगा। यदि अकेले बैठने में उसे देर लगती है तो चलना भी उसे देर में ही आयेगा। बहुत से शिशुओं पर अन्वेषण से यह निष्कर्ष निकला है कि सहारे के बल चलने की औसत उम्र एक वर्ष होती है। सहारे से चलने वाले शिशु का ६४ प्रतिशत १४ महीने पर बिना सहारे के चलने में समर्थ हो जाते हैं और १८ महीने पर एक सामान्य बालक प्रौढ़ व्यक्ति की तरह चलने लगता है।

चलने के क्रम में सिर सीधा रहता है जिससे बच्चा यह देखता रहे कि वह कहाँ जा रहा है। शरीर भी सीधा रहता है। केवल पैरों की गतियों से ही वह आगे

प्रारम्भ में संतुलन की कमी

बढ़ता है। पहले उसमें संतुलन की कमी मालूम होती है। संतुलन के लिए शिशु अपने हाथ कुछ ऊपर उठाये रहता है। चलने के क्रम में बच्चा कई बार गिरता रहता है, क्योंकि संतुलन पाने में कुछ देर लगती है।

प्रारम्भ में बच्चा बहुत छोटा-छोटा पग डालता है। पग डालने में गलती करने से वह गिर पड़ता है। चलने में प्रवीणता आने से पग की दूरी भी बढ़ने लगती है। यह दूरी दूसरे वर्ष तक क्रमशः बढ़ती रहती है। पहले बच्चा पहला पाँव अच्छी तरह जमीन पर जमा लेता है तो दूसरा आगे बढ़ाने के लिए उठाता है। प्रवीणता पा जाने पर पहला पाँव अच्छी तरह रखने के पूर्व ही वह दूसरा पाँव उठा लेता है।

प्रारम्भ में चलने के क्रम में बच्चे का पूरा शरीर ही हिलता हुआ दिखलाई पड़ता है। धीरे-धीरे पूरे शरीर का हिलाना बन्द होने लगता है और हिलना केवल पैरों तक ही सीमित रह जाता है। पैरों के पूर्व भुजाओं का एकीकरण पहले प्राप्त हो जाता है, इससे संतुलन आने में बड़ी सहायता मिलती है। अभ्यास से पैरों की गति बढ़ती है और उनमें एक सामञ्जस्य आ जाता है। फलतः बच्चा पहले से अब तेज चलने लगता है।

चलने की विधि में बच्चों में वैयक्तिक वैभिन्न्य पाया जाता है। यह वैभिन्न्य बच्चे के स्वास्थ्य पर भी निर्भर करता है। डेढ़ वर्ष के बाद से प्रायः छः वर्ष की उम्र तक बच्चे का चलने-सम्बन्धी कौशल बढ़ता रहता है। इस सम्बन्ध में दौड़ने, कूदने, उछलने तथा चढ़ने आदि को चलने का ही विभिन्न रूप कहा जा सकता है। प्रारम्भ में बच्चे का दौड़ना तेज चलने के समान लगता है और इस क्रम में वह बहुधा गिर जाया करता है। पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चा केवल दौड़ ही नहीं पाता, वरन् दौड़ने वाले विविध खेल भी खेल सकता है। बच्चा दौड़ना सीखता है, क्योंकि दौड़ने की क्रिया में उसे आनन्द आता है। कुछ दिन के बाद वह किसी विशेष अवसर पर ही दौड़ना पसन्द करता है और इसके लिए उसके दौड़ने की गति भी धीरे-धीरे बढ़ने लगती है।

दो वर्ष की अवस्था में बच्चे को अच्छी तरह कूदना नहीं आता। चार वर्ष की अवस्था पर वह अच्छी तरह कूदना सीख लेता है। गटरिज¹ ने अपने अन्वेषण में

¹ Gutteridge, M. V.—A Study of Motor Achievements of Young Children, *Arch Psychology*, N. Y. No. 244, 1939,

कूदना

देखा कि ४२ प्रतिशत बच्चे तीन वर्ष की अवस्था में और ५ वर्ष पर ८१ प्रतिशत बच्चे अच्छी तरह कूद सकते थे। पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चे लम्बी कूद करने का भी प्रयत्न करते हैं।

चढ़ना

चलने से पहले ही बच्चे को सीढ़ियों पर चढ़ना और उतरना आ जाता है। परन्तु चलना सीख लेने पर चढ़ना उसके लिए सरल हो जाता है। तब वह ऊँची सीढ़ियों से सरलतापूर्वक उतर भी सकता है। गटरिज ने अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि तीन वर्ष की अवस्था तक प्रायः सभी सामान्य बालकों को चढ़ना आ जाता है। उसने यह भी देखा कि दो, तीन और छः वर्ष की उम्र में लड़के लड़कियों से चलने में अधिक प्रवीण होते हैं, परन्तु चौथे और पाँचवें वर्ष पर इस सम्बन्ध में दोनों की योग्यता समान रहती है।

तैरना

तैरने सम्बन्धी बच्चे का कौशल तत्सम्बन्धी अवसर पर बहुत हद तक निर्भर करता है। इसीलिए तो यह देखा जाता है कि नदी तथा तालाब आदि के पास रहने वाले बच्चों को तैरना शीघ्रतर आ जाता है, और दूसरे इन्हें प्रायः कौशोर में ही सीख पाते हैं।

तीन पहिये की साइकिल चलाना

तीन पहिए की साइकिल को चलाना बच्चे प्रायः दो या ढाई वर्ष पर सीख जाते हैं। तीन वर्ष की उम्र पर वह पीछे और आगे दोनों ओर चला सकते हैं। गटरिज ने अपने अन्वेषण में देखा कि दो वर्ष की उम्र में १७ प्रतिशत, तीन वर्ष में ६३ प्रतिशत और चार वर्ष में १०० प्रतिशत बच्चे तीन पहिए की साइकिल चलाने में समर्थ हो जाते हैं।

स्ट्रैङ्ग¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि छः वर्ष की उम्र में बच्चे रस्सी के ऊपर कूद सकते हैं, रेल की लाइन अथवा दीवार पर अपने को सन्तुलित कर सकते हैं। चार वर्ष की उम्र में बच्चा दो पहिए की साइकिल के प्रति उदासीन दिखलाई पड़ सकता है, परन्तु पाँच साल पर बहुधा यह देखा जाता है कि वह उसे सीखना ही चाहता है।

गति के विकास में विलम्ब

(The Delay in Motor Development)

सभी बच्चों में गति का विकास समान गति से नहीं चलता। कुछ बच्चों में शीघ्र विकास हो जाता है और कुछ में देर लगती है। जब गति का विकास बहुत धीमा

¹ Strang, R.—An Introduction to Child Study, Rev. Ed. Macmillan, New York, 1938.

चलता है तो उसे शीघ्र पहचाना जा सकता है और आवश्यक उपचार के विकास की गति द्रुततर बनाई जा सकती है ।

गति के विकास में विलम्ब का कुपरिणाम—गति के विकास में विलम्ब का होना अच्छा नहीं, क्योंकि इससे बच्चा अपनी कुछ दैनिक आवश्यकताओं के लिए स्वतन्त्र नहीं हो सकता । इससे उसके सामाजिक विकास में भी बड़ी देर लगेगी, क्योंकि तब बच्चा अपनी उम्र के अन्य बच्चों से हिलने-मिलने में संकोच करेगा । जब बच्चा स्वयं खा नहीं सकता, कपड़े नहीं पहन सकता तथा स्नानादि नहीं कर पाता तो अपनी उम्र के अन्य बच्चों के आगे उसे लज्जा आती है और उसमें आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि भी बैठने लगती है ।

गति के विकास में विलम्ब के कारण—बच्चे के स्वास्थ्य का उसके शारीरिक विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है । स्वस्थ बालक में गति का विकास शीघ्र होता है और अस्वस्थ बालक में देर लगती है; उदाहरणार्थ; **बीमारी अथवा पौष्टिक** स्वस्थ बालक १० या ११ महीने ही पर चलना सीख लेता **भोजन का अभाव** है, परन्तु अस्वस्थ बालक को इसमें बड़ी देर लग सकती है । बच्चे का स्वास्थ्य किसी विशिष्ट बीमारी अथवा पौष्टिक **भोजन के अभाव में बिगड़ सकता है ।**

बैठने, खड़े होने, चलने तथा कुछ अन्य कौशलों के विकास में शरीर के आकार का प्रभाव पड़ता है । शरीर के सन्तुलन के लिए यह आवश्यक है कि पैर और धड़ की लम्बाई का अनुपात बढ़ जाय और उनमें तौल और **शरीर का आकार** ऊँचाई का अनुपात घट जाय । छोटी हड्डियों वाले पतले और अच्छी मांसपेशी वाले बच्चे मोटे बच्चों की अपेक्षा शीघ्रतर चलना सीख लेते हैं ।

बच्चे के शरीर पर जितना ही कम कपड़ा रहेगा वह उतनी ही सरलता से अपने अवयवों को घुमा-फिरा सकेगा और उतनी ही शीघ्र वह मांसपेशीय नियन्त्रण प्राप्त कर लेगा । यह बात जूते के सम्बन्ध में विशेष लागू **पहनावे का प्रभाव** होती है । यदि जूता चुस्त और कड़ा हुआ तो चलना सीखने में बच्चे को कठिनाई होगी । अतः यह आवश्यक है कि बच्चे के जूते पर विशेष ध्यान दिया जाय । जब तक बिना जूता के सरलता से काम चल जाता है तब तक न पहनाया जाय तो अच्छा है । यही बात अन्य कपड़ों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । बच्चे का पहनावा ढीला तथा कम से कम होना चाहिए । गर्म देशों में बच्चों को कम कपड़े पहनाने की आवश्यकता होती है । अतः गर्म देश के बच्चे ठण्डे देश के बच्चों की अपेक्षा शीघ्रतर चलना सीखते हैं ।

समुचित वातावरण के अभाव में भी बच्चों का गति-विकास देर से होता है। जिन बच्चों के इधर-उधर चलने का अधिक स्थान तथा अवसर मिलता है वे मांसपेशीय नियन्त्रण शीघ्रतर पाते हैं। जो ऐसा स्थान समुचित वातावरण का और अवसर नहीं पाते वे मांसपेशीय नियन्त्रण पाने में अभाव पिछड़ जाते हैं। जो बच्चे बहुधा गोद में रखे जाते हैं वे चलना-फिरना देर में सीख पाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि बच्चों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाय। उनके खेलने के लिए उपयुक्त और पर्याप्त स्थान का भी होना आवश्यक है।

समुचित वातावरण के होते हुये भी प्रेरणा के अभाव में बच्चे में गति का विकास अच्छा न हो सकेगा। जिन बच्चों के संकेत पर लोग हर समय नाचने के लिए तैयार रहते हैं और जिनका अत्यधिक-लाड़-प्यार प्रेरणा का अभाव किया जाता है उन्हें चलने-फिरने की कम प्रेरणा मिलती है। ऐसे बच्चे आलसी हो जाते हैं और उनमें गति का विकास बड़े धीरे-धीरे चलता है।

जब तक बच्चा किसी प्रकार की गति दिखलाने का स्वयं कुछ संकेत नहीं देता उसके पूर्व ही उसे गतियाँ दिखलाने के लिए विवश कर उन गतियों के प्रति बालक में भय उत्पन्न करना है। अतः उसे चलने, दौड़ने भय अथवा कूदने आदि के लिए विवश नहीं करना चाहिए; अन्यथा इन सब गतियों का विकास उसमें देरी से होगा। यदि चलने के लिए उसे विवश किया जा रहा है और इस प्रयास में वह गिर जाता है तो चलने की क्रिया से वह डरने लगेगा और फिर पग उठाने में उसे हिचक होगी। अतः बच्चे को किसी प्रकार की गति दिखलाने के लिए विवश नहीं करना चाहिए।

कुछ प्रथम वर्षों में बुद्धि और गति के विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परीक्षणों द्वारा यह देखा गया है कि वे बच्चे जो चलना, बैठना और दौड़ना आदि सीखने में विलम्ब करते हैं, निर्बल बुद्धि के होते हैं। जो बुद्धि में कमी का होना तीव्र बुद्धि के होते हैं उनमें विभिन्न गतियों का विकास शीघ्रतर होता है। मीड¹ ने अपने एक अन्वेषण में देखा कि सामान्य बच्चा १३.८८ महीने की उम्र पर चलने में समर्थ था और मन्द बुद्धि बच्चे २५.८८ महीने की औसत उम्र पर भी चलने में समर्थ नहीं थे। टरमैन² ने देखा कि प्रतिभाशाली बच्चे १२ महीने पर ही चलने में समर्थ हो जाते हैं।

¹ Mead, C. D.—The Age of Walking and Talking in Relation to General Intelligence, Ped. Sem., 20, pp. 460-484, 1913.

² Terman, L. M.—Genetic Studies of Genius, Stanford University Press, Stanford University, Vol. 1, 1925.

समझ का विकास

(DEVELOPMENT OF UNDERSTANDING)

जब बालक अपनी अनुभूतियों का प्रकाशन शब्दों द्वारा करने लगता है और जब वह वस्तुओं को उनके नाम से पुकारने में समर्थ होने लगता है तो यह कहा जा सकता है कि उसमें समझ का विकास हो रहा है। विचारों (Ideas), मनोवृत्तियों (Attitudes), कार्यों और कुछ सामाजिक मान्यताओं (Social Values.) का अर्थ समझने लगने का अर्थ समझ के विकास से है। विकसित होते हुए छोटे बच्चे में सभी अनुभवों के सारांश को निकालने की शक्ति का विकास शीघ्र नहीं हो जाता। प्रारम्भ में उत्तेजक परिस्थितियों के प्रति एक विशिष्ट रूप में अपनी भाषा के द्वारा वह प्रतिक्रिया दिखला सकता है।

गत अध्याय में हम कह चुके हैं कि विकसित होते हुए बच्चे शब्दों का अर्थ उन्हें वस्तुओं अथवा अनुभवों से सम्बन्धित करने पर समझते हैं। पहले, बच्चे के लिये “माँ” शब्द का अर्थ केवल एक प्रकार की ध्वनि के अतिरिक्त उपयुक्त शैक्षिक अवसर कुछ नहीं होता। परन्तु जब ‘माँ’ शब्द के सुनने से बच्चे और अनुभव आवश्यक के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है, अर्थात् जब वह इधर-उधर माँ को देखने के लिए दृष्टि फेंकने लगता है अथवा यह जान कर कि माँ आ रही है, रोना बन्द कर देता है; उसे अपने कुछ गत अनुभवों जैसे दूध पीने, सोने, कहानी अथवा दण्ड आदि की याद आ जाती है—तो इन सब का अर्थ यह है कि उसमें अब समझ का विकास हो रहा है। समझ का प्रकाशन भाषा द्वारा किया जाता है। परन्तु इसका समुचित विकास बिना उपयुक्त शैक्षिक अवसर और अनुभव के न हो सकेगा।

एक ही वस्तु अथवा अनुभव का विभिन्न बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकता है। एक कुत्ता एक बच्चे के लिए खेल का साथी हो सकता है, परन्तु दूसरे

के लिए वह भयप्रद हो सकता है। अतः यह कहना गलत दूसरे के दृष्टिकोण को होगा कि किसी उत्तेजना से बालक समान अर्थ या अनुभव समझने का प्रयत्न प्राप्त करेगा। बच्चों को यह सिखलाना चाहिए कि परिस्थितियों की केवल अपनी व्याख्या पर उन्हें निर्भर नहीं रहना चाहिए; वरन् उनमें दूसरों की बातों और निष्कर्षों को भी सुनने की सहनशीलता होनी चाहिए। यदि व्यक्ति केवल अपनी व्याख्याओं पर निर्भर रहे और दूसरे के दृष्टिकोण पर ध्यान न दे तो एक-दूसरे के साथ रहना अत्यन्त कठिन हो जायगा।

बच्चों के प्रत्यय¹

(Children's Concepts)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बच्चों के प्रत्यय उनके अनुभव पर निर्भर करते हैं। विगत अनुभवों का ज्यों-ज्यों वह नया अर्थ लगायेगा त्यों-त्यों उसके अनुभव उसके लिए अधिक सार्थक होते जायेंगे। उदाहरणार्थ, अमरूद का अनुभव पर निर्भर वास्तविक प्रत्यय बालक को तब होता है, जब वह इससे सम्बन्धित अपने पुराने अर्थ को जोड़ लेता है। जब बच्चा सीख लेता है कि अमरूद का एक विशिष्ट रंग होता है, एक विशिष्ट प्रकार के पेड़ को अमरूद कहते हैं, इसकी पत्तियाँ एक विशिष्ट प्रकार की होती हैं—तब यह कहा जा सकता है कि उसे 'अमरूद का प्रत्यय' हो गया।

बच्चों के प्रत्यय को समझने में प्रौढ़ों को कठिनाई—तीन कारणों से बच्चों के प्रत्ययों का अध्ययन करना कठिन हो जाता है :—

(१) बच्चों के कुछ प्रत्ययों का तात्पर्य प्रौढ़ों के प्रत्ययों की अपेक्षा इतना भिन्न हो सकता है कि प्रौढ़ लोग उस पर कुछ ध्यान ही नहीं देते। उदाहरणार्थ, एक दो वर्ष के बच्चे के लिए 'गाय' का अर्थ उन सभी जानवरों से हो सकता है जो उसके समान बड़े होते हैं, जिनकी चार टाँगें होती हैं अथवा जिनका मुँह लम्बा होता है। स्पष्ट है कि बच्चा गाय प्रत्यय के अन्तर्गत भैंस, गधे, घोड़े तथा बैल आदि सभी को ले सकता है। प्रौढ़ के लिये गाय का एक विशिष्ट प्रत्यय होता है। गाय से उसका तात्पर्य गाय ही होती है। फलतः प्रौढ़ लोग प्रायः यह नहीं समझ पाते हैं कि बच्चों के प्रत्यय उनके लिए अधिक सारगाभित और सामान्य होते हैं।

(२) बच्चों के बहुत से प्रत्यय अपरिपक्व स्थिति में रहते हैं, कुछ अधिक परिपक्व रहते हैं और कुछ बहुत कम। अतः वे अपने बहुत प्रत्ययों का प्रकाशन इस प्रकार नहीं कर सकते कि प्रौढ़ लोग उसे ठीक-ठीक समझ सकें।

(३) बच्चों का शब्द-चयन बड़ा ही सीमित होता है। अतः वे अपने बहुत से प्रत्ययों को भाषा का रूप नहीं दे सकते—वे उनके मन में ही रहते हैं। फलतः उनके स्वरूप को समझना प्रौढ़ों के लिए असम्भव हो जाता है।

¹ विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में बच्चों की धारणायें या विचार।

शिशुओं के निरीक्षण से यह जान पड़ता है कि कुछ प्रारम्भिक वर्षों में उनके प्रत्यय बड़ी शीघ्रता से विकसित होते हैं। वातावरण से परिचित व्यक्तियों और वस्तुओं को देखने से बच्चे को आनन्द मिलता है और अपरिचित व्यक्तियों और वस्तुओं से वह डरता है। दूध, खिलौने तथा वस्त्र आदि को देखने से शिशु जैसी प्रतिक्रियाएँ दिखलाते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि वह दूध, खिलौने और वस्त्र का तात्पर्य समझता है। यदि शब्दों द्वारा अपनी प्रतिक्रियाओं को वह स्पष्ट नहीं कर सकता तब भी उसकी मुद्रा अथवा शरीर की विशिष्ट गतियों से यह स्पष्ट होता है कि उसमें समझ का विकास हो रहा है। उदाहरणार्थ, दूध को देखकर पीने के लिए लालायित होना अथवा न पीने के लिए मुँह मोड़ लेना, खिलौने को देख उसकी ओर झुकना, वस्त्र पहनाये जाने के डर से रोने लगना आदि प्रतिक्रियाएँ ऐसी हैं कि इनसे यह स्पष्ट होता है कि बालक में समझ का विकास हो रहा है।

सामान्य और विशिष्ट प्रत्यय

(General and Particular Concepts)

विभिन्न वस्तुओं के अर्थ को समझने के क्रम में बालक सर्वप्रथम पूरी परिस्थिति के सम्बन्ध में कोई प्रतिक्रिया दिखलाने में समर्थ होता है। परिस्थिति के किसी विशिष्ट अंग के प्रति प्रतिक्रिया दिखलाने की सामर्थ्य उसमें प्रारम्भ में प्रत्यय सामान्य कोटि के बाद में आती है। वह सम्पूर्ण वस्तु को पहले देखता है। उस वस्तु के विभिन्न अंगों की ओर उसका ध्यान बाद में जाता है। इसका फल यह होता है कि उन वस्तुओं और परिस्थितियों के प्रति जिनमें कुछ समानताएँ होती हैं, वह समान प्रतिक्रियाएँ दिखलाता है, क्योंकि उनमें कोई भेद नहीं दिखलाई पड़ता। इस प्रकार प्रारम्भ में उसके प्रत्यय सामान्य कोटि के होते हैं। अनुभव के बढ़ने से वस्तुओं और परिस्थितियों के विशिष्ट अंगों को वह समझने लगता है। विशिष्ट अंगों के समझने के क्रम में बालक, वस्तु के बनावट और कार्य पर विशेष ध्यान देता है।

कुछ प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर बालक के प्रत्यय विशिष्ट प्रकार के होने लगते हैं। उदाहरणार्थ, अब बालक सभी चार पैर वाले जानवरों को गाय नहीं कहेगा, वह केवल गाय को ही गाय कहेगा, क्योंकि गाय की बनावट और उसके कार्य को उसने अच्छी प्रकार समझ लिया है।

बालकों में प्रत्यय-विकास को समझने के लिए उन्हें कुछ चित्र खींचने के लिए अभिप्रेरित किया जाता है। हरलॉक¹ और थॉमसन ने ४½ से ८½ वर्ष के बालकों

¹ Hurlock, E. B. and Thomson, J. L.—Children's Drawings—An Experimental Study of Perceptions, *Child Development*, 5, 127-138.

उम्र के बढ़ने से प्रत्यय विकास से आठ साधारण वस्तुओं के चित्र खींचने के लिए कहा; जैसे—आदमी, घर, लड़की, कुत्ता, पेड़, मोटरकार, फूल और नाव। बच्चों से अपनी इच्छानुसार ये चित्र खींचने के लिए कहे गये, जिससे यह ठीक-ठीक समझा जा सके कि उनके लिए इन वस्तुओं का तात्पर्य क्या है। उनके सम्बन्ध में कुछ मनोरंजक बातें ज्ञात हुयीं। उनके चित्र के देखने से यह पाया गया कि उम्र के बढ़ने के साथ बच्चे वस्तुओं के विशिष्ट अंगों तथा विभिन्न बातों की ओर ध्यान देने में समर्थ होते हैं। तब उनके प्रत्यक्षीकरण में अधिक शुद्धता मिलती है। इस प्रकार बच्चों के प्रत्यय का विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर चलता है।

बच्चे अर्थ कैसे समझते हैं

(Perception)

बच्चों के अनुभव सीमित होते हैं। अतः प्रौढ़ों की तरह किसी वस्तु अथवा परिस्थिति के पूरे अर्थ को समझना उनके लिए बड़ा ही कठिन होता है। बच्चे किसी वस्तु अथवा परिस्थिति के गूढ़ अर्थ को समझने में पहले **पहले पूरे अर्थ को समझना कठिन** समर्थ नहीं होते। परिस्थितियाँ उन्हें जैसी दृष्टिगोचर होती हैं उन्हें वह वैसे ही पहले समझ लेता है। उनके आन्तरिक रहस्य को समझने की सामर्थ्य उसमें बहुत ही कम होती है।

स्कूल में जाने के पूर्व चित्रों के प्रति बच्चों की प्रत्यक्षीकरण सम्बन्धी प्रतिक्रियायें क्या होती हैं, इसका अध्ययन अमेन¹ ने किया। अमेन ने देखा कि सर्व प्रथम बच्चे चित्रों का अध्ययन स्थैतिक रूप (Static Way) में **चित्रों की व्याख्या पहले न कर सकना** करते हैं, इसके बाद वे उनका अध्ययन गत्यात्मक रूप (Dynamic Way) में करते हैं। कुछ प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर ही बच्चे चित्रों से विचार और भावनायें खींच सकते हैं। पहले बच्चे चित्रों की व्याख्या देने में समर्थ नहीं होते। इसकी सामार्थ्य उनमें कुछ प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर ही आती है।

किसी वस्तु अथवा परिस्थिति को पूर्ण रूप से देखने से बच्चे उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं, केवल उसके किसी अंश को विश्लेषणात्मक रूप में देखने से उन्हें ठीक से समझना उनके लिए कठिन होता है।

कुछ जर्मन मनोवैज्ञानिकों की अन्वेषणों के आधार पर यह धारणा है कि लड़के लड़कियों की अपेक्षा किसी परिस्थिति अथवा वस्तु में निहित अर्थ को समझने में अधिक शीघ्र सफल होते हैं। रोश्चाच विधि के अनुसार रोज अर्थ समझने में लिङ्ग-भेद और स्ट्रुब्रियन ने बच्चों के प्रत्यक्षीकरण-सम्बन्धी योग्यता में पाँच से ग्यारह वर्ष की उम्र के अन्तर्गत लिङ्ग-भेद

¹ Amen, F. W.—Individual differences in apperceptive reaction; a study of the response of pre school children to pictures, *Genetic Psychology Monogram*, 23, 319-385, 1941.

का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि ५ से ७ वर्ष की उम्र में लड़कियाँ लड़कों से अधिक प्रवीण होती हैं। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा छोटी-छोटी बातों का अधिक सतर्कता से निरीक्षण कर पाती हैं। रंग और स्वरूप के अध्ययन में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक प्रवीणता दिखलाती हैं। सात से नव वर्ष की उम्र वाली लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अपनी व्याख्याओं में अधिक विश्लेषणात्मक थीं। इसके विपरीत लड़कों की व्याख्याओं में कल्पना का तत्व अधिक पाया गया।

बच्चों के अनुभव बड़े ही सीमित होते हैं। अतः वे जड़ और चेतन में भेद को अच्छी तरह नहीं समझ पाते। वे सभी चेतन में एक ही प्रकार के जीव और गतिशीलता का अनुमान करते हैं। बच्चे कभी-कभी जड़ पदार्थ पहले जड़ और चेतन में भी चेतना का अनुमान कर बैठते हैं। फलतः बच्चों के भेद को अच्छी तरह के प्रत्यय प्रायः दोषयुक्त होते हैं। पियगे¹ के अनुसार ४ से न समझ सकना ६ वर्ष की अवस्था में जिस किसी वस्तु में बच्चे किसी प्रकार की क्रियाशीलता देखते हैं उसे वे चेतन मान लेते हैं। सात वर्ष की अवस्था के लगभग बच्चे केवल उसी पदार्थ में चेतना का अनुमान करते हैं जिसमें वे गति देखते हैं। उदाहरणार्थ; सात वर्ष की अवस्था के लगभग बच्चे सूर्य और साइकिल में जान का अनुमान करते हैं, क्योंकि उन्हें वे चलते हुए देखते हैं। कुर्सी और मेज को निर्जीव समझते हैं, क्योंकि उन्हें चलते हुए वे नहीं देखते। आठ-दस वर्ष की अवस्था में बच्चे यह समझने लगते हैं कि कोई वस्तु स्वयं गतिशील है अथवा किसी बाह्य उपाय द्वारा उसमें गति लाई गई है। इस अवस्था में सूर्य अथवा हवा को बच्चे चेतन समझते हैं और साइकिल और मोटर को जड़। ग्यारहवें वर्ष के लगभग बच्चे पौधों तथा जीव में अथवा केवल जीव में ही चेतना की उपस्थिति मानते हैं।

बच्चों के प्रश्न और प्रत्ययात्मक विकास

(Children's Questions and Conceptual Development)

बच्चे किस प्रकार के प्रश्न किसी अवस्था पर पूछते हैं इससे यह पता चलता है कि उनमें विचारों का विकास कैसे होता है। प्रायः तीसरे वर्ष की अवस्था से ही बच्चे अपने निकट की वस्तुओं और घटनाओं के सम्बन्ध जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रश्न पूछना में भाँति-भाँति के प्रश्न पूछने लगते हैं। कुछ प्रश्न तो बच्चे अपनी ओर केवल दूसरों के ध्यान को आकर्षित करने के लिये करते हैं; और उनके कुछ प्रश्न सच्ची जिज्ञासा को शांत करने के लिये होते हैं जिससे वे अपने अनुभवों के अर्थ को ठीक-ठीक समझ सकें। जब तक इन प्रश्नों द्वारा उसकी जिज्ञासा शान्त न होगी तब तक वह विभिन्न प्रश्नों

¹ Piaget, I.—The Child's Conception of the World, Hartcourt Brace, New York, 1929.

को पूछता ही रहेगा। हरलॉक¹ के अनुसार प्रश्न करने का काल तीसरे वर्ष से प्रारम्भ होकर प्रायः छठे वर्ष तक चलता है।

बच्चों के भाषा-विकास के अध्ययन से उनके प्रश्नों के स्वरूप अथवा प्रत्यय का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। रग² ने अपने अध्ययन में देखा कि किण्डर-गार्टन के बच्चों की बातों का दस प्रतिशत प्रश्न भाषा विकास के प्रत्यय थे। फिशर³ ने नर्सरी स्कूल के बच्चों को अपने अध्ययन का अनुमान में देखा कि १½ वर्ष से २ वर्ष के लगभग उनकी बातों में दो प्रतिशत प्रश्न थे; परन्तु तीसरे वर्ष की अवस्था पर उनका प्रतिशत १५ हो गया। बच्चों के प्रश्नों का प्रत्ययात्मक रूप एक ६ वर्ष के बच्चे और उसकी माँ के बीच हुए निम्नलिखित वार्तालाप⁴ से कुछ समझा जा सकता है :—

पहले अवसर पर

“बच्चा—बच्चा कैसे पैदा होता है ?

माँ—पेट चीर कर निकाल लिया जाता है।

बच्चा—पेट चीर देने पर फिर उसे ठीक कैसे किया जाता है ?

माँ—उसे सीं दिया जाता है।

दूसरे अवसर पर

बच्चा—पानी कौन बरसाता है ?

माँ—दैव।

बच्चा—दैव कहाँ रहता है ?

माँ—आकाश में।

बच्चा—आकाश में जमीन कहाँ है, वहाँ से वह गिर क्यों नहीं जाता ?

माँ—वह स्वर्ग में बहुत दूर रहता है, वहाँ से वह गिर नहीं सकता।

तीसरे अवसर पर : नदी को बहते हुए देख कर

बच्चा—नदी का पानी पूरब की ओर क्यों बह रहा है ? इसकी धारा पश्चिम की ओर क्यों नहीं हो जाती ?

माँ—क्योंकि हवा का बहाव पूरब की ही ओर है।”

¹ Hurlock, E. B.—Child Development, p. 289, Mcgraw-Hill, New York, 142.

² Rugg, H. and Others—“A Study of the Language of Kindergarten Children,” *Journal of Educational Psychology* 20, 1-18, 1829.

³ Fisher, M. S.—Language Patterns of Per-school Children, *Child Development Monographs*, No. 15, 1935.

⁴ चौबे सरयू प्रसाद, : बाल मनोविज्ञान, पृष्ठ १३० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५०।

उपयुक्त वार्तालाप में सभी उत्तर गलत दिये गये हैं। तथापि बच्चे के प्रश्न से यह अनुमान किया जा सकता है कि उसमें कठिन बातों को समझने की जिज्ञासा पैदा हो रही है; अर्थात् उसके प्रत्यय का विकास गूढ़तर होता जा रहा है। कहना न होगा कि बच्चों के प्रश्नों के गलत उत्तर देने से उनका प्रत्ययात्मक विकास अवरोधित हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि उनके प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दिया जाय।

बच्चों का साधारण ज्ञान—मनोवैज्ञानिकों के लिए अभी तक यह जानना सम्भव नहीं हो सका है कि विभिन्न विकासावस्था पर बच्चों को किन-किन साधारण बातों का ज्ञान रहता है। अतः किसी भी उम्र के लिए अभी तक इस सम्बन्ध में कोई प्रतिमान (Norm) नहीं निश्चित किया जा सका है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि बच्चे विभिन्न वातावरण से आते हैं और उनके अनुभवों में बड़ा अन्तर होता है।

स्थान का प्रत्यय (Concept of Space)

दिशा और दूरी का ज्ञान बच्चे अपने आप नहीं सीख पाते। किसी दूरी का अनुमान करने के लिए वे उसकी उस परिचित वस्तु और व्यक्ति से तुलना करते हैं जिसे वे बहुधा तय किया करते हैं। स्थान, दिशा और दूरी के अनुमान के लिए वे दृष्टि-सम्बन्धी (Visual Sensations) तथा गति-सम्बन्धी (Kinesthetic Sensations) संवेदनाओं का सहारा लेते हैं। जब बच्चा रेंगना प्रारम्भ करता है तभी से वह इन संवेदनाओं का अनुभव करने लगता है। जब वह गाड़ी, ट्राइसाइकल तथा गेंद इत्यादि से खेलना प्रारम्भ करता है तो दूरी और दिशा का उसका ज्ञान कुछ शुद्धतर होने लगता है। जिस लम्बी दूरी को बालक तय नहीं कर सकता उसके सम्बन्ध में वह अन्धकार ही में रहता है। स्कूल में स्केल, गज, फीट और इञ्च से दूरी और बांट से तौल नापने से उसे स्थान और दूरी को समझने में अथवा प्रत्यय पाने में बड़ी सहायता मिलती है।

बच्चों के स्थान-सम्बन्धी प्रत्यय के बारे में कई परीक्षात्मक अन्वेषण किए गए हैं। चार वर्ष के बच्चों और प्रौढ़ों के तुलनात्मक अध्ययन में अपडेग्राफ-ने तय किया कि दूरी के दृष्टि-सम्बन्धी प्रत्यय में उनमें त्वचा-सम्बन्धी संवेदनाओं के स्थानीयकरण विशेष अन्तर नहीं था। जब लगभग एक मीटर की दूरी पर रखी हुई दो वस्तुओं को ५ सेण्टीमीटर और एक दूसरे से पर उम्र का प्रभाव नहीं दूर कर दिया तो बच्चे को भी इस अन्तर के अनुमान में

¹ Updegraff, R.—“The Visual Perception of Distance in Young Children and Adults : A Comparative Study”, *Univ. of Iowa Studies in Child Welfare*, Vol. 4, No. 4, 1630.

कठिनाई नहीं हुई। डनफोर्ड¹ ने यह जानने का प्रयत्न किया कि उम्र के बढ़ने के साथ त्वचा-सम्बन्धी संवेदनाओं (Cutaneous sensations) की हाथ पर स्थानीयकरण (Localization) की योग्यता उनमें कहाँ तक बढ़ती है। तीन, पाँच, सात, नव, ग्यारह, तथा पन्द्रह वर्ष के बच्चों की आँख पर पट्टियाँ बाँध दी गईं और हाथ पर उन बिन्दुओं के स्थानीयकरण के लिए कहा गया, जिन्हें किसी प्रकार (भार, गर्मी, सर्दी अथवा दर्द से) उद्दीपित किया गया था। इसमें देखा गया कि उम्र अथवा अनुभव के बढ़ने से इसकी योग्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। नव वर्ष के बच्चों के उत्तर सबसे अच्छे थे। ग्यारह वर्ष के बच्चों ने नव वर्ष के बच्चों की अपेक्षा बुरा किया।

संख्या का प्रत्यय (Concept of Number)

बच्चे ज्योंही बातचीत करने की कुछ योग्यता प्राप्त कर लेते हैं वे कुछ संख्याओं को भी गिनने लगते हैं। यही ठीक-ठीक कहना कठिन है कि संख्या के प्रयोग की योग्यता उनमें कब प्रारम्भ होती है, परन्तु दूसरे उम्र तथा शैक्षिक अवसरों पर या तीसरे वर्ष से वे कुछ संख्याओं के नाम अवश्य लेते हैं। किण्डरगार्टेन के साढ़े चार से छः वर्ष की अवस्था के बच्चों के अध्ययन से डगलस² को ज्ञात हुआ कि उनमें कुछ संख्याओं के प्रयोग करने की योग्यता है। एक कार्ड पर कुछ बिन्दुओं को बनाकर उनसे उनकी संख्या पूछी गई। यह देखा गया कि इस उम्र के बालकों का १ और २ का ठीक-ठीक ज्ञान है, ३ का ज्ञान बहुत अच्छा नहीं है, ४ का ज्ञान काम चलाऊ है; और ५ से १० तक की संख्या का उनका ज्ञान बहुत ही अस्पष्ट था। बड़े बच्चे बड़ी संख्याओं का प्रयोग अधिक कुशलता से करते थे और छोटों को इनमें कुछ कठिनाई होती थी। डगलस ने निष्कर्ष निकाला है कि बच्चों का संख्या प्रत्यय उनकी उम्र तथा शैक्षिक अवसरों के अनुसार बढ़ता है।

टरमन³ और मेरिल ने अपने अन्वेषण में देखा कि पाँच वर्ष के बच्चे चार संख्याओं तक अच्छी तरह गिन सकते हैं। छः साल का एक सामान्य बच्चा

¹ Dunford, R. E.—“The Genetic Development of Cutaneous Localization”, *Journal of Genetic Psychology*, 37, 499—513, 1930.

² Douglass, H. R.—“The Development of Number Concepts in Children of Pre-school and Kindergarten Ages”, *Journal of Experimental Psychology*, 8, 443—470, 1925.

³ Terman, L. M. and Merrill, M. A.—*Measuring Intelligence*, Houghton, Mifflin Co., Boston, 1937.

३, ५, ७ और ९ वस्तुओं को अच्छी तरह गिन सकता है। अंकगणित के ज्ञान से कोई बच्चा कुछ संस्थाओं को एक क्रम में कह जाता है तो संख्या प्रत्यय का विकास इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह उन्हें समझता है। वर्नर¹ ने संख्या-प्रत्यय के विकास के चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है :—(१) वह अवस्था जब कि बालक 'बहुत', 'इतना', 'ढेर सा', इत्यादि का प्रयोग कर सकता है; (२) वह अवस्था जब वह कुछ संख्याओं को एक क्रम में कह सकता है; (३) वह अवस्था जब उँगलियों के सहारे वह गिन सकता है; और (४) वह अवस्था जब वह संख्याओं का अच्छी तरह से प्रयोग कर सकता है। साधारणतः छोटे बच्चों का सौ से ऊपर की संख्याओं का ज्ञान बड़ा अस्पष्ट होता है। हजार, लाख तथा करोड़ आदि संख्याओं का प्रयोग छोटे बच्चे बहुधा बिना समझे हुये ही करते हैं। जब उसका अंकगणित का ज्ञान काफी अच्छा हो जाता है, तभी वह बड़ी-बड़ी संख्याओं को समझने में समर्थ होता है।

समय का प्रत्यय

(Concept of Time)

छोटे बच्चे में समय की अवधि को समझने की योग्यता बड़े ही धीरे-धीरे विकसित होती है। यदि वह कुछ काम करता रहता है, तो उसके लिए यह कहना बड़ा ही कठिन होता है कि वह कितने समय तक काम करता धीरे-धीरे विकास रहा। जब किसी काम को वह बड़े मन से करता है तो उसे जान पड़ता है कि समय बड़ी जल्दी बीत गया और जब बेकार रहता है तो समय जल्दी बीतते नहीं जान पड़ता। स्कूल में पहुँचने में देर करना तथा किसी पूर्व निश्चय के अनुसार किसी स्थान पर ठीक समय से न पहुँच सकना उसके समय की अवधि को समझने की असमर्थता का द्योतक है। सुबह की क्रियाशीलतायें शाम से भिन्न होती हैं, दिन में कुछ और काम किया जाता है और रात को कुछ और ही—इसलिए लगभग २½ या ३ वर्ष का बच्चा सुबह और शाम अथवा दिन और रात के भेद को समझ सकता है। चार वर्ष के बच्चे प्रायः यह बतला सकते हैं कि आज मंगल है या बुधवार, परन्तु महीने या ऋतु का ज्ञान उन्हें एक साल बाद ही आता है। एक वर्ष के समय की अवधि का ज्ञान उन्हें सबसे बाद में होता है। एलकाइन² ने १० से १५ वर्ष के बच्चों से ५, १०, १५ तथा ३० सेकेण्ड और १, २, ३ और ५ मिनट की अवधि को पहचानने के लिए कहा। एलकाइन ने देखा कि बच्चों ने पहचानने में बड़ी गलती की। वे छोटी अवधि को बड़ी करके बतलाते थे और बड़ी अवधि को छोटी करके। तीस सेकेण्ड और एक मिनट का उनका अनुमान और अनुमानों की अपेक्षाकृत शुद्धतर था।

¹ Werner H. : Comparative Psychology of Mental Development, p. 298.

² Elkin, D.—Journal de Psychologie, 25, 425—429, 1928.

फ्रीडमैन¹ ने किण्डरगार्टन तथा प्राइमरी स्कूल के बच्चों से उनके समय-प्रत्यय के सम्बन्ध में पूछा और उसने देखा कि एक सामान्य बालक "कुछ देर पहले" का तात्पर्य "बहुत देर पहले" की अपेक्षा अधिक समय का प्रत्यय अनुभव अच्छी तरह समझता था। ग्यारह या बारह वर्ष के बच्चे पर निर्भर। इसे प्रायः 'न' के समान समझते हैं। फ्रीडमैन ने देखा कि

समय-प्रत्यय का विकास कक्षा की अवस्था से जितना सम्बन्धित था उतना बुद्धि-लब्धि के होने से नहीं, अर्थात् ऊँची बुद्धि-लब्धि के होने से ही किसी का समय-प्रत्यय अच्छा न होगा, समय के प्रत्यय के लिए ऊँची उम्र अर्थात् पर्याप्त अनुभव की अधिक आवश्यकता होती है।

ओकडेन और स्टर्ट² ने अपने अध्ययन में देखा कि चार वर्ष के बच्चे यह नहीं समझ सकते कि दिन या रात में ४ बजने, ८ बजने या १२ बजने का क्या अर्थ होता है। पाँच वर्ष के बच्चों को समय का, अवधि का विशेष ज्ञान नहीं हो सकता; परन्तु किसी समय कितना बजा है। इसका अनुमान उन्हें थोड़ा-थोड़ा होता है। सातवें वर्ष की उम्र के बाद बच्चे को समय की अवधि का कुछ सन्तोषजनक ज्ञान हो जाता है। आठ या दस वर्ष के बच्चे तारीख तथा वर्ष का नाम प्रायः बतला दिया करते हैं।

बच्चे के समय-प्रत्यय के विकास में वैयक्तिक भेद पाया जाता है, परन्तु अमेस³ ने देखा कि इसका विकास प्रत्येक बच्चे में प्रायः एक क्रम से चलता है। उसने देखा कि विकास का क्रम इस प्रकार का होता है : वर्तमान व्यक्ति भेद काल से सम्बन्धित शब्दों को बच्चा पहले सीखता है, इसके बाद भविष्य और तब भूत काल से सम्बन्धित शब्दों को वह सीख पाता है। उदाहरणार्थ, 'आज' शब्द का प्रयोग प्रायः २४ वें महीने में देखा जाता है, 'आने वाले कल' का प्रयोग ३०वें महीने पर और 'बीते हुए कल' का प्रयोग वह प्रायः ३६वें वर्ष पर सीखता है।

चौथे वर्ष की अवस्था में बच्चे 'सुबह' या 'दोपहर' का अर्थ समझने लगते हैं। दिन का नाम तथा सप्ताह में दिन के नाम वे पाँचवें वर्ष में समझने लगते हैं। सातवें वर्ष में वे यह समझने लगते हैं कि किसी समय कितना बजा है। इस समय वे महीने और ऋतु के नाम भी बहुधा बतला सकते हैं।

¹ Friedman, K. C.—"Time Concepts of Elementary School Children," *Elementary School*, 44, pp. 337-342, 1944.

² Oakden, F. C. and Strut, M.—"The Development of the Knowledge of Time in Children, *British Journal of Psychology*, 12, 309-336, 1922.

³ Ames, L. B.—The Development of the Sense of Time in the Young Child, *Journal of Genetic Psychology*, 68, 97-125, 1946.

तौल का प्रत्यय (Concept of Weight)

तौल का प्रत्यय पाना बच्चों के लिए बड़ा ही कठिन होता है, क्योंकि वे नहीं समझ पाते कि एक ही आकार को विभिन्न वस्तुएँ भिन्न-भिन्न तौल की होती हैं। बच्चे आकार से अधिक प्रभावित होते हैं। अतः वे अनुभव और बुद्धि पर कह सकते हैं कि एक हवा से भरा हुआ बड़ा गेंद लोहे की एक छोटे गोले से तौल में बड़ा है। प्रायः यह देखा जाता है कि बच्चे वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सँभालने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि प्रारम्भ में वे उनकी तौल का गलत अनुमान करते हैं। कुछ अनुभव के बाद ही बच्चे यह समझ पाते हैं कि कुछ वस्तुएँ और खिलौने दूसरों से हलके या वजन में अधिक होती हैं। सामान्य बुद्धि के बच्चों को यह समझने में देर नहीं लगती कि वस्तुओं की तौल के अनुमान में उनके आकार तथा उन धातुओं पर ध्यान देना चाहिये जिससे वे बनी हैं।

जब दो वस्तुओं की तौल की तुलना करने को कहा जाता है तो बच्चों का अनुमान बहुत गलत नहीं निकलता—वे एक को भारी और दूसरे को हलका बतलाने में समर्थ होते हैं। परन्तु यह योग्यता प्रायः पाँचवें वर्ष में दो वस्तुओं की तौल की ही आती है। बाल्डविन¹ और स्ट्रेचर ने अपने अन्वेषण में तुलना का अनुमान देखा कि तीन से छः वर्ष के बच्चे ३ और २४ ग्राम की बहुत गलत नहीं तौल के अन्तर को समझ सकते हैं। कुछ बच्चे ३ और ६ तथा ९ और १२ ग्राम के अन्तर को भी समझते हैं। उन्होंने देखा कि बहुत से बच्चे ३ और ६ ग्राम के अन्तर को समझने में समर्थ होते हैं। बिना बुद्धि-परीक्षा के स्टैनफोर्ड संशोधन में यह देखा गया कि पाँच वर्ष का एक सामान्य बच्चा ३ और १५ ग्राम की तौल को समझता है। प्रायः यह विश्वास² किया जाता है कि १२वें वर्ष के लगभग तौल-प्रत्यय योग्यता का अधिकतम विकास हो जाता है और इसके बाद इस योग्यता में बहुत ही कम विकास होता है।

आकार और स्वरूप का प्रत्यय (Concept of Size and Form)

बच्चों को आकार और स्वरूप का ज्ञान जल्दी हो जाता है, क्योंकि सन्दूक, खिलौना, बिस्तर, मेज तथा कुर्सी इत्यादि वस्तुओं के अन्तर को समझने में उन्हें

¹ Baldwin, B. T. and Strecher, L. I.—The Psychology of the Pre-school Child, D. Appleton-Century Co. New York, 1924.

² Hurlock, E. B.—Child Development, 296, McGraw-Hill, New York, 1942.

उम्र और अनुभव
के बढ़ने पर

देर नहीं लगती। तीसरे वर्ष की उम्र में बच्चे इन सबके अन्तर को समझने लगते हैं। हिक्स¹ और स्टेवर्ट ने यह समझने का प्रयत्न किया कि २ से ५ वर्ष के बच्चे तीन रखे हुए सन्दूकों में से बीच वाले को चुन सकते हैं या नहीं। उन्होंने देखा कि दो वर्ष के बच्चे इसमें सफल नहीं हो पाते थे, परन्तु इससे ऊँची उम्र वाले अभ्यास पाने पर इसमें सफलता प्राप्त करते थे। थूम² ने अपने अन्वेषण में २ से ५ वर्ष के बच्चों को दिष्टे हुए ज्यामिति के चित्रों में से सबसे बड़ा, सबसे छोटा तथा मझले आकार वाले चित्र को चुनने के लिए कहा। उसने देखा कि सबसे बड़े और सबसे छोटे चित्रों को खोजने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती थी; परन्तु मझले आकार वाले चित्रों को चुनने में उन्हें बड़ी कठिनाई होती थी और बहुधा इसमें वे असफल भी होते थे। तीन वर्ष के नीचे के बच्चे इसमें और भी असफल होते थे। विभिन्न परीक्षणों से यह स्पष्ट है कि उम्र और अनुभव के बढ़ने के साथ आकार और स्वरूप को समझ सकने की योग्यता बच्चों में बढ़ती रहती है।

लॉङ्ग³ ने तीन से छः साल के बच्चों पर यह जानने के लिए परीक्षण किया कि गोलाकार और वर्गाकार के भेद को वे समझ सकते हैं या नहीं। लॉङ्ग ने देखा कि प्रायः सभी बच्चे इसमें समर्थ थे।

आत्म का प्रत्यय (Concept of Self)

दूसरों के विषय में प्रत्यय बनाने के पूर्व बालक सर्वप्रथम अपने बारे में प्रत्यय बनाता है। अर्थात् दूसरों के समझने के पूर्व वह अपने को कुछ समझ लेता है। अपने विषय में जो वह प्रत्यय बनाता है उसी के आत्म के प्रत्यय के अनुसार वह दूसरों के समझने का प्रयत्न करता है। दर्पण आधार पर दूसरों का समझना में देखने तथा अपने हाथ से विभिन्न अंगों को छूने से वह अपने शरीर के विभिन्न अंगों का अर्थ समझता है। उसकी यह क्रिया चौथे से पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाती है।

¹Hicks, J. A. and Stewert, F. D.—The Learning of Abstract Concept of Size, *Child Development*, 1, 195-203, 1930.

²Thrum, L. M.—“The Development of Concepts of Magnitude”, *Child Development*, 6, 120-140, 1935.

³Long, L.—“Conceptual Relationships in Children : The Concepts of Roundness”, *Journal of Genetic Psychology*, 57, 289-315, 1940.

बच्चे की अपने में बड़ी रुचि होती है। इसलिये अपने विषय में उसके प्रत्यय का विकास बड़े शीघ्र आरम्भ हो जाता है। टरमन और मेरिल द्वारा निर्मित बुद्धि परीक्षा-प्रश्नावलियों के दो साल के बच्चे को गुड्डे के शरीर के तीन अंग जैसे, बाल, मुँह और कान—को पहचान लेना चाहिए। १९२२ के टरमन संशोधन (बुद्धि-परीक्षा-प्रश्नावलियाँ) के अनुसार तीन वर्ष के बच्चे को यह जानना चाहिए कि वह लड़की है या लड़का, उसे अपना पूरा-पूरा नाम बतलाना चाहिए और उसे यह भी जानना चाहिए कि उसकी नाक, आँख, मुँह तथा बाल कहाँ हैं। वस्तुतः तीन-चार वर्ष के बच्चे अपने बारे में इससे अधिक जानते हैं। वे अपने शरीर के विविध अंग, जैसे—हाथ, उंगलियाँ, पैर, बाहु, अँगूठा आदि जानते हैं। वे अपने विभिन्न कपड़ों के नाम भी जानते हैं। टरमन के अनुसार छः साल का बच्चा अपने शरीर के दाहिने और बायें अंगों को पहचानता है और बिना गिने हुये वह बतला सकता है कि उसकी कितनी उंगलियाँ हैं। होरोविज़¹ के अनुसार बच्चे अपने आत्म का स्थानीयकरण (Localization) वक्षस्थल के ऊपर भाग और पेट की ओर संकेत करके करते हैं।

आलपोर्ट² के अनुसार बच्चे में अपने आत्म का प्रत्यय चौथे या पाँचवें साल से विकसित होता है। जेरसिल्ड³ के अनुसार जब बच्चा स्कूल जाने लगता है तो प्रतियोगिता की भावना में वह मन ही मन अपने गुणों को दूसरों के गुणों से तुलना करता है। जेरसिल्ड के अनुसार कुछ लड़के इस अवस्था में आत्मालोचना कर सकते हैं; और उपहास, असफलता तथा प्रतिष्ठाहानि के प्रति बड़े ही संवेदनशील (Sensitive) होते हैं।

बच्चे प्रायः अपने आत्म-प्रत्यय के विकास में दो प्रकार के प्रत्ययों का विकास करते हैं। एक प्रकार का प्रत्यय तो बाह्य व्यक्तियों के सम्पर्क के प्रभावस्वरूप विकसित होता है। जब बालक स्कूल जाना प्रारम्भ करता है तो प्रारम्भ में आत्म के दो उसके आत्मा का दूसरा स्वरूप विकसित होता है—यह स्वरूप उसके विचारों, भावनाओं और संवेगात्मक अनुभवों पर आधारित रहता है। इन दोनों प्रकार के आत्म का वह एकीकरण नहीं कर पाता। अतः वह अपने को बहुधा दो व्यक्तित्व वाला व्यक्ति समझता है। केशोर में पहुँचने में उसके आत्म के ये दोनों स्वरूप आपस में मिल जाते हैं। तब बच्चे एक समन्वित व्यक्ति की तरह व्यवहार दिखलाने में समर्थ होते हैं।

¹ Horowitz, S. F.—Spatial localization of the self, *Journal of Social Psychology*, 6, 379-387, 1935.

² Allport G. W.—Personality : A Psychological Interpretation, Holt, New York, 1937.

³ Jersild, A. T.—Child Psychology, 3rd Edition, Prentice Hall, New York, 1947.

सामाजिक प्रत्यय (Social Concept)

सामाजिक प्रत्यय का तात्पर्य उन बातों के समझने की योग्यता से है जिनसे बालक दूसरे के विचारों और संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को समझने में समर्थ होता है। इस योग्यता के सहारे दूसरों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ जीवन में सफलता के बातों को बालक समझने लगता है। जीवन सफलता के लिए बड़ी आवश्यकता लिए इस प्रकार की योग्यता प्राप्त करना बड़ा ही आवश्यक है।

दूसरों के व्यवहार तथा संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण से व्यक्ति में समाजिक प्रत्यय आता है। ध्वनि का प्रत्यय बच्चा बहुत पहले ही कर लेता है। आवाज से ही वह परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों ध्वनि का प्रत्यय का अनुमान कर लेता है। क्रोध, युद्ध अथवा प्रेम भरी आवाज की पहचान वह एक वर्ष की उम्र में प्रायः करने लगता है।

अन्वेषणों के आधार पर व्यूहलर¹ का कहना है कि तीन महीने की उम्र पर बच्चे को क्रोध अथवा प्रेम भरे शब्दों की पहचान नहीं रहती। वह दोनों को समान समझता है। पाँच महीने की अवस्था पर वह क्रोध के चेहरे के भावों का प्रत्यय भाव को समझने लगता है। जब कोई व्यक्ति उससे क्रोध दिखलाता है तो वह रोने की प्रतिक्रिया दिखलाता है। व्यूहलर इन सब में अनुकरण का अभाव अधिक देखता है। उसकी धारणा है कि आठवें महीने पर बच्चा दूसरों के चेहरे के भाव को समझने में असमर्थ होता है।

गेट्स² ने अपने एक अन्वेषण में देखा कि तीन वर्ष के प्रायः ५० प्रतिशत बच्चे चित्रों को देख कर हँसना तथा छः साल पर ५० प्रतिशत बच्चे दर्द, पहचान सकते थे। सात साल पर क्रोध; दस साल पर भय; ग्यारह साल पर विस्मय और घृणा को केवल ४३ प्रतिशत ही बच्चे पहचान सके। गेट्स ने देखा कि अच्छे वातावरण के बच्चों का साधारण वातावरण के बच्चों की अपेक्षा सामाजिक प्रत्यय अच्छा होता है।

सौन्दर्य का प्रत्यय (Aesthetic Concept)

व्यक्ति के सौन्दर्य की भावना उसके विभिन्न सम्बन्धों पर निर्भर करती है।

¹Buhler, K.—The Mental Development of the Child, Harcourt, New York, 1930.

²Gates, G. S.—An Experimental Study of the Growth of Social Perception, *Journal of Educational Psychology*, 10, 449-461, 1923.

सुखद भावना के पाने पर वह सोचता है कि सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तुयें सुन्दर हैं और दुखद भावना पाने पर उन्हें अब असुन्दर मानता है वस्तुतः न कोई वस्तु अपने में सुन्दर है और न असुन्दर। उसे सुन्दर अथवा असुन्दर मानना तो अनुभव करने वाले व्यक्ति के तात्कालिक भाव पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि सौन्दर्य का प्रत्यय व्यक्ति की भावना पर निर्भर करता है। बच्चा जिसे पसन्द करता है, उसे वह सुन्दर मानता है, और जिसे वह पसन्द नहीं करता उसे वह असुन्दर कहता है। जिन व्यक्तियों को वह चाहता है उन्हें वह सुन्दर ही समझता है, चाहे वे दूसरों की दृष्टि में असुन्दर ही क्यों न हों। इस बात की पुष्टि टरमन द्वारा निर्धारित प्रश्नावली से होती है। जब ५ वर्ष के बच्चों को कुछ स्त्रियों के चित्र दिखलाए गए तो उन्होंने सुन्दरतम के स्थान पर सबसे भद्दे चित्रों को पसन्द किया। पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि ये चित्र उसकी 'दादी' की तरह लगते हैं अथवा 'आया' के समान हैं।

गहरे रंग के चित्र जिनमें व्यक्तियों अथवा मशीन की गतियों की चित्रण रहता है बच्चों को बहुत अच्छे लगते हैं। कोई भी चित्र जिसमें लोग कुछ काम करते हुए चित्रित रहते हैं बच्चों को बड़े ही अच्छे लगते हैं। प्राकृतिक दृश्य बच्चों को तब तक अच्छे नहीं लगते जब तक उनमें कुछ क्रियाशील व्यक्तियों अथवा पशुओं का चित्रण न हो।

बच्चे किसी चित्र में निहित सौन्दर्य को समझ सकेंगे या नहीं यह चित्र के अर्थ को समझने की उनकी योग्यता पर निर्भर करता है। ह्लाइट और जॉनसन ने अपने एक अन्वेषण में देखा कि दो से पाँच वर्ष के बच्चे आदमी सम्बन्धी चित्रों को बड़ी सरलता से समझ जाते थे। यह भी देखा गया कि बच्चों के लिए बच्चों द्वारा बनाये हुए चित्र जितना महत्व और अर्थ रखते हैं, उतना महत्व और अर्थ कलाकारों के बनाये हुए चित्र उनके लिए नहीं रखते।

बच्चा किस वस्तु को सुन्दर मानेगा और किसे असुन्दर यह उसके सांस्कृतिक वातावरण पर भी कुछ हद तक निर्भर करता है। प्रौढ़ व्यक्तियों के साथ रहने के कारण बच्चे प्रायः सौन्दर्य-सम्बन्धी उन्हीं की भावनाओं को अपना लेते हैं। अपने लिए अच्छा न समझते हुए ऐसी स्थिति में बालक उन वस्तुओं को सुन्दर मान बैठता है जिन्हें प्रौढ़ लोग सुन्दर मानते हैं। जिसे माता-पिता या शिक्षक सुन्दर मानते हैं उन्हें बच्चे भी सुन्दर मान बैठते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते हैं, वे प्रौढ़ों के सौन्दर्य सम्बन्धी मापदण्ड को स्वीकार करने लगते हैं।

सौन्दर्य की भावना
व्यक्तिगत अनुभव और
सम्बन्धों पर निर्भर

गहरे रंग के चित्र और
प्राकृतिक दृश्य

अर्थ के समझ लेने की
योग्यता पर सौन्दर्य का
प्रत्यय निर्भर

सांस्कृतिक वातावरण
का प्रभाव

सात या आठ वर्ष की अवस्था पर बच्चों की सौन्दर्य-भावना फूलों, पशुओं तथा खिलौनों तक सीमित रहती है। बारह या तेरह वर्ष की अवस्था पर प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य को वे पहचानने लगते हैं। बच्चों की सौन्दर्य-भावना में लिङ्ग-भेद पाया जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को फूल, चित्र, प्राकृतिक दृश्य, तथा कपड़े अधिक सुन्दर लगते हैं और लड़के लड़कियों की अपेक्षा और वस्तुओं में अधिक सौन्दर्य देखने का प्रयास करते हैं।

कुछ विशिष्ट वस्तुओं को सुन्दर मानने के कारण—यह भी जानने का प्रयत्न किया गया है कि बच्चे किसी वस्तु को सुन्दर और किसी को असुन्दर क्यों मानते हैं। लार्क-होरोविज¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि बच्चों की सौन्दर्य की भावना सर्वप्रथम किसी वस्तु के तथ्य पर निर्भर करती है, तत्पश्चात् उसके रंग सम्बन्धी गुण का नम्बर आता है। उन्होंने देखा कि सामान्य बुद्धि के बच्चे वस्तु के प्रस्तुति (Presentation) की वास्तविकता तथा रंग पर विशेष ध्यान देते हैं और प्रतिभाशाली बच्चे चित्र के रंग तथा उसके विश्लेषण से पाये हुये ज्ञान से अधिक प्रभावित होते हैं। प्रतिभाशाली बच्चों के सौन्दर्य-बोध में सामान्य बालकों की अपेक्षा संवेग और कल्पना का भाग अधिक था।

बच्चा किस प्रकार का चित्र पसन्द करेगा यह उसकी उम्र और बुद्धि पर निर्भर करता है। लार्क-होरोविज² ने देखा कि चित्रों में बच्चे चित्रित व्यक्तियों के चेहरे के भाव पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि उनके उम्र और बुद्धि पर निर्भर सम्भावित गुणों पर। अधिक उम्र वाले बच्चे चित्र में आये हुये व्यक्तियों के कुछ विशिष्ट लक्षणों को बड़ा पसन्द करते हैं। लार्क-होरोविज ने देखा कि प्रतिभाशाली बच्चे सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण में मौलिकता, आकार, प्रकार तथा विधि पर विशेष ध्यान देते हैं। इसके विपरीत सामान्य बुद्धि के बच्चे सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण में साधारण और व्यक्तिगत बातों पर ध्यान देते हैं।

बच्चों की रंग-सम्बन्धी अभिरुचि (Colour Preference of Children)—रंग-सम्बन्धी अपनी अभिरुचि बतलाने के पूर्व यह आवश्यक है कि बच्चे विभिन्न रंगों को समझें। स्टेपुल्स³ ने बच्चों की रंग-सम्बन्धी अभिरुचि पर एक अन्वेषण किया।

¹ Lark-Horovitz, B.—On Art Appreciation of Children, I, Preference of picture subjects in general, *Journal of Educational Research* 31, 118-137, 1937.

² Lark-Horovitz, B.—On Art Appreciation of Children, II, Portrait preference study, *Journal of Educational Research*, 31, 572-598, 1938.

³ Staples, R.—The Responses of Infants to Colour, *Journal of Experimental Psychology*, 15, 119, 141, 1932.

स्टेपुल्स ने देखा कि बच्चे सबसे पहले लाल रंग को पसन्द करते हैं। इसके बाद क्रमशः पीले, नीले और हरे का नम्बर आता है। दो वर्ष के बाद बच्चों की पीले रंग में रुचि चली जाती है, अब वे नीले और हरे रंग को अधिक पसन्द करते हैं। क्लिण्डरगार्टेन के बच्चों के अपने अन्वेषण में डेशील¹ ने देखा कि बच्चे नीले रंग को सबसे अधिक पसन्द करते हैं, इसके बाद क्रमशः लाल और पीले रंग का नम्बर आता है। गार्थ और पोर्टर² ने अपने अन्वेषण में देखा है कि ७ वर्ष के बच्चे सफेद रंग बहुत ही कम पसन्द करते हैं, वे लाल रंग सबसे अधिक पसन्द करते हैं और इसके बाद वे नीले रंग को पसन्द करते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि बच्चा जितना छोटा होता है, वह उतना ही गहरा रंग अधिक पसन्द करता है। हलके रंग में छोटे की जितना छोटा उतना रुचि कम रहती है, उन्हें वे असुन्दर मानते हैं। उम्र के ही गहरा रंग पसन्द विकास के साथ उनकी प्रवृत्ति में परिवर्तन आता है। कैशोर में लड़के और लड़कियाँ हलका रंग पसन्द करती हैं। शायद शिक्षा के अभाव स्वरूप उनमें यह परिवर्तन आता है।

संगीत की रसानुभूति (Music Appreciation)—प्रायः यह सबका अनुभव है कि एक छोटा शिशु भी संगीत को पसन्द करता है। जब धीरे-धीरे गाया या गुनगुनाया जाता है तो उसे नींद आ जाती है। एक वर्ष की बच्चों को संगीत अवस्था के पूर्व संगीत सुनने की रुचि बच्चों में स्पष्टतः प्यारा देखी जाती है। यदि बच्चे को कहीं कुछ कष्ट हो रहा है तो संगीत की ध्वनि से उसे कुछ शान्त किया जा सकता है। बच्चे को लय बड़ी अच्छी लगती है और वातावरण के अनुसार उसमें एक विशिष्ट प्रकार के स्वर के लिए रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। ३ वर्ष की अवस्था पर बच्चा प्रायः यह कह देता है कि वह कौन सा गाना या ग्रामोफोन रेकार्ड को सुनना पसन्द करेगा। लेखक का ३ वर्ष का एक बालक कह देता है कि वह “लाई-लप्पा” वाले रेकार्ड को सुनेगा और दूसरों को नहीं। अपने प्रिय गाने को वह बच्चा जितनी बार सुनता है, वह गाना उसके लिए उतना ही प्रिय हो जाता है। संगीत की रसानुभूति के लिए उसके अर्थ को भी समझना आवश्यक है। ६ या ७ वर्ष की अवस्था पर बच्चे स्वर की गहनता और ऊँचाई को कुछ-कुछ समझ सकते हैं। दूसरों के स्वर को सुनने से उसकी गहनता और ऊँचाई का वे कुछ हद तक अनुकरण भी कर सकते हैं।

¹ Deshiell, J. F.—Children's sense of harmonies in colours and tones, *Journal of Experimental Psychology*, 2, 466-475, 1917.

² Garth, T. R. and Porter, E. P.—The Colour Preferences of 1932, Young children, *American Journal of Psychology*, 46, 448—451, 1934.

सीखना

(LEARNING)

परिभाषा

किसी नई परिस्थिति से सम्पर्क होने पर व्यक्ति में कुछ प्रतिक्रियायें होती हैं और ऐसे सम्पर्क की पुनरावृत्ति से जब उसका अभ्यास हो जाता है तो उसके व्यवहार में इस परिस्थिति के प्रति स्थायी परिवर्तन आ जाता है। मुख्यतः सीखने की प्रक्रिया किसी नई परिस्थिति में व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं पर आधारित होती है।

सीखने की प्रक्रिया के दो महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। प्रथम, अभ्यास तथा द्वितीय व्यवहार में स्थायी परिवर्तन। कुछ मनोवैज्ञानिक अनुभव-प्राप्ति अथवा वातावरण के साथ समायोजन को ही सीखने की प्रक्रिया की संज्ञा देते हैं, अभ्यास और व्यवहार परन्तु वास्तव में ये सीखने की प्रक्रिया न होकर उसके में स्थायी परिवर्तन उपयुक्त प्रमुख अंगों की सहायक क्रियायें हैं। वातावरण के उत्तेजक तत्वों की पुनरावृत्ति मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन लाने में सहायक होती है तथा विभिन्न क्रियाओं के अनुभव सीखने की प्रक्रिया के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। इनकी विवेचना सीखने की प्रक्रिया के सहायक उत्तेजक एवं स्थायी भावों के रूप में की जा सकती है जिसके द्वारा मनुष्य की प्रेरणात्मक अवस्थाओं की सन्तुष्टि होती है। गेट्स, वर्नहर्ट आदि मनोविज्ञान शास्त्रियों ने भी विभिन्न परिस्थितियों के अभ्यास व तत्सम्बन्धी व्यावहारिक परिवर्तन को ही सीखने की प्रक्रिया के प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया है। अतः विभिन्न तत्वों व परिस्थितियों के सम्पर्क अभ्यास और उसके फलस्वरूप व्यवहार में स्थायी परिवर्तन ही मनुष्य के सीखने की प्रक्रिया है।

परिपक्वता

(Maturation)

परिपक्वता सीखने की प्रक्रिया की एक पूरक स्वाभाविक अभिवृद्धि है जो मनुष्य को सीखने की प्रक्रिया में गति लाने में सहायक होती है। कई प्रारम्भिक

मनोविज्ञानिकों ने परिपक्वता व सीखने की प्रक्रिया संयुक्त करने की भूल की है और इसे एक ही माना है। अतः इसे भली प्रकार स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है। पर्याप्त समानता होते हुए भी ये मानव स्वभाव की दो अलग-अलग क्रियायें हैं पर मनुष्य की एक स्वाभाविक क्रिया है। जन्म के पश्चात् प्रत्येक बच्चे स्वाभाविक क्रियायें जैसे मांसपेशियों, स्नायुओं व शरीर के विभिन्न अंगों में वृद्धि, बाल उगना, दाँत निकलना, आदि बिना किसी बाह्य प्रभाव व प्रयत्न के अपने आप होती हैं। इन विकास-क्रियाओं में शीघ्रता या विलम्ब बच्चों के जन्मजात गुणों पर आधारित होती है। वातावरण अथवा परिस्थितियाँ इन क्रियाओं में कोई स्थायी बाधा उत्पन्न करने में सहायक नहीं हो सकतीं। इस सम्बन्ध में किए गये विभिन्न प्रयोगों से कुछ और तथ्य प्रकाश में आये हैं। प्रथम यह कि अलग-अलग बातों व कार्यों को सीखने के लिये परिपक्वता की अवस्थायें अलग-अलग होती हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी बच्चे की गेंद खेलना सीखने की परिपक्वता-वय ५ वर्ष है तो तैरना सीखने की परिपक्वता वय का भी पाँच वर्ष होना आवश्यक नहीं। वह इससे कुछ कम या अधिक कुछ भी हो सकती है। द्वितीय यह कि सीखने की प्रक्रिया के उपयुक्त परिपक्वता की आवश्यकता होती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार गर्भावस्था में भी शिशुओं में सीखने के गुण विद्यमान रहते हैं। जन्म के पश्चात् शिशु-अवस्था में प्रयत्न करने पर उन्हें कई क्रियायें सिखाई जा सकती हैं। मनुष्य के शारीरिक-विकास की लगभग सभी अवस्थाओं में उनमें सीखने के गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु किसी क्रिया विशेष के सीखने में आवश्यक गति उत्पन्न करने के हेतु अपेक्षित परिपक्वता के लिये उपयुक्त अवस्था का होना अनिवार्य है। सम्बन्धित प्रयोगों में यह पाया गया है कि परिपक्वता-वय से पूर्व बच्चे जिस क्रिया के सीखने में अधिक समय व अधिक परिश्रम के उपरान्त भी सामान्य गति लाने में सफल नहीं होते, परिपक्वता-वय होने पर उसी क्रिया को अपेक्षाकृत बहुत कम समय और कम परिश्रम में सरलतापूर्वक सीख लेते हैं और गति भी सामान्य से तीव्र रहती है।

परिपक्वता व सीखने की प्रक्रिया के अन्तर

(The Differences between Maturation and Learning Process)

(क) परिपक्वता एक स्वाभाविक या जन्मजात अभिवृद्धि है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की जातिगत विशेषताओं से होता है और यह सामान्य क्षमता सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहती है। सीखने की प्रक्रिया मनुष्य की अर्जित अभिवृद्धि है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के तत्सम्बन्धी अभ्यास से होता है, परन्तु समान अभ्यास द्वारा अर्जित क्षमता सभी व्यक्तियों में समान नहीं पाई जाती।

(ख) परिपक्वता का सम्बन्ध मनुष्य के विभिन्न अवयवों, मांसपेशियों, नाड़ी-मण्डल आदि के प्राकृतिक व स्वाभाविक विकास से होता है जिसके फलस्वरूप शरीर के आकार-प्रकार में वृद्धि व परिवर्तन होते हैं।

सीखने की प्रक्रिया का सम्बन्ध मनुष्य के विभिन्न अवयवों व मांसपेशियों की क्रियाओं से होता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य की प्रतिक्रियाओं में वृद्धि व परिवर्तन होते हैं।

(ग) परिपक्वता का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक-संरचना में स्थायी परिवर्तन से होता है और इसमें परिस्थितियों व वातावरण का प्रभाव सर्वथा नगण्य होता है। सीखने की प्रक्रिया का सम्बन्ध मनुष्य की व्यावहारिक क्रियाओं में स्थायी परिवर्तन से होता है और इसमें प्राकृतिक व स्वाभाविक गुणों का प्रभाव सर्वथा नगण्य होता है।

सीखने के सिद्धान्त

(Theories of Learning)

सीखने की प्रक्रिया-सम्बन्धी विभिन्न प्रयोगों से कई प्रकार के फल प्राप्त हुए हैं। अतः इस सम्बन्ध में किसी निश्चित सिद्धान्त के निर्धारण का प्रश्न अभी विवाद-प्रस्त है। प्रमुख मनोविज्ञान-शास्त्रियों के इस सम्बन्ध में विचार भिन्न-भिन्न हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अग्रलिखित हैं।

(क) प्रयास व भूल का सिद्धान्त (Theory of Trial and Error)

(ख) अनुकरण का सिद्धान्त (Theory of Imitation)

(ग) सम्बद्ध प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त (Theory of Conditioned Reflex)

(घ) अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त (Theory of Insight)

(क) प्रयास व भूल का सिद्धान्त

(Theory of Trial and Error)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक थार्नडाइक और कुछ अन्य अमेरिकी मनोवैज्ञानिक हैं। उन्होंने बालकों पर कई प्रयोग किये और ज्ञात किया कि क्रियाओं की पुनरावृत्ति में प्रत्येक बालक भूल सुधार करता रहता है। प्रारम्भ में हर अगले प्रयास में प्रत्येक बालक किसी कार्य को करने में अधिक समय लेता है पिछली भूल का सुधार : और इससे स्वाभाविक अशुद्धियाँ भी होती हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों वह उसे दोहराता जाता है अपेक्षाकृत समय भी कम सिद्धान्त के अनुसार लेता है और भूलें भी कम होती हैं। पशु-पक्षियों पर किये गये प्रयोगों में भी लगभग इसी प्रकार के परिणाम निकले।

थार्नडाइक ने बिल्लियों और पालतू चूहों (White rats) पर प्रयोग किया। उनमें यह देखा गया कि पिंजरे में बन्द भूखी बिल्ली बाहर के खाद्य-पदार्थों के लोभ में पिंजरे से बाहर आने का सतत् प्रयत्न करती है, अपने सभी प्रयासों में वह पिछले प्रयासों की अपेक्षाकृत कम भूलें करती है और अन्त में पिंजरे की खिड़की की कुण्डी खोलकर बाहर आने में समर्थ हो जाती है। लगभग यही बात चूहों के प्रयोगों में भी पाई गई। चूहों के बिल स्वयं ही एक प्रकार के भूलभुलैया होते

हैं परन्तु चूहे उनमें सरलतापूर्वक बिना भटके आते-जाते रहते हैं और हिंसक जीव-जन्तु उन बिलों में उनका पीछा करके भी उन्हें पकड़ नहीं पाते। थार्नडाइक ने कुछ चूहों को जब एक पेचीदे भूलभूलैयानुमा बिलों में रक्खा तो नई परिस्थितियों के कारण उनके आने-जाने में कठिनाइयाँ हुईं और उन्होंने राह भटकने की भी भूलें कीं। परन्तु ज्यों-ज्यों वे आने-जाने की क्रिया को दुहराते गये भूल-सुधार होता गया और थोड़े समय में ही वे नई परिस्थिति में भी बिना भटके सरलतापूर्वक आने-जाने लगे। इसी प्रकार के विभिन्न प्रयोगों पर आधारित थार्नडाइक का 'प्रयास और भूल' का सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रयास व भूल-सुधार द्वारा सीखता है।

(ख) अनुकरण का सिद्धान्त

(Theory of Imitation)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हेगार्टी तथा अन्य कई मनोवैज्ञानिक हैं। इनके अनुसार सीखने की प्रक्रिया में अनुकरण-शक्ति की ही प्रधानता रहती है। प्रत्येक बालक अधिकांश क्रियायें दूसरे बालकों या अन्य लोगों की प्रत्येक व्यक्ति दूसरों क्रियाओं की नकल करके सीखता है। सीखना अनुकरण द्वारा का अनुकरण करता है ही सर्व सुविधाजनक है। अनुकरण द्वारा बालक बहुत शीघ्र सीख जाते हैं जबकि उनकी मानसिक और अन्य स्वाभाविक शक्तियाँ देर में विकसित होती हैं। अनुकरण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में बालक-बालिकाओं तथा पशु-पक्षियों पर जो प्रयोग किये गये उनके परिणामों में पाया गया कि जिस कार्य को प्रारम्भ में बड़े परिश्रम और कई प्रयत्नों के पश्चात् एक बालक करता है उसी कार्य को दूसरा बालक देखकर अपेक्षाकृत कम परिश्रम और कम समय में सरलतापूर्वक कर लेता है। इस सीखने की पृष्ठभूमि में दूसरे बालक द्वारा पहले बालक के प्रयत्नों का अनुकरण ही प्रधान है। बन्दरों पर किये गये प्रयोगों में भी लगभग इसी प्रकार के परिणाम निकलते हैं कि जिस क्रिया की खोज एक बंदर पर्याप्त समय और पर्याप्त परिश्रम के उपरान्त करता है उसको देखते रहने वाले दूसरे बंदर बहुत शीघ्र और सरलता से उसे दुहरा लेते हैं। इन्हीं विभिन्न प्रयोगों पर आधारित हेगार्टी का अनुकरण का सिद्धान्त है जिसके अनुसार सीखने की दिशा में अनुकरण का ही सर्वाधिक महत्त्व है।

(ग) सम्बद्ध प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त

(Theory of Conditioned Reflex)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक रूसी मनोवैज्ञानिक पैवलव (Pavlov) हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वाटसन ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। उत्तेजक और स्थायी परिस्थितियों में सम्बन्ध स्थापित करना इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्थायी तथा उत्तेजक, दो प्रकार की परिस्थितियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करके सीखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की सहज क्रियाओं (Reflex

actions) में कोई परिवर्तन न करते हुए प्रतिक्रिया (Response) और परिस्थिति (Situation) के सम्बन्धीकरण द्वारा ही मनुष्य सीखते हैं। इसी के अनुक्रम में पेवलव का असम्बद्ध प्रत्यावर्तन (Deconditioned Reflex) की भी प्रतिक्रिया है जिसके अनुसार प्रतिक्रिया और परिस्थिति के स्थापित सम्बन्ध की यदि पर्याप्त समय तक पुनरावृत्ति न की जाय तो-धीरे-धीरे सम्बन्ध शिथिल हो जाता है। इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में भारतीय परिस्थिति की एक रोचक व्यंग कथा का उल्लेख किया जा सकता है। दूसरों के अनुकरण में सिद्धहस्त एक सज्जन ने एक कुत्ता पाला और उसमें भौंक कर भोजन मांगने का कार्य सिखाने के लिये प्रतिदिन उसके समक्ष भोजन रखकर स्वयं भौंकने का प्रदर्शन करते रहे। कालान्तर परिस्थिति कुछ उल्टी हो गई। कुत्ता भौंककर भोजन मांगना तो नहीं सीख पाया परन्तु इसका अभ्यस्त अवश्य हो गया और जब तक वह स्वयं भोजन रख कर भौंकने की नकल न कर लेते, वह भोजन ही न ग्रहण करता। पेवलव के सम्बन्धीकरण सिद्धान्त के प्रयोग भी कुत्तों पर हुए हैं। एक कुत्ते को भोजन से पूर्व घंटी बजाकर अभ्यस्त किया गया। कालान्तर वह भोजन की घंटी की आवाज सुनकर ही लार टपकाने लगता जबकि स्वाभाविक स्थिति में भोजन सामने होने पर ही कुत्ते लार टपकाते हैं। पुनः जब उसे घंटी बजने की क्रिया से असम्बद्धित करने के लिये घंटी बजाना रोक दिया गया तो कुछ समय पश्चात् वह पुनः अपनी स्वाभाविक परिस्थिति में आ गया और यदि घंटी बजाई भी गई तो उससे कुत्ते ने लार न टपकाई। इसी प्रकार के विभिन्न प्रयोगों पर आधारित पेवलव की सम्बद्धीकरण द्वारा सीखने व असम्बद्धीकरण द्वारा भूलने की विचारधारा है। बालकों में भय, घृणा, प्रेम आदि की उत्पत्ति परिस्थिति के सम्बद्धीकरण द्वारा ही होती है। अतः बालकों को अच्छे गुणों के सम्बद्धीकरण और उनमें लतपन्न दुर्गुणों के असम्बद्धीकरण द्वारा सुधारा जा सकता है। शिक्षा-क्षेत्र में बालकों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी विकास की दृष्टि से इसका परीक्षण बहुत उपयोगी हो सकता है।

(घ) अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त

(Theory of Insight)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक कोफका, कोह्लर आदि गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक तथा समर्थक अमेरीकी मनोवैज्ञानिक आलपोर्ट हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त को सबसे महत्त्वपूर्ण व प्रभावशाली माना है। इसके अनुसार सीखने में मनुष्य की अन्तर्दृष्टि ही सर्वाधिक सहायक होती है। मनुष्य, पशु-पक्षी, सभी अन्तर्दृष्टि के प्रयोग द्वारा नई बातें सरलतापूर्वक सीखते हैं। मनुष्य की अन्तर्दृष्टि अन्य जीवों की अपेक्षाकृत अधिक होती है। अतः वह किसी बात को जल्द सीख लेता है। बालकों और बंदरों पर इस सम्बन्ध में कई प्रयोग हुये हैं और उनसे यह परिणाम निकला है कि किसी ऊँचे स्थान पर रखी हुई आकर्षण की वस्तुओं को उपलब्ध उपकरणों की सहायता से वे प्राप्त कर लेते हैं। बालकों द्वारा ऊँचे स्थानों पर रखी हुई

वस्तुओं को मेजों, कुर्सियों या तिपाइयों की सहायता से प्राप्त करने की सामान्य क्रिया की भूलक तो दैनिक पारिवारिक जीवन में सभी को मिलती है, परन्तु बंदरों और बिल्लियों द्वारा विभिन्न उपायों से पहुँच से दूर रखी हुई वस्तुओं को येनकेन प्रकारेण प्राप्त करने की क्रिया भी लोगों को देखने को मिलती हैं। कौवे द्वारा कम पानी के घड़े के पानी के स्तर को कंकड़ डालकर ऊँचा करने की प्रसिद्ध बाल कथा के पीछे कुछ न कुछ सच्चाई अवश्य होगी। ये सभी परिस्थितियाँ अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखने की प्रक्रिया की द्योतक हैं। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों ने बंदरों पर प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि वे पहुँच से दूर रखी हुई खाद्य-सामग्री को आसपास उपलब्ध छड़ी, तिपाई, लकड़ी के छोटे-छोटे डिब्बों को जोड़कर प्राप्त कर लेते हैं। आलपर्ट के बालकों पर किये गये प्रयोगों के ये परिणाम निकले कि बालक-बालिकाएँ पहुँच से दूर की वस्तुओं को प्राप्त करने में अपेक्षाकृत शीघ्रता करती हैं और उपयुक्त साधन भी जल्द चुन लेते हैं। इसका कारण बंदरों की अपेक्षाकृत उनकी सूझबूझ का अधिक विकसित होना है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार सीखने के लिए मनुष्य की अन्तर्दृष्टि का अधिक महत्त्व होता है।

सीखने के नियम (Laws of Learning)

विभिन्न प्रयोगों और उससे सम्बन्धित सिद्धान्तों की विवेचना के साथ-साथ थार्नडाइक ने कुछ नियमों व उपनियमों की भी विवेचना की है जिनमें निम्नलिखित तीन नियम विशेष उल्लेखनीय हैं :—

- (क) अभ्यास-सम्बन्धी नियम (Law of Exercise)
- (ख) तत्परता-सम्बन्धी नियम (Law of Readiness)
- (ग) परिणाम-सम्बन्धी नियम (Law of Effect)

(क) अभ्यास-सम्बन्धी नियम (Law of Exercise)

अभ्यास-सम्बन्धी नियम को उपयोग और अनुपयोग का नियम (Law of use and disuse) भी कहते हैं। मनुष्य किसी क्रिया को पुनरावृत्ति द्वारा सीखता है और प्रतिकूल परिस्थिति में उसे भूलने लगता है। अभ्यास से सम्बन्धी क्रिया में सरलता आती है और सीखी हुई क्रिया भली प्रकार स्मरण अभ्यास से निपुणता हो जाती है। पर्याप्त समय तक उस अभ्यास को न करने और सरलता से सम्बन्धी क्रिया को पुनः करने में कठिनाई उत्पन्न होती है और भूलने की भी सम्भावना रहती है। बालक की शिक्षा में अभ्यास का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त खेलकूद, व्यायाम, आदि में अभ्यास सर्वोपरि होता है। इन सब क्रियाओं में अभ्यास की उपादेयता सरलतापूर्वक देखी जा सकती है। मशीन व कलपुर्जों का चलाना, मरम्मत, आदि की कुशलता प्रमुखतया

अभ्यास पर ही आधारित होती है। इस प्रकार इस नियम के अनुसार अभ्यास द्वारा सीखने के साथ-साथ उसमें सरलता और निपुणता आती है और अभ्यास न होने पर विस्मरण होने लगता है।

(ख) तत्परता-सम्बन्धी नियम

(Law of Readiness)

किसी कार्य को सीखने या करने में सम्बन्धी व्यक्ति की इच्छा शक्ति का विशेष महत्त्व होता है। किसी बात अथवा कार्य को सिखाने के लिए सबसे उपयुक्त अवसर तब होता है जब सीखने वाले की उसमें रुचि सीखने के लिए तत्पर हो, और पूर्णरूप से उस क्रिया के लिए वह तत्पर हो। ऐसी परिस्थिति में सीखने के कार्य में सरलता और तीव्रता आ जाती है। इसके विपरीत परिस्थिति में सीखने वाले में सम्बन्धी क्रिया के प्रति अरुचि होती है तो वह उदासीन अथवा क्रोधित हो जाता है और सीखने की क्रिया में कठिनाई व शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार तत्परता-सम्बन्धी नियम के अनुसार सीखने वाले की तत्परता की स्थिति में सीखने की क्रिया सरल और उसकी गति तीव्र रहती है।

बालक की शिक्षा में उनकी तत्परता और रुचि का विशेष महत्त्व होता है। इसी तत्परता को ही बहुधा लोग बालकों की सीखने की प्रकृति की संज्ञा देते हैं। शिक्षा-क्षेत्र में बालकों की मानसिक तत्परता विकसित करके शिक्षण को विशेष प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

(ग) परिणाम-सम्बन्धी नियम

(Law of Effect)

परिणाम-सम्बन्धी नियम की परिस्थितियाँ तत्परता-सम्बन्धी नियम के प्रायः प्रतिकूल हैं। यदि किसी कार्य की प्रतिक्रिया या उसके प्रभाव स्वरूप व्यक्ति को संतोष अनुभव होता है तो वह परिस्थिति उसके लिए रुचिकर होती है और इसके विपरीत यदि क्रिया विशेष का प्रभाव संतोष-पूर्ण अथवा सुखदायक नहीं होता तो परिस्थिति अरुचिकर होती है। सीखने में रुचि का विशेष महत्त्व होता है। अतः किसी क्रिया के प्रारम्भ की परिस्थिति चाहे जैसी हो यदि उसका प्रभाव या परिणाम रुचिकर अथवा सुख देने वाला होगा तो वह सीखने की दिशा में सहायक होगा। इस प्रकार परिणाम-सम्बन्धी नियम के अनुसार क्रिया विशेष का परिणाम रुचिकर और सुखदायक होने पर सीखने की प्रक्रिया सरल तथा गति-तीव्र होगी। शिक्षा-क्षेत्र में बालकों के कार्यों के लिए अध्यापकों और अभिभावकों द्वारा सराहना, प्रोत्साहन और पुरस्कार की उचित व्यवस्था, उनके कार्य-परिणामों की परिस्थिति को रुचिकर और सुखदायक बनाकर, सीखने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान में समर्थ हो सकती है।

सीखने का विकास

(Development of Process of Learning)

किसी बालक की सीखने की प्रक्रिया के दो महत्वपूर्ण आधार होते हैं :—

- (क) बालक की जन्मजात क्षमता (The Innate Capacity of the Child)
- (ख) बालक के पालन-पोषण का वातावरण (The Environment of the Child)

(क) बालक की जन्मजात क्षमता

मनोवैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि बालकों में सीखने की प्रक्रिया गर्भावस्था में भी होती है। इसे हम दूसरे रूप में इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि गर्भावस्था की कुछ परिस्थितियाँ गर्भस्थ शिशु पर अपना शरीर-रचना और प्रभाव डालती हैं। गर्भावस्था की किसी उल्लासपूर्ण परि- स्नायु-मण्डल की कुछ स्थिति से प्रभावित शिशु जन्म के उपरान्त उसी के समकक्ष जन्मजात विशेषताएँ उल्लासपूर्ण वातावरण से तथा भयावह परिस्थिति से प्रभावित शिशु उसी के समान वातावरण से परोक्ष रूप से सम्बद्ध हो जाता है। यद्यपि सभी शिशुओं में इस प्रकार की प्रतिक्रिया का होना आवश्यक नहीं और बाद की परिस्थिति में अभ्यास द्वारा ये प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे समाप्त भी हो जाती हैं, परन्तु साँस लेना, दूध पीना, अपने हाथ-पाँव हिलाकर पेय हजम करना, किसी वस्तु को पकड़ना आदि कुछ ऐसे जन्मजात संस्कार होते हैं जो प्रत्येक शिशु बिना किसी सहायता या प्रयास के स्वयं सीख लेता है। शरीर-रचना और स्नायुमंडल की कुछ जन्मजात विशेषतायें किसी-किसी बालक में ऐसी होती हैं कि वे दूसरों की अपेक्षा जल्दी सीख लेते हैं। इन्हीं को जन्मजात क्षमता कहा जाता है।

(ख) बालक के पालन-पोषण का वातावरण

बालकों की जन्मजात क्षमता से भी महत्वपूर्ण वह वातावरण होता है जिसमें उसका पालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा होती है। वातावरण जितना ही उपयुक्त, आकर्षक और सुविधाजनक होगा, सीखने की क्रिया उतनी ही विकसित अत्यन्त महत्वपूर्ण होगी। किसी बात के सिखाने में उसकी विधि व समय की उपयुक्तता ही विशेष महत्वपूर्ण होती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने विश्लेषण द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रारम्भिक २ या ३ वर्षों में बालकों के सिखाने की क्रिया में उनके शरीर के विभिन्न अंगों की नियमित और निर्विरोध क्रियाशीलता का तथा अगले ३ या ४ वर्षों में उनकी स्वाभाविक वृत्तियों के विकास और अभिवृत्तियों के अनुसार खेल-कूद के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। इसके पश्चात् के ३ या ४ वर्ष के काल अर्थात् १० वर्ष की आयु तक बालकों में क्रियात्मक शक्ति का विकास होता है। अतः उनकी इस शक्तिधारा को रचनात्मक

कार्यों की ओर नियोजित करके उसको उपयोगी बनाया जा सकता है। सारांश यह है बालकों की आयु के प्रारम्भिक दस वर्षों में सिखाने की क्रियायें और कार्यक्रम उनकी कि स्वाभाविक प्रवृत्तियों और अभिरुचियों पर आधारित होना चाहिये। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा-शास्त्री पूर्व-प्राथमिक-स्तर पर नर्सरी पद्धति तथा प्राथमिक स्तर पर विभिन्न हस्तकला विषयों से युक्त बेसिक-पद्धति की शिक्षा को अधिक उपयुक्त मानते हैं। इस आयु के ३ या ४ वर्ष पश्चात् भी अर्थात् किशोरावस्था में बालकों को सहानुभूति और प्रोत्साहन की आवश्यकता पर बल देने के साथ-साथ उनकी बौद्धिक योग्यता और शारीरिक क्षमता के अनुसार कार्यक्रम निर्धारण तथा पारस्परिक स्नेह और सहयोग की भावना विकसित करने के प्रयत्न होने चाहिये

सीखने की प्रक्रिया के प्रभावकारी तत्व

(Effective Factors of Process of Learning)

मानव-जीवन की कई परिस्थितियाँ उसके सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। इनसे सम्बन्धित तत्वों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

- (१) मनोवैज्ञानिक-तत्व (Psychological Factors)
- (२) शारीरिक-तत्व (Physiological Factors)
- (३) वातावरण जनित-तत्व (Environment Factors)

(१) मनोवैज्ञानिक तत्व (Psychological Factors)

सम्प्रेरणा या प्रेरणा (Motivation)—सीखने की क्रिया में बालकों की अभिरुचि विकसित करने के लिए मनोवैज्ञानिक तत्व सम्प्रेरणा का विशेष महत्व है। उन्हें सीखने की दिशा में आकर्षित व प्रोत्साहित करने हेतु कई प्रकार की बाह्य और अन्तरिक सम्प्रेरणात्मक क्रियायें हो सकती हैं।

बाह्य सम्प्रेरणा—प्रशंसा और पुरस्कार तथा आरोप और दण्ड बाह्य सम्प्रेरणा के बहुत उपयोगी साधन हैं। प्रशंसा और पुरस्कार द्वारा बालकों को सीखने की दिशा में अग्रसारित करने तथा उनके सीखने की गति में तीव्रता लाने के लिए सरलतापूर्वक सम्प्रेरित किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रशंसा इस दिशा में सम्प्रेरणा के लिए उत्तेजना उत्पन्न करती है और पुरस्कार उस उत्तेजना को स्थायित्व प्रदान करता है। कोमल वय के बालकों को सम्प्रेरित करने के लिए ये बड़े उपयोगी साधन हो सकते हैं, और प्रखर बुद्धि बालकों की अपेक्षाकृत मन्द बुद्धि बालकों को अधिक प्रभावित करते हैं। इन्हीं को पूरक आरोप और दण्ड की क्रियायें कहते हैं। इनके उत्तेजक भाव भय, घृणा तथा स्थायीभाव शारीरिक दण्ड और सामाजिक भर्त्सना है। बालकों को अवगुणों से गुणों की ओर, असफलता से सफलता

की ओर परिवर्तित करने के लिए इनका प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि इनका प्रयोग प्रशंसा और पुरस्कार की अपेक्षाकृत अधिक उत्तेजक होता है और प्रखर बुद्धि बालकों को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करता है। कोमल वय के बालकों पर इनके प्रयोग में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है अन्यथा इनका प्रयोग हानिकारक हो सकता है।

अन्तः सम्प्रेरणा—मनुष्य के विभिन्न शारीरिक और समाजिक तत्व अन्तः सम्प्रेरणा के आधार हैं। मनुष्य की सहजक्रियाएँ रक्तसंचार व संवेदनात्मक क्रिया में उसकी शारीरिक सम्प्रेरणा तथा सुरक्षा, स्वाधीनता, शारीरिक और सामा- प्रोत्साहन आदि सामाजिक सम्प्रेरणा के आधार हैं। विभिन्न जिक तत्व शारीरिक सहज क्रियाओं व आवश्यकताओं से सम्बन्धित ज्ञान बालकों के लिए उपयोगी होंगे। अभिभावक और अध्यापक सामाजिक मान्यताओं और मर्यादा को ध्यान में रख कर इस सम्बन्ध में जानकारी दे सकते हैं तथा सतर्कता के साथ उनके संवेदनात्मक अंगों का सामाजिक मर्यादा सीमा तक यौन-सम्बन्धी भावनाओं का उचित संचालन किया जा सकता है। प्रोत्साहनपूर्ण एवं सुविधाजनक सामाजिक परिस्थितियाँ बालकों को सीखने की दिशा में सम्प्रेरित करती हैं तथा बाध्यता, बन्धन, असमर्थता, परतन्त्रता आदि की सामाजिक परिस्थितियाँ उनमें दृढ़ता, क्षोभ, पीड़ा, निराशा तथा भय आदि की भावना उत्पन्न करके शक्ति का ह्रास करती तथा बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। उपयोगी आन्तरिक व बाह्य सम्प्रेरकों के प्रभाव स्वरूप बालकों में सीखने की अभिरुचि विकसित होती है। बालकों के लक्ष्यों को स्पष्ट करके तथा समय-समय पर परीक्षाओं के आयोजन द्वारा उनकी प्रगति की जानकारी देकर भी सीखने की दिशा में प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेरित किया जा सकता है।

(२) शारीरिक तत्व (Physiological Factors)

सीखने की प्रक्रिया के शारीरिक तत्व के अन्तर्गत स्वास्थ्य और सुविधाजनक परिस्थिति दो महत्वपूर्ण अंग हैं। सीखने के लिये आवश्यक मानसिक तत्परता को ये दोनों अंग प्रभावित करते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि शारीरिक द्वारा मानसिक तत्परता का प्रभावित होना आवश्यक नहीं है। परन्तु यह भी तथ्य है कि शारीरिक असुविधा मानसिक-थकान उत्पन्न कर सकती है। इस प्रकार शारीरिक शरीर सम्बन्धी असमर्थता और अस्वस्थता का सीखने की दिशा में स्पष्ट बाधाओं को दूर करना प्रभाव पड़ता है। यदि किसी बालक की ज्ञानेन्द्रियों में से किसी में दोष है तो वह दोष सीखने की क्रिया में बाधा उत्पन्न करेगा। क्षुधा, शारीरिक कष्ट, दोषपूर्ण भोजन, अपाचन (अपच), अनिद्रा

तथा असंतोष, आदि भी बाधा उत्पन्न करते हैं। मानसिक स्वास्थ्य के लिये इन बाधाओं का दूर करना आवश्यक है।

सीखने के लिए सुविधाजनक स्थिति का भी विशेष महत्व है। शिक्षण-कक्ष में पूर्ण प्रकाश, शुद्ध हवा, उपयुक्त आसन, उचित वेशभूषा सीखने की क्रिया में सहायक होते हैं। विपरीत परिस्थिति में क्रमशः नेत्र अथवा किसी अन्य अंग पर विशेष भार, साँस लेने में कठिनाई, कार्य करने में आसन के कारण असुविधा, क्रिया विशेष में वेशभूषा के कारण बाधा या शीत या ताप से शारीरिक कष्ट आदि द्वारा शारीरिक और तदनुसार मानसिक थकान तथा ध्यानाकर्षण में बाधा उत्पन्न होगी।

(३) वातावरण जनित तत्व

(Environmental Factors)

सीखने की प्रक्रिया के लिए स्थान और उसके आसपास की परिस्थितियाँ भी विशेष प्रभाव डालती हैं। अधिक भीड़भाड़, शोरगुल और धूल से भरे वातावरण में बाधा उत्पन्न होती है और बालकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इसके विपरीत कम भीड़ के, शान्त और स्वच्छ वायु का वातावरण सीखने की क्रिया में सहायक होगा और बालकों का ध्यान सीखने की दिशा में केन्द्रित हो सकेगा। मादक वस्तुओं का प्रयोग व्यक्ति को सम्बन्धी वातावरण से असम्बद्ध कर देता है और सीखने की दिशा में हानिकारक पाया गया है। इन वस्तुओं के सेवन करने वाले बालकों के बारे में यह देखा गया है कि वे अन्य बालकों की अपेक्षाकृत कम सफलता प्राप्त कर पाते हैं।

**सीखने का स्थान
और आसपास की
परिस्थितियाँ**

सीखने की प्रक्रिया में अवरोध-स्थल (पठार)

(Plateaus in Learning)

सरिता-धारा के बीच-बीच में अवरोध स्थल होने की एक सामान्य परिस्थिति होती है जहाँ किसी भौतिक कारण से पठार निर्मित हो जाते हैं। इन स्थलों पर सरिता की धारा में अस्थायी अवरोध उत्पन्न हो जाता है। अस्थायी अवरोध सीखने की प्रक्रिया में भी कभी-कभी इसी प्रकार के अस्थायी गतिरोध उत्पन्न हो जाते हैं। इस परिस्थिति को अगर रेखाओं द्वारा अंकित किया जाय तो ये भी सरिताधारा के पठारों की आकृति के दिखाई पड़ते हैं। अतः इन अवरोध स्थलों को पठारों (Plateaus) की संज्ञा दी जाती है।

सीखने की क्रिया में पठारों की परिस्थिति के कई मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं :—

(१) पठारों की परिस्थिति का एक कारण यह हो सकता है कि सीखने वाला सम्बन्धी क्रिया को भली प्रकार न समझ कर केवल एक अंश ग्रहण कर कार्य प्रारम्भ

कर देता है और उस अंश के ज्ञान द्वारा सम्भव सफलता की चरम सीमा पर पहुँच कर भूल सुधार या पूर्ण क्रिया को समझने के लिए थोड़ा सम्बन्धी क्रिया को समय होता है। टंकन (Type-writing) तथा तार-पद्धति अच्छी प्रकार न समझ (Telegraphy) के सीखने में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि एक विशेष पद्धति द्वारा चरम गति प्राप्त की जा सकती है।

(२) सिंचाई के लिए बनाई गई नहरों के निरीक्षण से यह ज्ञात होगा कि उससे स्थान-स्थान पर अवरोध-स्थल (Docks) बनाए गए हैं। पानी रोककर पीछे से जल-स्तर को ऊँचा करने तथा आगे पानी की गति तीव्र करने के इनके दुहरे प्रयोजन होते हैं। सीखने की क्रिया में निर्मित होने वाले पठारों के भी दुहरे मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। नई क्रियाओं को सीखने की धुन में सीखने वाले पूर्वज्ञान के दुहराने का कार्य नहीं कर पाते। अतः एक निश्चित गतिमान के पश्चात् स्वाभाविक गतिरोध होने पर वे पिछली क्रियाओं का पुनर्निरीक्षण करके पूर्वजित ज्ञान को स्थायी बनाते हैं। यही आगे की क्रिया के लिए गति भी प्रदान करता है।

(३) गतिरोध का एक अन्य कारण व्यक्तिगत क्षमता और रुचि के सम्बन्ध में हो सकता है। प्रगति के एक स्तर पर सीखने वाले की क्षमता या रुचि घटने लगती है और सीखने की प्रगति मन्द पड़ जाती है। कुछ समय तक एक स्थिर गति की अवस्था में वह शक्ति संचय या नई रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है और पुनः नई स्फूर्ति और रुचि से आगे बढ़ता है।

सीखने की क्रिया में अवरोध-स्थलों (पठारों) की उपस्थिति सीखने की दिशा में चिन्ताजनक होने पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्वाभाविक है। इसके लिए विशेष चिन्ता की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

भाषा, तर्क और चिन्तन का विकास

(Development of Language, Reasoning and Thinking)

अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव ने अपने लिए भाषा की कल्पना की है। उसके विकास के क्रम में भाषा का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है।

क्योंकि भाषा के ही सहारे वह बहुत सी बातें सीख लेता है। भाषा बुद्धि के प्रयोग का एक साधन हो जाती है।

भाषा तर्क (Reasoning) का साधन है। अपने भावनाओं और विचारों के प्रकाशन में भाषा की सहायता बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता। इसीलिए शिक्षा का यह भी उद्देश्य होता है कि बच्चे को अपनी भाषा के प्रयोग और उपयोग का अच्छा ज्ञान हो जाय। किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए हमें उस देश की भाषा का सीखना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि भाषा ही में उस देश की सारी बातें मिल सकती हैं। इस प्रकार भाषा के विकास को समझना किसी भी शिक्षक के लिए आवश्यक है, इस समझ के आधार पर ही बालक के भाषा-विकास के लिए आवश्यक उपकरणों का वह आयोजन कर सकेगा।

बालक के व्यक्तित्व तथा सामाजिक विकास में भाषा का बड़ा भारी हाथ रहता है। भाषा का विकास व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास से सम्बन्धित

होता है। तभी तो हम देखते हैं कि एक निश्चित शारीरिक व्यक्तित्व और सामा- और मानसिक प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर ही भाषा का प्रयोग जिक विकास में भाषा प्रारम्भ करने में समर्थ होता है। जब तक उसके कण्ठ का हाथ (Vocal organs) के अवयव अच्छी तरह से प्रौढ़ नहीं हो जाते, शब्दों का स्पष्ट उच्चारण वह नहीं कर पाता।

भाषा कैसे सीखी जाती है ?

कुछ लोगों की धारणा है कि संकेत भाषा (Sign Language) के स्थान पर वाणी (Vocal Language) भाषा का विकास हुआ और मानव के स्नायुमण्डल के विकास के साथ-साथ इन दोनों प्रकार की भाषाओं का विकास होता रहा। कुछ

अन्य लोगों का मत है कि विपत्ति, सुख तथा अन्य भावनाओं की अनुभूति के प्रकाशनार्थ भाषा का विकास हुआ। कुछ लोगों ने यह भी सुझाव दिया है कि ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense) में समता के आधार पर शब्द अर्थात् भाषा का विकास हुआ; जैसे खट-खट, टन-टन, में-में, आह, हा-हा, आदि। बहुत से मनो-वैज्ञानिक भाषा के इस प्रकार के स्रोत को विशेष महत्त्व नहीं देते। उनका उद्देश्य केवल यही समझना होता है कि बच्चे भाषा कैसे सीखते हैं और भाषा के सीखने पर किन्-किन् बातों का प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिकगण 'भाषा को एक प्रकार का व्यवहार' (Language is a kind of behaviour) मानते हैं और उसके अनुसार अनुभव और विवृद्धि (Maturation) की एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाने पर एक सामान्य बालक के लिए भाषा एक साधारण प्रक्रिया है।

पहले यह विश्वास किया जाता था कि भाषा-सम्बन्धी बालक की प्रक्रिया जन्मजात (Innate or inborn) और मूलप्रवृत्त्यात्मक (Instinctive) होती है। परन्तु धारणा यह अब भ्रमात्मक मानी जाती है। वर्तमान विश्वास यह है कि भाषा सम्बन्धी कौशल (Linguistic skills) अर्जित किया जाता है; और इसके अर्जन (Acquisition) पर अपने व्यवहार में आवश्यक सुधार लाने की बालक की योग्यता का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बालक में भाषा-विकास उसके नासिका का घेरा, कण्ठ, होठ, जिह्वा, दाँत, वायु-नली तथा फेफड़े आदि पर निर्भर करता है। साथ ही भाषा-सम्बन्धी दूसरों की आदतों का भी बालक के भाषा-विकास पर प्रभाव पड़ता है।

माता-पिता ने यह देखा होगा कि भाषा बोलने के महीनों पहले शिशु कुछ शब्दों का अर्थ समझता है और कुछ संकेतों और ध्वनियों के सहारे वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं का कुछ प्रकाशन भी करता है। उदा-
बोलने के पहले समझ सकना हरणार्थ, अपनी प्रसन्नता का प्रकाशन वह हँसकर करता है और माँ को देखने से उसे एक विशिष्ट ध्वनि से पुकारता है। आदि, आदि।

शिशु की पहली ध्वनि स्वाभाविक होती है और उसका विभेदकरण (Differentiation) करना सम्भव नहीं होता। परन्तु थोड़े ही दिन बाद भूख, गर्मी, सर्दी तथा प्यास आदि सम्बन्धी भावनाओं से उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, क्योंकि इन सबके सम्बन्ध में उसकी ध्वनियाँ कुछ विशिष्ट प्रकार की हुआ करती हैं। पहले उसकी ध्वनियों में स्वर-ध्वनियों की प्रधानता रहती है, जैसे 'आ', 'ऊ' तथा 'ए' आदि। इसके बाद स्वर और व्यंजन दोनों मिली ध्वनियाँ वह उत्पन्न कर सकता है; जैसे 'माँ', 'गा', 'पा' तथा 'का' आदि इन सब ऊटपटांग ध्वनियों की सहायता से ही बालक धीरे-धीरे अपना भाषा-कौशल बढ़ाता है।

अनुकरण (Imitation)

कुछ लोगों की धारणा है कि कुटुम्ब के लोगों के अनुकरण के आधार पर बालक अपना भाषा-विकास करता है। वस्तुतः जब बालक अपने कण्ठ पर जब कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है तभी वह प्रौढ़ों द्वारा बोली गई भाषा को अनुकरण के सहारे सीख सकता है। बहुत प्रारंभ में जब उसे अपने कण्ठ पर नियन्त्रण नहीं रहता तब किसी ध्वनि का अनुकरण करना उसके लिए सम्भव नहीं होता। एक वर्ष के पूर्व प्रायः भाषा को अनुभव होगा कि विवृद्धि के किसी विशिष्ट अवस्था असम्भव को यह अनुभव होगा कि विवृद्धि के किसी विशिष्ट अवस्था के पूर्व उनके लाख प्रयत्न करने पर भी बालक किसी ध्वनि के अनुकरण करने में सफल नहीं होता। एक वर्ष की अवस्था के पूर्व शिशुओं का किसी ध्वनि का तुरन्त ही अनुकरण कर सकना प्रायः असम्भव ही होता है।

वस्तुओं के नाम सीखना

(Learning the Names of Objects)

जब शिशु 'दा'¹ ध्वनि उच्चारित करता है तो उच्चारण के साथ ही उसे एक श्रवण-सम्बन्धी उद्दीपक समझ कर वह उसके प्रति एक प्रतिक्रिया दिखलाता है। जब शिशु अपने को 'दा' ध्वनि कहते हुए कई बार सुन लेता है तो वह 'दा' की ध्वनि को अपने बोलने की क्रिया से सम्बन्धित कर देता है। जब शिशु 'दा-दा' कहना सीख लेता है तो कोई भी प्रौढ़ व्यक्ति कुछ सार्थक शब्द, जैसे 'दाना' या 'दा-दा' को दिखलाकर उसे 'दा' कहने के लिए अनुप्रेरित (To Stimulate) अथवा अभिसन्धानित (To condition) कर सकता है। इस प्रकार किसी उद्दीपक (Stimulus) के सहारे 'दा' कहना शिशु सीख लेता है। यहाँ यह ध्यान देना है कि शिशु 'दा' ध्वनि को कहना किसी एक उद्दीपक के आधार पर सीखता है, न कि किसी प्रौढ़ व्यक्ति के अनुकरण करने से। विकसित होता हुआ बालक किसी सार्थक शब्द का तभी अनुकरण कर पाता है जब कि अपनी स्वाभाविक भाषा-प्रतिक्रिया में उसे उच्चारित किए हुए रहता है। उदाहरणार्थ; बालक 'दादा' या 'दाना' कहना सीख लेता है, क्योंकि अपनी स्वाभाविक भाषा-प्रतिक्रिया में 'दा' ध्वनि का उच्चारण करना उसने सीख लिया है। इस प्रकार 'नाम' और 'शब्दों के अर्थ' वस्तुओं या परिस्थितियों से सम्बन्धित करके बालक को सरलता से सिखलाये जा सकते हैं। इसीलिए तो आम, रोटी, केला, पानी, दूध आदि के नाम प्रारम्भ में वस्तुओं से सम्बन्धित कर देने से बालक सीख लेता है।

¹ Allport, F. H.—Social Psychology, Chap. 8, Houghton Mifflin Co, 1924, Boston.

बालक का विकास भाषा-विकास के साधारण नियमों के अनुसार चलता है। जैसे कि गति-विकास में अस्पष्ट और अनिश्चित से स्पष्ट और निश्चित गतियों को दिखलाने में बालक सफल होता है, उसी प्रकार भाषा-विकास में अस्पष्ट और अनिश्चित ध्वनियों से विशिष्ट और सार्थक ध्वनियों का उच्चारण करना वह सीखता है। उदाहरणार्थ; 'कुत्ता' शब्द को शुद्ध-शुद्ध उच्चारित कर सकने के पूर्व वह कुछ दिनों तक 'कत्ता-कत्ता' उच्चारित करता है। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

कुछ अनुभव और विकास के बाद बालक शीघ्र ही कुछ शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना सीख लेता है। परन्तु शुद्ध उच्चारण के सीख लेने पर भी वह व्याकरण की गलतियाँ बहुत दिन तक करता रहेगा और अनुभव के बाद लिखने की अवस्था आने पर कुछ शब्दों के लिखने में भी वह गलती कर सकता है। वस्तुओं के नाम सीख लेने पर छोटे-छोटे वाक्यों के अर्थ वह शीघ्र ही समझ लेता है। जैसे 'आम' शब्द सीख लेने पर 'आम दो' का अर्थ भी वह समझ लेता है। कुछ और अनुभव बढ़ जाने पर वह 'मेरा', 'तुम्हारा' और 'उसका' शब्दों का भी अर्थ समझने लगता है। दो या ढाई वर्ष की अवस्था में कुछ छोटे-छोटे प्रश्नों का भी अर्थ समझने लगता है, जैसे, "यह कौन है?", "वह क्या है?" आदि।

बचपन में भाषा का कार्य

(Function of Language during Childhood)

कुछ लोग सोच सकते हैं कि प्रौढ़ों तथा दूसरे बालकों से बातें करने के लिए ही बालक प्रधानतः भाषा सीखता है। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। बालकों की भाषा-सम्बन्धी क्रियाशीलताएँ स्व-केन्द्रित होती हैं। बच्चों की भाषा बच्चे अपने बारे में बात करते हैं, वे स्वयम् 'अपने' से भी बातें करते हैं। अर्थात् कहने और सुनने वाला दोनों कभी कभी वे स्वयम् रहते हैं। किसी सामान्य प्रौढ़ व्यक्ति की भाषा-सम्बन्धी क्रियाशीलता इस प्रकार की नहीं देखी जाती। अपनी खेलने की क्रिया में छोटे बच्चे स्वयम् अपने से ही बात करते हुए बहुधा पाये जाते हैं। बच्चे अपने ही विचारों और रुचियों से प्रायः सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए उनकी भाषा में 'अहङ्कार' अथवा 'स्व' का पुट अधिक है।

अन्वेषणों से यह पता चला है कि उनकी भाषा का प्रयोग अधिकांशतः अपने 'स्व' की स्थापना के लिए, आज्ञा देने के लिए, प्रभुत्व स्थापित करने के लिए या अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए होता है। छोटे बच्चे सामाजिक सहयोग तथा समस्या के सुलभाव स्थापना के लिए भाषा का प्रयोग स्व की स्थापना के लिए है। छोटे बच्चे सामाजिक सहयोग तथा समस्या के सुलभाव स्थापना के लिए भाषा का प्रयोग स्व की स्थापना के लिए है। छोटे बच्चे सामाजिक सहयोग तथा समस्या के सुलभाव स्थापना के लिए भाषा का प्रयोग स्व की स्थापना के लिए है।

एक अध्ययन¹ में किण्डरगार्टन स्कूल के २७ बालकों का 'कक्षा' में, 'खेल के मैदान' में तथा 'भोजन के समय' १५-१५ मिनट तक की बातचीत का लेखा (रेकार्ड) लिया गया। इस लेखे का उल्लेख नीचे की तालिका में दिया जा रहा है:

वर्ग	संख्या	प्रतिशत
१. स्व-प्रभुत्व स्थापनार्थ	१२७५	४०.८
२. अपनी निन्दा हेतु	८	०.२५
३. सामाजिक चेतन का प्रमाण	११६	३.७
४. समझी हुई बातों का वर्णन	२५६	८.३
५. भाषा-सम्बन्धी परीक्षण	१८८	६.०
६. नाटक-सम्बन्धी	१४८	४.७
७. प्रश्न	३११	९.६५
८. तर्कपूर्ण विचार	१६३	६.२
९. वास्तविक स्थिति-सम्बन्धी बातों का उल्लेख	५००	१६.०
१०. 'हाँ' और 'नहीं' के उत्तर	१२७	४.१
योग	३१२५	१००.०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है ३१२५ में से अधिकांश का सम्बन्ध 'स्व-प्रभुत्व' से ही था। बहुत ही कम वार्तालापों का सम्बन्ध सामाजिक चेतना से था। उपर्युक्त तालिका से बच्चों के व्यक्तित्व के स्वरूप का कुछ आभास मिलता है।

पियगे² की धारणा है कि सातवें या आठवें वर्ष तक बच्चों में सामाजिक प्रौढ़ता का अभाव रहता है। अतः इस काल तक उनकी भाषा प्रायः स्व-केन्द्रित होती है। पियगे का कहना है कि ७-८ वर्ष के बच्चे प्रायः गुड़ियों के साथ एक समूह में खेलते हैं और बातचीत भी करते हैं—परन्तु उनमें कोई किसी की ओर ध्यान नहीं देता।

भाषा समाजीकरण का एक साधन

(Language A Means of Socialization)

बालक में सामाजिक चेतना के प्रादुर्भाव के साथ-साथ उसका भाषा-विकास भी प्रौढ़ होता जाता है। सातवें या आठवें वर्ष के लगभग बालक का भाषा-विकास इस अवस्था तक पहुँच जाता है कि जान पड़ता है कि सहयोग का पहला पाठ बालक का समाजीकरण भी प्रयाप्त हो गया है, अर्थात् सातवें और आठवें वर्ष के लगभग बालक में इतनी सामाजिक चेतना आ जाती है कि वह कुछ सामाजिक सम्बन्धों और बातों को कुछ-कुछ समझने

¹ Rugg, H., Krueger, L., and Sondergaard, A.—Studies of Child Personality, I: "A study of the language of Kindergarten", *Journal of Educational Psychology*, 20, 1-18, 1929.

² Piaget, Jean.—The Language and Thought of the Child, Harcourt Brace Co, New York, 1926.

लगता है। बातचीत के आधार पर ही बालक सहयोग का पहला पाठ सीखता है और यह समझने लगता है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों से उसका कुछ सामाजिक सम्बन्ध है। बालक की यह समझ उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवस्थापन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऊपर हमने देखा है कि पहले बालक की भाषा स्व-केन्द्रित होती है। परन्तु जब वह कुछ प्रश्नों के उत्तर देने तथा प्रश्नों के पूछने में, किसी बात या कार्य के समर्थन करने में, किसी कार्य के करने में, सहमत होने में, **भाषा-विकास की सात सीढ़ियाँ** दिये हुए सुभावों पर तर्क करने में, और दूसरों को कुछ सुभाव देने में समर्थ होता है तो भाषा और व्यवहार की प्रौढ़ता की ओर वह उन्मुख हो जाता है। पियगे¹ के अनुसार बालक के सामाजिकरण से सम्बन्धित भाषा-विकास में सात सीढ़ियाँ पाई जा सकती हैं—(१) अवसरानुसार श्रोता से उपयुक्त बातें कह सकना; (२) दूसरों के व्यवहार तथा निन्दा की आलोचना कर सकना; (३) प्रार्थना, धमकी तथा आज्ञा दे सकना; (४) दूसरों से बातें जानने के लिए प्रश्न पूछ सकना; (५) दूसरों के प्रश्नों के उत्तर दे सकना; (६) अवसरानुसार, धन्यवाद, स्वागत, नमस्कार तथा क्षमा कीजिए आदि कह सकना; तथा (७) प्रौढ़ों की तरह कुत्ते, बिल्ली, गाय, रेलगाड़ी तथा मोटर आदि, आदि वस्तुओं की ध्वनियों का अनुकरण कर सकना।

प्रायः यह देखा जाता है कि बहुत अधिक बात करने वाले शिशु आगे चलकर बातूनी बालक होते हैं और कुछ प्रथम वर्षों तक इसका उनके व्यक्तित्व-विकास पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। सामाजिक आधार पर दूसरों से **कुटुम्ब का रचनात्मक वातावरण आवश्यक** बातचीत कर सकना व्यक्तित्व-विकास में बड़ा ही सहायक होता है, और यह कुटुम्ब के रचनात्मक वातावरण से ही सम्भव हो सकता है। घर के वातावरण के रचनात्मक² न होने से बालक में भाषा-सम्बन्धी दोष आने का डर रहता है। इस दोष में 'हकलाना' सबसे प्रमुख कहा जा सकता है। यह प्रायः देखा गया है कि जिन बच्चों में हकलाने का दोष होता है उनमें आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि घर कर लेती है, वे अपने को अरक्षित अनुभव करते हैं। इस स्थिति से बालक का सामाजिकरण अवरोधित हो जाता है; और साथ ही, उसका भाषा-विकास भी कुण्ठित हो जाता है।

बालक का भाषा-विकास

(Language Development of the Child)

ऊपर हमने संकेत किया है कि कुछ शब्दों के बोल सकने के पूर्व ही बच्चे कुछ संकेतों और चिह्नों द्वारा प्रौढ़ों को अपने भाव बतलाते हैं। इन संकेतों और

¹ Piaget,, Jean. op. cit.

² Johnson, W.—The Influence of Stuttering on the Personality”, Univ. of Iowa Studies in Child Welfare, Vol. 5, 1932.

चिह्नों को बच्चे का प्रथम भाषा व्यवहार कहा जा सकता है, क्योंकि इसे प्रौढ़ों से सन्तोषजनक प्रतिक्रिया में वह पाता है और उसकी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस प्रकार सर्व प्रथम बालक संकेत-भाषा (Sign or Gesture Language) के आधार पर अपना काम चलाता है। जब वह भूखा होता है तो रोता है, कोई वस्तु चाहता है तो उस ओर अपना हाथ वह उठाता है, दूध पीने के लिए कहा जाता है तो वह अपना मुँह दूसरी ओर फेर लेता है, माँ को देखता है तो मुस्करा कर उस ओर दौड़ता है। उसकी ये सब गतियाँ उसकी संकेत-भाषा के प्रमाण हैं, क्योंकि इनसे वह अपने भावों का प्रकाशन स्पष्टतः कर पाता है।

बालक के संकेत-भाषा के अध्ययन से बाल-विकास के विद्यार्थी बालकों के बुद्धियुक्त व्यवहार का अनुमान कर सकते हैं और इस अनुमान से बालक की सम्भावनाओं का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है।

भाषा-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं का स्वरूप (Nature of Language Responses)

भाषा-विकास में पाये जाने वाले क्रम—यद्यपि बच्चों के भाषा-विकास में वैयक्तिक वैभिन्न्य (Individual Difference) बहुत पाया जाता है; तथापि उनके भाषा-विकास-सम्बन्धी कुछ ऐसे साधारण क्रमों का उल्लेख किया जा सकता है जो प्रायः सभी सामान्य बच्चों के भाषा-विकास में पाये जाते हैं। ये क्रम इस प्रकार हैं—(१) शिशु के गिल-बिल, गिल-बिल करने की अवस्था; (२) कुछ प्रारम्भिक शब्दों के प्रयोग की अवस्था; (३) शब्द के अर्थ समझने की शक्ति का विकास; (४) विचारों को प्रकाशित कर सकने की शक्ति का विकास; तथा (५) प्रौढ़ भाषा पर अधिकार प्राप्त करने का समय।

शिशु की 'गिल-बिल, गिल-बिल' की ध्वनि—नवजात¹ शिशु की जन्म-ध्वनि (Birth-cry) यान्त्रिक होती है और इसका अभी तक कोई संवेदनात्मक या बौद्धिक अर्थ नहीं समझा जा सका है। परन्तु इस जन्म-ध्वनि को संवेदना का प्रकाशन बालक की वाणी का प्रथम प्रारम्भ कहा जा सकता है। ध्वनियों द्वारा प्रथम आठ या नौ महीने तक अपनी भूख, प्यास, दर्द, गर्मी तथा सर्दी-सम्बन्धी संवेदनाओं का प्रकाशन वह कुछ ध्वनियों द्वारा किया करता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि इन विभिन्न संवेदनाओं के प्रति शिशु एक ही प्रकार तथा समान गहनता की ध्वनि नहीं उत्पन्न करता; अर्थात् किसी विशिष्ट संवेदना से सम्बन्धित उसकी ध्वनि एक विशिष्ट प्रकार और गहनता की होती है।

¹ Feuton, F. C.—A Practical Psychology of Boyhood, p. 5, Houghton Mifflin Co., 1925.

सर्वप्रथम शिशु सभी प्रकार के स्वरों (Vowels) के उच्चारण में समर्थ नहीं होता। अतः प्रारम्भ में यह अनुमान करना कठिन होता है कि उसकी भाषा का विकास किस क्रम में चलेगा। कुछ अन्वेषकों के अनुसार 'अ' और 'उ' का उच्चारण शिशु सबसे पहले कर पाता है। व्यञ्जनों में 'त' और 'द' का उच्चारण वह सबसे पहले करता है। इसके बाद 'क' 'ग' 'स' और 'ज' का नम्बर आता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि 'फ' 'व' 'र' और 'ल' व्यञ्जनों का नम्बर सबसे बाद में आता है, यद्यपि सभी मनोवैज्ञानिक इस धारणा से सहमत नहीं। इन सब विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण एक संगठित रूप में कर सकना ३ या ४ साल की अवस्था पर ही आता है। प्रायः यह देखा जाता है कि पाँचवें और छठे वर्ष तक भी कुछ बच्चे 'र' और 'ल' का उच्चारण स्पष्टतः नहीं कर पाते।

शब्द प्रयोग का काल (Word Period)—ऊपर, यह संकेत किया जा चुका है कि शिशु कुछ शब्दों का बोलना कैसे सीखता है। प्रायः पन्द्रहवें या अठारहवें महीने के लगभग शिशु कम से कम एक या दो शब्द बोलना सीख लेता है। इस अवस्था में यदि शिशु को विभिन्न वस्तुएँ देते हुए उनके नाम साथ ही बतलाए जायँ और उन्हें उच्चारित करने के लिए उसे अभिप्रेरित किया जाय तो उसका भाषा-विकास बड़ी द्रुत गति से चलेगा। वस्तुओं के उपयोग को समझने के पूर्व उनके नाम को उच्चारित करने में शिशु की रुचि पहले होती है। धीरे-धीरे वह समझने लगता है कि प्रत्येक वस्तु का एक नाम होता है और उसे याद करने का वह प्रयत्न करता है। साथ ही, वह अपने व्यवहार उन वस्तुओं के सम्बन्ध में आयोजित करता है जिनके नाम वह जानता है। अब वह 'एक शब्द का 'वाक्य' बोलता है और इस 'शब्द' का अर्थ पूर्ण होता है। उदाहरणार्थ; जब वह कहता है "आम"—तो उसका तात्पर्य होता है कि 'मुझे आम दो'; अथवा 'मेरे आम को देखो'।

बालक का शब्द-ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता है वातावरण में जटिलतर व्यवस्थापन करने में वह समर्थ होता है। बालक का भाषा-विकास वातावरण में, व्यवस्थापन में कैसे सहायता करता है इसे वारिङ्ग¹ ने निम्नलिखित प्रकार से बतलाया है—

(१) भाषा की सहायता से बालक अपने गत अनुभवों का पुनर्स्मरण कर सकता है।

¹ Waring, E. B.—The Relation Between Early Language Habits and Early Habits of Conduct Control, *Teachers' College Contributions to Education*, No. 260, Columbia Univ., 1927, p. 5.

(२) भाषा के सहारे बालक अपने अनुभव की आवृत्ति कर सकता है।

(३) बालक का भाषा-ज्ञान जिन अनुभवों से सम्बन्धित होता है उसके समान अनुभवों को करने के लिए वह प्रेरणा दे सकता है।

(४) अपने भाषा-ज्ञान को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर अपने अनुभवों को बालक सुसंगठित करने का प्रयत्न करता है।

व्यवस्थापन में शब्द-ज्ञान बड़े ही उपयोगी होते हैं। अतः अभिभावकों को उचित है कि बालक के शब्द-ज्ञान के सहारे उसके विभिन्न अनुभवों को बढ़ायें और संगठित करें। जो व्यवहार बालक को सिखाना आवश्यक जान पड़ता है उसे बालक के किसी शब्द-ज्ञान से सम्बन्धित कर देना चाहिए।

शब्द के अर्थ को समझने का काल (Word understanding Period)—

जब बालक अपने शब्द को कुछ वस्तुओं से सम्बन्धित कर पाता है तो वे शब्द उसके लिए सार्थक होते हैं; जैसे 'माँ', 'दा' और 'बिल' को क्रमशः दो शब्द के वाक्य वह माता, दादा और बिल्ली से सम्बन्धित कर लेता है तो ये शब्द उसके लिए सार्थक हो जाते हैं। धीरे-धीरे "एक-शब्द-वाक्य" से बालक 'दो शब्द वाक्य' बोलने में समर्थ हो जाता है; जैसे 'कुत्ता गया', 'माँ आ' तथा 'आम खा' आदि। डेढ़ या दो वर्ष की अवस्था में इस प्रकार के "दो-शब्द-वाक्य" के प्रयोग में बालक समर्थ हो जाता है।

उम्र के बढ़ने से बालक अच्छे-अच्छे शब्दों का भी प्रयोग करना सीखने लगता है। धीरे-धीरे वह घटनाओं, वस्तुओं और लोगों के कुछ व्यवहारों का भी अर्थ समझने लगता है। बालक ज्यों-ज्यों विभिन्न वस्तुओं को शब्दों के परस्पर समझने में अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का सहारा लेने में समानताओं और समर्थ होता है उसके लिए विभिन्न वस्तुएँ और अधिक भिन्नताओं को समझना सार्थक होने लगती हैं। उदाहरणार्थ, पहले सूँघ अथवा चखकर किसी वस्तु को पहचानना बालक के लिए कठिन होता है। परन्तु जब वह सूँघ अथवा चखकर (अर्थात् घ्राणेन्द्रिय और जिह्वा के प्रयोग से) किसी वस्तु के सम्बन्ध में बतलाता है तो हम यह कह सकते हैं कि अब वह कुछ वस्तुओं के बारे में अधिक समझने लगा है और साथ ही वह कुछ शब्दों के अर्थ को भी समझने लगा है। धीरे-धीरे वह कुछ वस्तुओं के उपयोग को भी समझने लगता है। साढ़े तीन वर्ष के लगभग एक सामान्य बालक यह बतला सकता है कि कुर्सी, मेज और चारपाई आदि का उपयोग क्या है? पाँच वर्ष का बालक यह बतला सकता है कि गेंदा, बल्ला, चूल्हा तथा कड़ाई आदि किस काम में लाए जाते हैं। सात वर्ष की अवस्था पर वह लकड़ी और कोयला और पीतल तथा दूध और पानी के समानताओं की ओर संकेत कर सकता है। आठ वर्ष की अवस्था पर बालक नदी और समुद्र, आम और बैंगन आदि की समानताओं और विभिन्नताओं दोनों की ओर संकेत कर सकता है। दस या ग्यारह वर्ष का बालक 'सम्बन्ध', 'बदला', 'जीत'

तथा 'हार' ऐसे शब्दों का सरलता से अर्थ समझते हुए वाक्यों में प्रयोग कर सकता है। अपने विकास के अनुसार बालक धीरे-धीरे विभिन्न शब्दों की परस्पर-समानताओं और भिन्नताओं को समझने लगता है।

भाषा विकास में लिङ्ग और सामाजिक वातावरण का प्रभाव (The Place of sex factor and social environment in language development)—लड़कियों का शारीरिक विकास जैसे लड़कों की अपेक्षा शीघ्रतर होता है उसी प्रकार उनका भाषा-विकास भी लड़कों से शीघ्रतर होता है। प्रायः लिङ्ग यह देखा जाता है, दो-तीन महीने की अवस्था में भी लड़कियाँ अधिक ध्वनियों का उच्चारण करती हैं। डेढ़ और साढ़े चार वर्ष की अवस्था¹ तक लड़कियाँ लड़कों से अधिक स्पष्ट बोलती हैं। लड़कियाँ लड़कों से अधिक लम्बे वाक्यों का प्रयोग कर लेती हैं।

अनेक अन्वेषणों से इस बात की पुष्टि हुई है कि अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से बालक का भाषा-विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है। इसका कारण यह है कि अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले कुटुम्ब में भाषा-विकास के लिए उच्चतर उद्दीपक और प्रेरणाएँ बहुधा मिला करती हैं।

बालक के शब्द-चयन का विकास

(The Development of Vocabulary of the Child)

बालक के शब्द-चयन के विकास को समझने के लिए विभिन्न उम्र के बालकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को गिना जाता है, अथवा बालक के जीवन-चरित्र के अध्ययन से उनके शब्द-चयन का अनुमान किया जाता है। कभी-कभी शैक्षिक अवसर और एक निश्चित समय जैसे आधे-घण्टे या १ घण्टे की अवधि के बौद्धिक प्रौढ़तानुसार अन्दर बालक कितने शब्दों का प्रयोग कर सकता है इससे भी उसके शब्द-चयन का अनुमान लगाया जाता है। परन्तु इस विधि का प्रयोग दस, ग्यारह या बारह वर्ष के बालकों के लिए ही किया जाता है। बच्चों के शब्द-चयन विकास पर स्मिथ² ने कई अन्वेषण किये हैं। स्मिथ का यह निष्कर्ष है कि एक बार बालक की जब भाषा-क्रियाशीलता प्रारम्भ हो जाती है तो उसकी उन्नति जल्दी-जल्दी होती रहती है। स्मिथ का कहना है कि एक वर्ष की अवस्था में बालक प्रायः ३ शब्द का ज्ञान रखता है परन्तु तीन वर्ष की उम्र पर उसका शब्द ज्ञान ८६६ शब्दों तक और छः वर्ष की उम्र पर २५६२ शब्दों तक

¹ Mc. Carthy, D. A.—The Language Development of the Pre-school Child, Minneapolis, Univ. of Minnesota Press, 1930.

² Smith, M. E.—“An Investigation of the Development of Sentence and the Extent of Vocabulary in Young Children, “Univ. of Iowa Studies in Child Welfare, Vol. 3, No. 5, 1926.

पहुँच जाता है। छः वर्ष के बाद घर के वातावरण तथा शैक्षिक अवसरों के अनुसार बालक का शब्द-चयन प्रतिवर्ष बढ़ता रहता है और हाई स्कूल पास करने के समय एक सामान्य बालक का शब्द-चयन प्रायः १५००० शब्दों तक पहुँच जाता है। स्टैनफोर्डविने मानसिक माप द्वारा प्रतिपादित प्रतिमानों के अनुसार (According to the norms advocated by the original Stanford Binet mental scale) बच्चों का शब्द-चयन-विस्तार बौद्धिक प्रौढ़ता के विकास के साथ इस क्रम में बढ़ता है— आठ वर्ष पर ३६०० शब्द; दस वर्ष पर ५४०० शब्द; बारह वर्ष पर ७२०० शब्द; चौदह वर्ष पर ९००० शब्द; सोलह वर्ष पर (सामान्य व्यक्ति) ११७०० शब्द और अठारह वर्ष पर (प्रतिभाशाली व्यक्ति) १३५००^१ शब्द। प्रेसकाट^२ ने अपने अध्ययन में देखा कि बच्चे जितने शब्दों को जानते हैं उन सबका प्रयोग वे नहीं कर पाते।

शब्द-चयन के विकास पर प्रभाव डालने वाली बातें—अन्वेषणों से यह पता चला है कि शब्द-चयन के विकास पर कौटुम्बिक वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, अच्छे कौटुम्बिक वातावरण कौटुम्बिक वातावरण वाले बच्चों के शब्द-चयन का विकास अच्छा होता है। निम्न-कोटि के कौटुम्बिक वातावरण के बच्चों का शब्द-चयन निम्न-कोटि का होता है, क्योंकि उसमें उपयुक्त उद्दीपक तथा प्रेरणाओं का अभाव रहता है।

शब्द-चयन के विकास पर व्यवस्थित शिक्षण का भी प्रभाव पड़ता है। स्ट्रैयर^३ ने अपने अन्वेषण में देखा कि व्यवस्थित बौद्धिक उद्दीपन से बच्चे के शब्द-चयन का बड़ा विकास होता है। स्पष्ट है कि बच्चा जब कुछ व्यवस्थित शिक्षण शब्दों का उच्चारण करने लगता है तो उपयुक्त शैक्षिक अवसरों के संगठन से उसके शब्द-चयन को बढ़ाया जा सकता है। जिस बच्चे को आत्म-प्रकाशन का अवसर मिलता रहता है उसके भाषा और विचार दोनों का अच्छा विकास होता है। परस्पर वार्तालाप, कहानी कहने और सुनने, शैक्षिक खेल, दूसरे बालकों के अनुभवों को सुनने तथा रचनात्मक सामाजिक क्रियाशीलताओं में भाग लेने से बच्चों के शब्द-चयन का विकास जल्दी होता है। मानसिक प्रौढ़ता के विकास के साथ स्कूल की भाषा सम्बन्धी आवश्यकताओं को बालक ज्यों-ज्यों

^१ Terman, L. M.—The Measurement of Intelligence, p., 226, Houghton Mifflin Co., Boston, 1916.

^२ Prescott, D. A.—“The Vocabulary of Infants of Primary Schools of Geneva.” Archives of Psychology, 217, 225-261, 1929.

^३ Strayer, L. C.—Language and Growth : The Relative Efficacy of Early and Deferred Vocabulary Training, Studied by the Method of Co-Twin Cantred, *Genetic Psychology Monographs*, Vol. 8, No. 3, pp. 209-213, 1930.

पूरा करने का प्रयत्न करता है, भाषा पर उसका अधिकार बढ़ता जाता है और तदनुसार सामाजिक कार्यों में वह और अधिक भाग लेता है।

बच्चों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के प्रकार

(Kinds of Words Used by Children)

सर्व प्रथम छोटा बच्चा अपने अधिकांश विचार संज्ञा द्वारा ही प्रकाशित करता है। यदि संज्ञा के अतिरिक्त अन्य शब्दों का प्रयोग करता है तो उन्हें भी वह संज्ञा के रूप में ही प्रयोग करता है। दो वर्ष का बालक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किसी स्थिति के विधि में, प्रश्न पूछने में, प्रार्थना करने अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति की ओर संकेत करने में करता है। बच्चे द्वारा प्रयुक्त ५० या ६० प्रतिशत शब्द प्रायः इसी कोटि के होते हैं। यदि वह "कुत्ता" शब्द कहता है तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि "कुत्ता आया, कुत्ता जा रहा है अथवा यह वस्तु कुत्ते को दे दो।" इस प्रकार प्रथम दो वर्ष की अवस्था के अन्दर यह कहना कठिन है कि बालक 'संज्ञा', 'सर्वनाम', 'क्रिया' या 'विशेषण' आदि में किसका अधिक प्रयोग करता है, क्योंकि एक ही शब्द का प्रयोग इन सभी के अर्थ में वह कर सकता है।

बच्चे का भाषा-ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता है वह संज्ञा के स्थान पर उपयुक्त सर्वनाम का प्रयोग करने में समर्थ हो जाता है; और एक शब्द के वाक्य के स्थान पर वह क्रिया, विशेषण तथा अव्यय आदि प्रकार के शब्दों का भी संज्ञा के बाद सर्वनाम प्रयोग करता है। अपनी चार वर्षीय पुत्री के दिन भर के क्रिया, विशेषण आदि भाषा-सम्बन्धी प्रतिक्रिया के अध्ययन में नाइस ने किन प्रकार के शब्दों को कितनी संख्या में पाया उसका उल्लेख नीचे की तालिका में किया जा रहा है—

एक चार वर्ष के बच्चे के दिन भर की बातचीत में प्रयुक्त शब्दों का लेखा¹

शब्द प्रकार	संख्या	प्रतिशत	पूरे शब्द-चयन में प्रतिशत
संज्ञा	३०२	४१.४	५२.२
क्रिया	१९२	२७.६	२३.२
विशेषण	६०	१२.४	११.२
क्रिया विशेषण	६६	६.५	७.६
सर्वनाम	३२	४.३	२.६
अव्यय	१८	२.५	१.६
विस्मयादि बोधक अव्यय	१४	१.६	०.४
सम्बन्ध बोधक अव्यय	३	०.४	०.६
योग	७२०	१००	१००

¹Nice, M. M. : "Concerning All-Day Conversation" Pedagogical Seminary, 27, 166-177, 1922.

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि छोटे बच्चों के शब्द-चयन में पहले संज्ञा का प्राधान्य रहता है और उनकी मानसिक प्रौढ़ता के आने के साथ-साथ शब्द-चयन में सर्वनाम और क्रिया की भी संख्यायें बढ़ती जाती हैं।

बालक का वाक्य-विकास

(Sentence Development of Children)

शब्द-चयन का कुछ विकास हो जाने पर तथा शब्दों के अर्थ समझ सकने पर बालक जटिलतर वाक्यों का प्रयोग भी कर सकता है। बच्चों के जटिलतर वाक्यों के स्वरूप का अनुमान कर सकना अत्यन्त कठिन है। कुछ शब्द-चयन के विकास के बाद जटिलतर वाक्यों का प्रयोग लोगोंने उनकी लिखी और बोली हुई भाषा के विश्लेषण से वाक्यों की जटिलता को समझने का प्रयत्न किया है। ला¹ ब्रान्ट ने १८६ पब्लिक स्कूलों के चौथी से बारहवीं कक्षा के विद्यार्थियों (९ से १६ वर्ष की उम्र के अन्दर) के लिखित कार्यों का अध्ययन किया और उसने देखा कि वाक्य के विविध अंशों की लम्बाई और जटिलता बालकों के साधारण भाषा-प्रौढ़ता की ओर संकेत करती है। ला ब्रान्ट की यह भी धारणा है कि जटिल वाक्यों के प्रयोग करने की शक्ति पर मानसिक उम्र (Mental Age) की अपेक्षा शारीरिक उम्र (Chronological Age) का अधिक प्रभाव पड़ता है।

बच्चों के वाक्य-विकास के अपने अध्ययन में स्मिथ² ने देखा कि प्रति वाक्य में दो वर्ष की अवस्था में १.७ शब्द; तीन वर्ष पर ३.३ शब्द; और पाँच वर्ष पर ४.६ शब्द बढ़ जाते हैं। वैयक्तिक वैभिन्न्य के होते हुए भी यह देखा गया कि प्रत्येक बालक के वाक्य में उम्र के बढ़ने के साथ भाव-प्रकाशन की आवश्यकतानुसार शब्दों की संख्या बढ़ी।

बालक के वाक्य-विकास में नाइस³ ने निम्नलिखित चार प्रकार की अवस्थाओं का उल्लेख किया है :—

¹ La Brant, Lou L.—A Study of Certain Language Developments in Children in Grades Four to Twelve Inclusive, *Genetic Psychology Monographs*, Vol. 14, No 5, pp. 387—491, 1933.

² Smith, M. E.—“An Investigation of the Development of the Sentence and the Extent Vocabulary in Young Children”, *Univ. of Iowa Studies in Child Welfare*, Vol. 3, No. 5, 1926.

³ Nice, M. M.—‘Length of Sentences as a Criterion of a Child’s Progress in Speech’, *Journal of Education Psychology* 116, 370-379, 1925.

(१) एक शब्द का काल—यह लगभग दो वर्ष की उम्र पर प्रारम्भ होता है, और प्रायः चार से बारह महीने तक चलता है।

(२) दो शब्द का काल—यह दूसरे वर्ष के मध्य से प्रारम्भ होता है, लगभग २७ वें महीने तक चलता है। इस काल में संज्ञा शब्दों का प्रयोग अधिक किया जाता है और क्रिया अव्यय तथा सम्बन्ध-बोधक अव्ययों का अभाव रहता है।

(३) तीन या चार शब्दों के वाक्य का काल—यह लगभग अट्ठाइसवें महीने पर प्रारम्भ होता है और प्रायः चौथे वर्ष तक चलता रहता है। इस काल में भी अव्ययों, सर्वनामों तथा सहायक क्रियाओं का प्रायः अभाव रहता है।

(४) पूर्ण वाक्य का काल—यह प्रायः चौथे वर्ष पर प्रारम्भ हो जाता है और इसमें लगभग ६ से ८ शब्द पाये जाते हैं। अब सर्वनाम तथा अव्यय आदि शब्दों का प्रयोग सरलता से किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालक का वाक्य-विकास क्रमशः होता है और उसकी योग्यता के विकास के साथ-साथ उसके वाक्यों की जटिलता धीरे-धीरे बढ़ती रहती है।

बालक पढ़ना कैसे सीखता है ?

(How the Child Reads to Learn ?)

बहुत से बच्चे स्कूल में सविधिक शिक्षा (Formal Education) पाने के पूर्व ही पढ़ना सीख लेते हैं। स्कूल जाने के पूर्व ही अर्थात् ५ या ६ वर्ष के लगभग एक सामान्य बालक का शब्द-चयन प्रायः २००० से २५०० शब्दों के अन्तर्गत रहता है। इस समय वह ५-६ शब्दों के वाक्य भी बोल लेता है। यदि उसका वातावरण काफी अभिप्रेरक रहा तो पुस्तक पढ़ते समय बहुत से शब्द के अर्थ को वह स्वयम् समझ लेता है, क्योंकि उन शब्दों और अपने कुछ गत अनुभवों में एक सम्बन्ध जोड़ने में वह समर्थ होता है।

जैसे गति का विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर जाता है, उसी प्रकार पढ़ने में बालक की उन्नति सामान्य से विशिष्ट की ओर होती है। उदाहरणार्थ;

बालक पहले शब्द अथवा वाक्य को पढ़ लेने के बाद शब्द अथवा वाक्य की विशिष्ट रचना को समझने में समर्थ हो सकता है। एक और उदाहरण लीजिए;—बालक जब

“यह काला कुत्ता है” वाक्य समझ लेता है तब वह इस पूरे वाक्य के संदर्भ में “काला” शब्द का अर्थ समझ पाता है। इसी प्रकार ‘का’ और ‘ला’ अक्षरों का उसके लिए कुछ अर्थ नहीं होता, परन्तु इन दोनों अक्षरों को जब वह ‘काला’ शब्द में देखता है तो वे उसे सार्थक जान पड़ते हैं। इसलिए बालक को पहले सम्पूर्ण पढ़ाना-लिखाना चाहिए—उसके बाद सम्पूर्ण के विभिन्न भागों की ओर आना चाहिए। विभिन्न शब्दों के अक्षरों को याद करने से उसे पढ़ना नहीं आयेगा। इससे उसकी पढ़ने में उन्नति अवरोधित हो जाती है।

भाषा विकास पर प्रभाव डालने वाली बातें

(The Factors Influencing the Language Development)

कुछ शारीरिक और मनोवैज्ञानिक बातें बालक के भाषा-विकास को अवरोधित कर देती हैं। इन बातों में से कुछ प्रमुख यह हैं—(१) अपर्याप्त बौद्धिक अनुभव; (२) ज्ञानेन्द्रियों के कुछ दोष; (३) निम्न कोटि की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण भाषा के लिए अनुपयुक्त वातावरण; (४) संवेगात्मक कुव्यवस्थापन के कारण 'हकलाने' जैसा भाषा-दोष आ जाना, और (५) अन्य व्यक्तियों से बातचीत करने तथा उनकी भाषा को सुनने का कम अवसर। इन कठिनाइयों को दूर करने का मनोवैज्ञानिक प्रयत्न किये बिना बालक भाषा-सम्बन्धी कौशल न प्राप्त कर सकेगा।

बुद्धि और भाषा का प्रारम्भ—परीक्षणों से बुद्धि और बालक की भाषा-योग्यता में निकट सम्बन्ध पाया गया है। प्रायः यह देखा जाता है कि अच्छी बुद्धि वाले बच्चे मन्द बुद्धि के बालकों की अपेक्षा शीघ्रतर बोलना सीख लेते हैं और उनकी भाषा अपेक्षाकृत अच्छी होती है। मन्द बुद्धि के बालक का भाषा-विकास सामान्य बालकों की अपेक्षा देर से होता है। उत्कृष्ट कोटि का बालक ११ वें महीने में बात करना प्रारम्भ कर देता है। सामान्य बालक को यह १५वें महीने में ही होता है। और मन्द बुद्धि का बालक प्रायः ३८वें महीने में बात करना प्रारम्भ कर सकता है।¹ इन तीन प्रकारों में प्रत्येक प्रकार के बालकों की भाषा-योग्यता से बड़ा वैयक्तिक वैभिन्न्य पाया जाता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जो बालक देर से बोलना सीखते हैं उन्हें मन्द बुद्धि का ही समझ लेना ठीक न होगा।

बहुत सम्भव है कि जो बालक मन्द बुद्धि के जान पड़ते हैं वे उपयुक्त अवसरों के अभाव के कारण ही ऐसे होते हैं। यह देखा गया है कि उपयुक्त अवसर के पाने पर वे बच्चे जिन्हें पहले मन्द बुद्धि का समझा गया था वे शीघ्रता से सन्तोषजनक भाषा-योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

शारीरिक दशा और भाषा-योग्यता—प्रायः बहुत से बच्चों में ज्ञानेन्द्रियों के कुछ दोष पाये जाते हैं, ये दोष प्रायः श्रवण, कण्ठ अथवा जिह्वा सम्बन्धी होते हैं। जिन बच्चों में श्रवण-दोष होता है उनका भाषा-विकास अवरोधित हो जाता है। बहुत सम्भव है कि शैशव में यह दोष न पहचाना जा सके। जो बच्चे १८वें अथवा २०वें महीने पर बातचीत करने का प्रयत्न करते न देखे जायँ उनकी डाक्टरी परीक्षा करा लेनी चाहिए।

¹ Terman, L. M.—Genetic Studies of Genius, p. 187, Vol. I, Stanford University Press, 1925.

दोषयुक्त तालु, कण्ठ दाँत तथा जबड़ों के कारण सन्तोषजनक भाषा-योग्यता प्राप्त करने में बालक असमर्थ हो सकता है।

घर की दशा और भाषा-विकास—ऊपर हम कई बार संकेत कर चुके हैं कि बालक के घर की दशा का उसके भाषा विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि बालक का कुटुम्ब उसके लिए उपयुक्त प्रेरणात्मक अवसरों का आयोजन न कर सका तो उसके भाषा विकास में बड़ी देर लगेगी। मैकार्थी (McCarthy, D. A.) का कहना है कि उच्च धन्धे वाले घरों के बच्चे की वाक्य रचना निम्न कोटि के धन्धे वाले घरों के बच्चों की वाक्य-रचना की अपेक्षा कहीं सुन्दर होती है।

जिन बच्चों को द्वि-भाषी वातावरण में रहना पड़ता है उनकी भाषा का विकास इस वातावरण के कारण अवरोधित नहीं होता। आरसेनियन¹ ने अपने अन्वेषण से सिद्ध किया है।

प्रायः यह सोचा जाता है कि जिन बच्चों को प्रौढ़ व्यक्तियों के साथ रहने का अधिक अवसर मिलता है उनकी भाषा का विकास अच्छा होता है। परन्तु यदि बच्चों को अपनी ही उम्र के अथवा कुछ बड़े बालकों का साथ न अपनी उम्र के साथ मिलेगा तो उनका भाषा-विकास सन्तोषजनक नहीं होगा, क्योंकि यह सामान्यतः देखा जाता है कि अपने साथियों के बीच बच्चे अधिक बात करते हैं और अपने भावों का अधिक प्रकाशन करते हैं। अतः अभिभावक को यह देखना चाहिए कि बच्चों को अपनी उम्र के बालकों के साथ रहने और खेलने का अवसर पर्याप्त मिलता रहे।

कुछ भाषा दोष और उनके सुधार

(Some Speech Defects and their Remedies)

भाषा-विकास सदा एक गति से नहीं चलता। उसमें कभी न कभी कुछ बाधा आ ही जाती है। विभिन्न भाषा दोष का इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है—
(१) बोलने में लय का दोष, (२) ध्वनियों को स्पष्टतः उच्चारित न कर सकना, (३) भाव-प्रकाशन के लिए उपयुक्त शब्दों को न पा सकना, (४) वातरोग से भाषा-दोष आ जाना, (५) नासिका से बोलना, (६) श्रवण-सम्बन्धी दोष से भाषा-दोष का आना तथा (७) कुछ आन्तरिक अवयवों के कार्य-दोष से भाषा-दोष का आना। इन सभी प्रकार के दोषों पर यहाँ विचार कर सकना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। हम यहाँ केवल उच्चारण (Articulation) तथा लय (Rhythm) या हकलाने (Stuttering) सम्बन्धी दोषों पर ही विचार करेंगे।

¹ Arsenian, S.—*Bilingualism and Mental Development*, Teachers' College Contribution to Education, No. 712, Columbia Univ., 1937.

उच्चारण सम्बन्धी दोष—जब माता-पिता पूर्ण उच्चारण का कोई आदर्श बच्चे के सामने नहीं रख पाते तो प्रारम्भ में बच्चों में कुछ उच्चारण-सम्बन्धी दोष पाये जाते हैं। श्रवण, स्मृति तथा मानसिक योग्यता की कमी दूर करना कठिन नहीं से भी बच्चे में उच्चारण-सम्बन्धी कुछ दोष आ जाते हैं। तालु, मुँह, दाँत तथा वायु-नली आदि के कुछ दोषों में भी कुछ उच्चारण-दोष आ सकते हैं। 'ल' और 'र' 'स' और 'छ' आदि के उच्चारण-सम्बन्धी दोष कुछ बड़े होने पर अथवा स्कूल जाने लगने पर स्वतः दूर हो जाते हैं। उच्चारण सम्बन्धी दोष को दूर करना कठिन नहीं, परन्तु लय सम्बन्धी दोष को दूर करना बड़ा ही कठिन होता है।

लय-सम्बन्धी दोष—हकलाना—हकलाने (Stuttering and Stammering) का प्रारम्भ प्रायः बचपन से ही होता है। बच्चे में यह दोष दो और चार वर्ष की उम्र तक बहुत पाया जाता है। अतः जान पड़ता है कि इस दोष और बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रुक्स¹ के अनुसार ८५ प्रतिशत हकलाने वाले आठवें वर्ष की उम्र के पहले ही इस दोष के अभियुक्त हो जाते हैं। ब्रुक्स की धारणा है कि हकलाने वाले बच्चे स्कूल के पहले साल में पढ़ने-लिखने में भी पीछे होते हैं, क्योंकि कक्षा के मौखिक कार्यों में उन्हें कठिनाई का सामना करना होता है प्रायः सभी अन्वेषकों का मत है कि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में हकलाना अधिक पाया जाता है। अनुमानतः हकलाने वाले लड़के और लड़कियों में २० और १ का अनुपात होता है।

अन्वेषक हकलाने के कारण के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि वाणी सम्बन्धी अवयवों के दोष से यह दोष आ जाता है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध पौष्टिक भोजन के अभाव अथवा मस्तिष्क से कारण के विषय में जोड़ते हैं। परन्तु अधिकांश अन्वेषक इसे बालक के मनोवैज्ञानिक जीवन से ही सम्बन्धित समझते हैं, अर्थात् किसी संवेगात्मक कुव्यवस्थापन (Emotional maladjustment) से बालक को भगनाशा की अनभूति होती है और इससे उसे वाणी द्वारा अपने भाव-प्रकाशन में अड़चन होती है।

वस्तुतः हकलाने के दोष का बालक के पूरे व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। बालक अपने पूरे शरीर से हकलाता है, न कि केवल वाणी-सम्बन्धी अवयवों

¹ Brooks, F. D.—*Child Psychology*, Houghton Mifflin Co., p. 198, Boston 1937.

से। फलतः हकलाने के समय उसका पूरा शरीर ही हिल जाता है और उसमें एक प्रकार से मानसिक तनाव आ जाता है। हकलाने वाले में तह में दुखद अनुभूति एक प्रकार की आत्महीनता की भावना आ जाती है। वह के छिपे रहने के कारण कुछ सामाजिक परिस्थितियों और व्यक्तियों से डरने लगता है। कुछ स्थानों पर वह अपने को अरक्षित अनुभव करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि अकेले अपने कमरे में हकलाने वाला व्यक्ति बोलता है तो उसकी वाणी दोषमुक्त रहती है। सामाजिक स्थिति में अथवा और किसी अर्थ में अपने से छोटे व्यक्तियों के सामने वह नहीं हकलाता। किसी विशिष्ट प्रकार के व्यक्ति जैसे—स्त्री वर्ग, अधिकारी वर्ग, शिक्षक तथा घर के बड़े भाई अथवा पिता आदि—के सामने हकलाने वाला व्यक्ति अधिक हकलाता है। विभिन्न हकलाने वालों में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। कोई स्त्री-वर्ग के सामने अधिक हकलाता है तो कोई अधिकारी वर्ग या पुरुष वर्ग के सामने। प्रायः यह देखा जाता है कि हकलाने वाला व्यक्ति अपरिचित व्यक्तियों के सामने नहीं हकलाता। इन सब बातों से यह जान पड़ता है कि हकलाने के दोष की तह में व्यक्ति की कई ऐसी अनुभूति छिपी होती है जिससे उसे कभी बड़ी भारी ठेस लगी रहती है और उस अनुभूति से सम्बन्धित कोई परिस्थिति आने पर वह स्वभावतः अपनी वाणी-दोष का प्रकाशन कर बैठता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति के विगत संवेगात्मक जीवन को समझ कर उसके व्यक्तित्व के पुनर्संज्ञान का प्रयत्न किया जाय तो इस दोष के दूर करने में पर्याप्त सफलता मिल सकती है।

व्यक्तित्व के पुनर्संज्ञान में भग्नाशा (Frustration) उपस्थित करने वाली परिस्थिति को सदा के लिए दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और उपस्थित किसी शारीरिक दोष को भी दूर करना चाहिए; अर्थात् शारीरिक दूर करने के लिए कुछ और मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टि से व्यक्तित्व में उपस्थित तनाव उपाय (Tension) को हटाना चाहिए। श्वास-नियन्त्रण¹ में अभ्यास, शान्त मानसिक स्थिति रखने, चिन्ता और डर को दूर करने, तथा समाज और कुटुम्ब में उपस्थित अरुचिकर स्थिति को हटाने में बालक के हकलाने के दोष को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है। हकलाने वाला बालक समस्या-बालक होता है। अतः प्रत्येक ऐसे बालक का अलग-अलग अध्ययन करना चाहिए। प्रौढ़ व्यक्तियों के हकलाने के दोष को दूर करने के लिए स्वन्त्रतः साहचर्य (Free Association), मौखिक निदर्शन (Oral Suggestion), मान्यताओं (Values) और उद्देश्यों के पुनर्निर्माण और संवेगात्मक परिस्थिति में विवेक से काम लेने की आदत से बड़ी सहायता मिल सकती है।

¹ Nagge, F. W.—*Psychology of the Child*, p. 309, The Ronald Press Co., New York, 1942.

किसी हाथ की आदत को बदलना और हकलाना—कुछ लोगों की धारणा है कि यदि कोई बालक बायें हाथ से अपने अधिकांश कार्य करने की प्रवृत्ति रखता है और उसे दाहिने हाथ से अपने कार्य करने के लिए अभिप्रेरित हाथ की आदत बदलने किया जाय तो उसमें हकलाने का दोष आ सकता है। इस से यह दोष नहीं धारणा की पुष्टि के लिए अभी पर्याप्त प्रमाण नहीं मिल सके हैं और यह जान पड़ता है कि हाथ की आदत को बदलने से वाणी-दोष का आ जाना आवश्यक नहीं; यद्यपि कुछ अध्ययनों¹ से यह पता चला है कि उन बालकों में जिन्हें अपने हाथ की आदत को बदलने के लिए अभिप्रेरित किया गया बहुत से हकलाने वाले हुए, और साथ ही, बहुत बालकों में यह दोष नहीं भी आया। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बच्चों की आदत को इस प्रकार बदला जा सकता है कि उनमें कोई वाणी दोष न आये। वस्तुतः जब बालक किसी कारण से आत्महीनता की भावना का अनुभव करने लगता है तभी उसमें किसी प्रकार का वाणी-दोष आ जाता है।

चिन्तन और तर्क का विकास

(Development of Thinking and Reasoning)

क्या भाषा और विचार (Thought) प्रतिक्रियायें एक दूसरे के समान हैं? इस प्रश्न के उत्तर से एक मत नहीं मिलता। परन्तु जब हम देखते हैं कि कुछ प्रौढ़ व्यक्ति और बच्चे जोर से बातचीत करते हुए सोचते जाते हैं और विचारों का प्रकाशन शब्दों के सहारे ही किया जा सकता है तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विचार एक प्रकार की उपवाणी ही है। कुछ लोगों का कहना है कि विचार को उपवाणी नहीं माना जा सकता, क्योंकि विचार-प्रतिक्रिया में यह देखा जाता है कि जिह्वा तथा वाणी के अवयव क्रियाशील नहीं भी रहते। कोलहर² ने अपने अन्वेषणों में देखा कि वे कुछ विशिष्ट कोटि के बन्दर अपनी कुछ गतियों से यह स्पष्टतः प्रगट करते हैं कि वे चिन्तन-प्रक्रिया में हैं, परन्तु वे मानव के अर्थ में एक भी शब्द का प्रयोग नहीं करते। अतः यह भी कहा जा सकता है कि चिन्तन-प्रक्रिया में भाषा-प्रक्रिया का होना आवश्यक नहीं। भाषा से विचार को सारगर्भित और विस्तृत बनाया जा सकता है, परन्तु उसे विचार का पर्यायवाची नहीं समझना चाहिये।

अपने विकास के क्रम में बालक यह कई बार अनुभव करता है कि उसे अपने विचारों के प्रकाशन पर अवश्य रोक लगानी चाहिए, अन्यथा बड़े लोग उससे कभी-

¹ Orton, S. T, & Trawis, L. E.—Studies in Stuttering, IV, *Archives of Neurology Psychiatry* 21, 61-68, 1929.

² Kohler, W.—The Mentality of Apes, Harcourt, Brace & Co, New York, 1927.

कभी चिढ़ जाते हैं, क्योंकि उन्हें उसकी बातें कभी-कभी असंगत और अतार्किक लगती हैं। ऐसी स्थिति के आने से अपने वाणी-क्रियाशीलता को छोड़ कर वह चिन्तन-प्रक्रिया की ओर झुकता है। कहना न होगा कि अन्य अवसरों पर स्वतंत्र रूप से भी वह अवसरानुसार अपनी चिन्तन और तर्क प्रक्रियाओं को चलाता है।

चिन्तन और तर्क-प्रक्रिया कोई जन्मजात प्रवृत्ति नहीं है। वस्तुतः यह तो अनुभव से जागृत होती है। संवेदनाओं (Sensations) और प्रत्यक्षीकरण (Perception) की पृष्ठभूमि पर ही व्यक्ति किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है

तर्क के लिए भाषा पर अथवा किसी समस्या के सुलभाव के पाने में समर्थ होता है। नियन्त्रण आवश्यक तर्क कर सकने के लिए एक विस्तृत अनुभव की आवश्यकता होती है और कुछ उच्चतर तर्क के लिए भाषा पर नियन्त्रण

की भी आवश्यकता होती है। अतः कुछ लेखकों की धारणा है कि सात वर्ष के पूर्व बालक तर्क करने की योग्यता नहीं रखता; कुछ तो बारह वर्ष की भी बात करते हैं।

यदि तर्क का अर्थ हम उपस्थित प्रतिक्रियाओं में से उपयुक्त प्रतिक्रिया के चुनाव कर लेने से समझें, अथवा उससे समस्या के सुलभाव पाने की प्रक्रिया या तार्किक चिन्तन समझें तो यह कहा जा सकता है कि तर्क

तर्क-शक्ति विकास करने की योग्यता किसी विशिष्ट उम्र पर अकस्मात् नहीं आ जाती। वस्तुतः तर्क-शक्ति का विकास शैशव से ही प्रारम्भ

का फल हो जाता है। हमें यह न समझना चाहिए कि तर्क-शक्ति कुछ लोग जन्म से ही लाते हैं। तर्क-शक्ति विकास का फल है। हाँ, यह सत्य है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति में यह उत्कृष्ट कोटि की होती है और सामान्य व्यक्ति और मन्द बुद्धि में उससे निम्नतर। अनुभव से, निर्णय करने के लिए उपयुक्त अवसर देने से तथा अपनी समस्याओं को स्वयं सुलभाने के लिए प्रेरणा देने से किसी भी व्यक्ति की तर्क-शक्ति को सन्तोषजनक सीमा पर पहुँचाया जा सकता है। कहना न होगा कि उपयुक्त अवसर तथा शिक्षण के अभाव में व्यवितत्व की स्वाभाविक शक्ति का विकास न हो सकेगा।

तर्क क्या है ?

(What is Reasoning ?)

जिस चिन्तन-प्रक्रिया में हम कारण (Cause) और कार्य (Effect) का विश्लेषण करते हैं उसे सामान्यतः तर्क-प्रक्रिया कहा जा सकता है। इस विश्लेषण में जब

कारण और कार्य का ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकना

व्यक्ति गलती करता है तो तर्क-प्रक्रिया दूषित हो जाती है। तब उसे सच्ची तर्क-प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति जब गरीबों की बस्ती में बहुत से निर्बल बुद्धि व्यक्तियों को पाकर यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि गरीबों की बस्ती बुद्धि-निर्बलता पैदा करती है, तो वह गलत तर्क करता है। इस

प्रकार जब चार बर्ष का बच्चा हवा के चलने के साथ पेड़ को भी हिलते देखकर यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि पेड़ के हिलने से हवा चलती है तो वह अपने गलत तर्क का प्रमाण देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कारण और कार्य का सही विश्लेषण कर सकना सिखलाना स्कूल के प्रधान कर्तव्यों में से है। अभिभावक तथा शिक्षकों को ऐसी परिस्थितियों का आयोजन करना है कि बच्चे कारण और कार्य का ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकें।

किसी सामान्य निष्कर्ष (Generalization) को निकाल सकना तर्क का ही एक महत्वपूर्ण अंग होता है। जब 'एक' के आधार पर 'पूरी जाति' का अनुमान लगा लिया जाता है तो हम सामान्य निष्कर्ष के सम्बन्ध में अपने गलत तर्क का प्रमाण देते हैं। उदाहरणार्थ; यदि किसी जाति के किसी एक व्यक्ति के बुरे व्यवहार को देखकर पूरी जाति को बुरा मान लिया जाय तो यह एकदम गलत तर्क होगा। अभिभावकों और शिक्षकों को यह देखना है कि शीघ्रता में इस प्रकार के गलत तर्क के आधार पर बच्चे गलत निष्कर्ष न निकाल लें।

समस्या के सुलभाव-सम्बन्धी प्रक्रिया को साधारणतः चिन्तन कहा जाता है। परन्तु उसे प्रायः तर्क-प्रक्रिया भी मान लिया जाता है। जब हम किसी विगत अनुभव के आधार पर किसी समस्या को सुलभाने का प्रयत्न करते हैं तो हम चिन्तन करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन के क्षेत्र में बच्चे तर्क करते हुए पाये जा सकते हैं। बच्चे अपनी समस्याओं के सुलभाव में शब्दों का प्रयोग करते हुये नहीं देखे जाते, इसलिए कुछ लोग समझते हैं कि उनके पास तर्क-शक्ति नहीं होती, परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है यह धारणा गलत है। वस्तुतः बच्चों में तर्क का स्वरूप वही होता है जो प्रौढ़ों में होता है। उनमें केवल मात्रा का भेद होता है, परन्तु प्रकार का नहीं।

अतः बच्चों को कारण और कार्य के सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुये हज़में पढ़ना चाहिये, तभी आवश्यक विचार उनके मन में घर कर सकेंगे, तभी वे अपनी समस्याओं का सुलभाव स्वयं खोजने के प्रयत्न में अपने दृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

तर्क-शक्ति के सम्बन्ध में यह याद रखना है कि यह व्यक्ति में बहुत दिन तक विकसित होती रहती है। कम से कम इसका विकास बीसवें वर्ष तक हो ही जाता है। उम्र के बढ़ने पर अनुभव की परिधि बढ़ती है। अतः ३५ वर्ष की अवस्था में व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर जैसा तर्क कर पाता है, वैसा उसके लिये २० वर्ष की अवस्था पर सम्भव नहीं होता।

स्मृति का विकास (THE DEVELOPMENT OF MEMORY)

स्मृति का स्वरूप (Nature of Memory)

अपने अनुभवों को याद रखने की प्रत्येक प्राणी में एक शक्ति होती है, परन्तु इस शक्ति में एक वैयक्तिक भेद पाया जाता है। अन्य प्राणियों से मनुष्य जाति में अपने अनुभवों को याद रखने की अधिक शक्ति होती है।

चेतन मन का अंग; गत पृष्ठों में हम संकेत कर चुके हैं कि मस्तिष्क के दो इसी से जीवन-ध्यापार अंग होते हैं—चेतन और अचेतन। अनुभवों का कुछ अंश सम्भव अचेतन मन का भाग हो जाता है और कुछ चेतन का।

स्मृति का सम्बन्ध प्रधानतः चेतन भाग से है। व्यक्ति अपनी स्मृति के सहारे ही विभिन्न प्रकार की कल्पना कर पाता है। स्मृति से ही वह अपने स्वजनों को पहचानता है, पढ़ता-लिखता अथवा सीखता है। यदि स्मृति-शक्ति व्यक्ति के पास न होती तो पता नहीं उसकी कौसी दशा होती।

स्टाउट के अनुसार पुराने अनुभवों को याद करना स्मृति का कार्य है। स्पीयरमैन के अनुसार स्मृति की ही सहायता से किसी समझी हुई वस्तु अथवा घटना का हम पुनर्स्मरण करते हैं। डम्बिल कहता है कि गत अवसर पर अनुभवों का पुनर्स्मरण स्मृति का लक्षण पर आते हैं। बुद्धि की प्रखरता में स्मृति का बड़ा भारी हाथ है। जिसकी स्मृति-शक्ति तीव्र होती है उसे अच्छी बुद्धि का कहा जाता है। स्मृति-शक्ति के खराब होने पर व्यक्ति का मानसिक विकास अवरोधित हो जाता है। अच्छी स्मृति वही है जिससे हम आवश्यक बातें समय पर निकाल सकते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि व्यक्ति जीवनोपयोगी ही बातें याद करता है। अपने कुछ अनुभवों को वह याद करता है और कुछ को वह भूलने का प्रयत्न करता है। यदि इस प्रयत्न में वह सफल न होता

तो उसका जीवन कठिन हो जाता, क्योंकि तब वह अनाप-सनाप बहुत सी बातें याद रखना और अवसर पर आवश्यक बात को स्मृति से निकाल सकना उसके लिए कठिन हो जाता है। अतः जीवनोपयोगी अनुभवों को मस्तिष्क में इस प्रकार सुसज्जित कर लेना कि समय पर उनका पुनस्मरण किया जा सके अच्छी स्मृति का लक्षण है।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि स्मृति वंशानुक्रमीय (Hereditary) होती है, अर्थात् स्मृति का प्रखर अथवा मन्द होना वातावरण पर उतना निर्भर नहीं करता जितना वंशानुक्रम पर करता है। इसका अर्थ हुआ कि वंशानुक्रम पर निर्भर स्मृति में वातावरण अर्थात् शिक्षा द्वारा मनमाना परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इस परिवर्तन की एक सीमा होगी। हाँ, स्मरण करने के ढंग में शिक्षा द्वारा कुछ सुधार किया जा सकता है।

स्मृति के अंग

(Factors of Memory)

स्मृति के चार अंग होते हैं। किसी वस्तु को स्मृति में रखने के पूर्व उसे याद करना आवश्यक होता है। याद करने के बाद उसे चेतन मन में धारण (Retention) करना चाहिए। धारण के बाद यह आवश्यक है कि समय पर उसका पुनस्मरण (Recall) किया जा सके। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति किसी याद की हुई वस्तु का पुनस्मरण नहीं कर पाता, परन्तु उस वस्तु को अन्य वस्तुओं के बीच में पाकर उसे भट पहचान लेने की शक्ति स्मृति का एक आवश्यक अंग समझा जाता है। अतः पहचान (Recognition) स्मृति का चौथा अंग हुआ। इस प्रकार स्मृति के अधोलिखित चार अंग हुये :

- (१) याद करना
- (२) धारण
- (३) पुनस्मरण
- (४) पहचान

नीचे हम प्रत्येक की संक्षेप में व्याख्या करेंगे। याद करने की व्याख्या 'स्मृति के नियम' के सम्बन्ध में दी जायगी—

धारण—धारण की शक्ति के विषय में वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है। हमारा यह अनुभव भी है कि कोई व्यक्ति किसी बात को अधिक देर तक याद रखता है और कोई याद की हुई बात को शीघ्र ही भूल जाता है। परीक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों का मत है कि प्रथम ११ वर्ष तक धारण-शक्ति में खूब वृद्धि होती है। इसके बाद १६वें वर्ष तक कुछ-कुछ उन्नति होती रहती है। परन्तु इसके बाद इसकी उन्नति रुक जाती है। उम्र बीत जाने पर कुछ लोग बहुधा यह कहते हुए सुने जाते हैं कि वे जो कुछ याद करते हैं उसे शीघ्र भूल जाते हैं। परन्तु उम्र के बीतने

पर ही धारण-शक्ति में कमी आ जाना आवश्यक नहीं। अच्छे स्वास्थ्य तथा किसी विषय में सच्ची रुचि के रहने पर धारण-शक्ति बहुत दिनों तक प्रबल रह सकती है।

पुनस्मरण— पुनस्मरण की मानसिक प्रक्रिया में अनुभव की (१) समानता (Similarity), (२) वैपरीत्य (Contrast), (३) सहचारिता (Contiguity) का होना आवश्यक है। पुनस्मरण के लिए आवश्यक इन तीनों अंगों को प्रत्यय-सम्बन्ध (Association of Ideas) कहते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी हैं। ये प्रत्यय-सम्बन्ध को दृढ़तर बनाते हैं। इनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं।

१—नवीनता (Recency)

२—प्रबलता (Vividness)

३—अविरलता (Frequency)

४—रोचकता (Interest)

नीचे संक्षेप में प्रत्येक की व्याख्या की जा रही है—

किसी वस्तु को देखने से हमें उस वस्तु का स्मरण आ सकता है जिससे उसकी कुछ समानता है। जैसे किसी व्यक्ति को देखने से उसके समान चेहरे वाले व्यक्ति का

हमें स्मरण हो सकता है। छोटा बच्चा प्रत्येक जानवर में कुछ समानता देखता है। उसने गाय को पहचान लिया है।

अतः किसी दूसरे पशु को देख कर उसे वह गाय की ही संज्ञा दे बैठता है। समानता का भाव, रूप और गुण दोनों में देखा जाता है। इसीलिए तो कोयल की कूक से कवि को बसन्त की याद आ जाती है।

जैसे समानता के कारण हमें एक वस्तु के सहारे दूसरे का अनायास स्मरण होता है उसी प्रकार वैपरीत्य अर्थात् विरोधी धर्म वाली वस्तुएँ एक दूसरे का स्मरण

करा देती हैं। जैसे, रोगी को देखकर किसी पहलवान का हमें ध्यान हो सकता है, अथवा गन्दे कपड़े को देखकर हमें

स्वच्छ कपड़े का ध्यान आ सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वैपरीत्य में समानता का भाव निहित रहता है, और इस समानता के कारण ही हमें दूसरी वस्तुओं का स्मरण हो आता है।

यदि किन्हीं दो वस्तुओं अथवा बातों का एक साथ ही ज्ञान किया जाता है तो एक के पुनस्मरण से दूसरे का स्मरण स्वतः हो जाता है। सहचारिता दो प्रकार

की होती है—देशगत (Place) और कालगत (Time)। जब एक ही स्थान पर दो वस्तुएँ देखी जाती हैं तो वे देश-

गत सहचारिता के अन्तर्गत आ सकती हैं। जैसे, यदि कमरे में मेज और कुर्सी साथ ही साथ बराबर देखी गई हैं और एक वहाँ से हटा ली गई

है तो एक के देखने से दूसरे का तुरन्त पुनस्मरण हो सकता है। याद की हुई कविता का पाठ करते समय एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे का पुनस्मरण स्वतः हो जाता

है। वह कालगत सहचारिता के अनुसार हुआ।

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार पुनस्मरण के तीन आवश्यक नियमों में 'अनुभव की सहचारिता' (Contiguity of Experience) ही प्रधान है। दो वस्तुओं में किसी प्रकार की समानता का भास होने से उनके वैपरीत्य अनुभव की सहचारिता का भी हमें ध्यान हो आता है। इस प्रकार 'समानता' और ही प्रधान 'वैपरीत्य' में कुछ समान तत्वों की झलक मिलती है। देश और काल की दृष्टि से हमारे अनुभवों में एक प्रकार की समानता का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है इस समानता के आधार पर ही सहचारिता स्थापित होती है। अतः कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि पुनस्मरण में 'अनुभव की सहचारिता' मुख्य है।

“सभी बातों के समान रहने पर एक विचार के मन में आने पर उस दूसरे विचार का जिसका उससे थोड़ी ही देर पूर्व अथवा नवीन सम्बन्ध स्थापित हुआ रहता है पुनस्मरण हो जाता है।” इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान नवीनता अनुभव से उस गत अनुभव की याद आ जाती है जो थोड़ी ही देर पहले हुआ रहता है। उदाहरणार्थ 'बच्चा' शब्द सुनने से हमें उस बच्चे का ध्यान आ सकता है जिसने थोड़ी ही देर पहले आकर हमारी पुस्तक को फाड़ डाला था।

‘सभी बातों के समान रहने पर किसी विचार के स्मरण से उस दूसरे विचार का जिसका बड़ी प्रबलता से सम्बन्ध स्थापित रहता है, पुनस्मरण हो आता है।’ जो विचार बड़ी प्रबलता से हमारे मन में बैठ जाता है उसका पुनस्मरण बड़े शीघ्र हो आता है। यदि बन्दर की ध्वनि और सूरत से बालक बहुत डर गया हो तो पुनः बन्दर की आवाज से ही बालक पहले की तरह बहुत डर सकता है।

“सभी बातों के समान रहने पर परिस्थिति की समानता में एक विचार के स्मरण से उस दूसरे विचार का जिसका उससे बार-बार सम्बन्ध बंधा रहता है पुनस्मरण हो जाता है।” जो विचार हमारे मस्तिष्क में बार-बार आता रहता है उसका किसी अवसर विशेष पर हमें बड़े शीघ्र स्मरण हो आता है। जिस व्यक्ति को कोई वस्तु बहुत प्यारी है उस वस्तु से सम्बन्धित कोई शब्द किसी अवसर पर अनायास सुनने से उसी वस्तु का पुनस्मरण हो सकता है।

वस्तुतः अविरलता और रोचकता में विशेष अन्तर नहीं। हम उसी वस्तु पर बार-बार ध्यान देते हैं जिनमें हमारी रुचि होती है। रुचि के अनुसार ही व्यक्ति में विभिन्न विचार-सम्बन्ध स्थापित होते हैं। जिस विषय में उसकी रुचि रहती है उसका पुनस्मरण उसे किसी अनुकूल अवसर पर अनायास आ सकता है।

पहचान—ऊपर हम कह चुके हैं कि स्मृति के लिए 'पहचान' की शक्ति बड़ी आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति को देखने से हमें यह भान होता है कि इसे हमने पहले कभी देखा है तो इसे 'पहचान' कहा जायगा। पहचान-शक्ति में वैयक्तिक भिन्नता होती है। हमारा यह अनुभव भी है कि कोई व्यक्ति एक बार के ही देखने के बाद में किसी को पहचान लेता है और किसी को इसमें बड़ी कठिनाई होती है। व्यक्ति में पहचानने की शक्ति पुनर्स्मरण से अधिक होती है। किसी व्यक्ति के नाम के पुनर्स्मरण में जब हम असमर्थ दिखलाई पड़ते हैं तो हम बहुधा कहते हैं कि "इस अक्षर से आरम्भ होने वाले कुछ नाम लो तो उस व्यक्ति का नाम हम बता देंगे।" ऐसा हम पहचान-शक्ति के कारण ही कर पाते हैं।

स्मृति के प्रकार (Kinds of Memory)

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्मृति के दो भाग किये जा सकते हैं :—आदत-जन्य (Habit Memory) और 'प्रतिमा-युक्त या वास्तविक, (Image or True Memory) नीचे इनकी ओर संक्षेप में संकेत किया जायगा।

आदत-जन्य स्मृति—आदत-जन्य स्मृति का सम्बन्ध रटने वाली वस्तु से होता है। गणित के नियम, पहाड़े अथवा पद्य आदि जो रट लिये जाते हैं उनमें आदत-जन्य स्मृति ही काम करती है। आदत-जन्य स्मृति में व्यक्ति वस्तु में निहित सिद्धान्तों को नहीं समझ पाता। अतः अवसर पर इन सिद्धान्तों का वह उपयोग नहीं कर पाता। अतः बालक को यदि कोई वस्तु रटाई जाय तो यह आवश्यक है कि अवसर के अनुसार उसे उसमें निहित सिद्धान्तों को भी समझा दिया जाय।

प्रतिमा-युक्त या वास्तविक स्मृति—जिस याद की हुई वस्तु का संस्कार मस्तिष्क में ठीक-ठीक बैठ जाता है उसकी प्रतिमा भी मस्तिष्क में जम जाती है और व्यक्ति उसमें निहित सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ लेता है। यदि ऐसा हो सका तो व्यक्ति में वस्तु-सम्बन्धी वास्तविक अथवा प्रतिमा-युक्त स्मृति आ जाती है। प्रतिमा-युक्त स्मृति के बार-बार उपयोग से व्यक्ति इतना अभ्यस्त हो सकता है यह स्मृति आदत-जन्य के समान लग सकती है।

स्मरण या याद करने के नियम (Laws of Memorization)

नीचे याद करने के कुछ नियम दिये जा रहे हैं—

१. आवश्यक मानसिक अभ्यास करना — कोई वस्तु आवश्यक मानसिक प्रयास बिना नहीं याद हो सकती। परन्तु यह प्रयास करने के पूर्व वस्तु में निहित सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है, अन्यथा परिश्रम का समुचित फल न मिल सकेगा। जो विद्यार्थी बिना समझे हुए बातें याद कर लेते हैं वे अवसर पर उनके उपयोग में असमर्थ सिद्ध होते हैं।

२. याद की जाने वाली वस्तु का विभिन्न अंगों में विभाजन न करना; क्योंकि ऐसा करने से वस्तु का तारतम्य टूट जाता है और विचारों के परस्पर-सम्बन्ध को समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

३. याद कर लेने के बाद समय-समय पर वस्तु का दुहराते रहना; क्योंकि इससे संस्कार दृढ़तर होते हैं। हमारा यह अनुभव भी है कि अभ्यास छूट जाने से याद की हुई वस्तु भूल जाती है।

४. याद करने के क्रम में बीच-बीच में विश्राम करना, इससे संस्कारों के मस्तिष्क में जमने में सहायता मिलती है।

स्मरण करने के नियम को जान लेने के बाद स्मरण करने की विधियों को जानना आवश्यक है। अतः आगे इन्हीं का उल्लेख किया जायगा।

स्मरण करने की विधियाँ (Methods of Memorization)

खण्डशः तथा समग्र याद करना (Part versus whole method)—
खण्डशः विधि में वस्तु के कई भाग कर लिये जाते हैं और एक-एक भाग को बारी-बारी से याद किया जाता है। जैसे, ५० पंक्तियों वाली कविता को याद करने के लिए उसके १०-१० के ५ भाग कर लिये जायेंगे और बारी-बारी से एक-एक भाग को याद किया जायगा। समग्र विधि में पूरी कविता का आद्योपान्त पाठ तब तक किया जायगा जब तक वह अच्छी तरह याद नहीं हो जाती।

यह कहना कठिन है कि इन दोनों विधियों से कौन विधि श्रेष्ठतर है। वस्तुतः दोनों के अपने-अपने दोष-गुण हैं और दोनों विधि का समय-समय पर अवलम्बन लेना पड़ सकता है। नीचे इन दोष-गुणों का संक्षेप में विवेचन किया जायगा।

खण्डशः विधि में वस्तु में निहित विचारों का तारतम्य टूट जाता है, क्योंकि व्यक्ति को बिना किसी विचार के याद करने के लिए वस्तु का खण्ड कर लेना होता है। दूसरे, इस विधि में एक शब्द का दूसरे शब्द से गलत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, क्योंकि दोहराने में कुछ शब्द बार-बार आते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि खण्डशः विधि से याद की हुई वस्तु को दोहराने में भूल होता है तो वह प्रारम्भ में ही होती है, क्योंकि इस विधि को याद करने में व्यक्ति विचारों के तारतम्य को समझने में पूर्णरूपेण समर्थ नहीं होता। समग्र विधि की अपेक्षा इस विधि में समय भी अधिक लगता है।

परीक्षणों द्वारा देखा गया है कि समग्र विधि में खण्डशः विधि से एक-चौथाई समय की बचत होती है। परन्तु समग्र विधि की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि याद की जाने वाली वस्तु का आकार ऐसा हो कि उसकी पूरी प्रतिमा एक बार ही व्यक्ति के मस्तिष्क में आ जाय। कहना न होगा कि यह आकार वैयक्तिक भिन्नता पर

खिलौना रखा गया है। जेसेल¹ का कथन है कि एक वर्ष की उम्र के अध्ययन किये हुये शिशुओं में ६३ प्रतिशत शिशु यह जानने के लिये प्रयत्नशील हो गये कि उनके हाथ से चिम्मच कहाँ गिर गये। व्यूहलर² के अनुसार एक वर्ष का शिशु खिलौने के खो जाने पर उसे पाँच मिनट तक याद रखता है और दो साल का शिशु उसे बीस मिनट तक याद रख सकता है।

रोता हुआ एक वर्ष का बालक कभी-कभी अपनी माँ की आवाज सुनकर चुप हो जाता है। एक वर्ष का शिशु आठ-दस दिन पर बाहर से अपने पिता के आने पर उसे पहचान जाता है, परन्तु दो-तीन महीने बाद उसके आने पर वह नहीं पहचान पाता। कुछ दिन बाद आने पर सभी को यह उत्सुकता हो जाती है कि छोटे शिशु को उसकी याद बनी है अथवा नहीं।

एक वर्ष का शिशु अनुकरण करना सीख लेता है। उसके अनुकरण में उसकी स्मृति-शक्ति ही छिपी रहती है। बाल्डविन और स्ट्रेचर³ ने छोटे-छोटे शिशुओं की स्मृति-सम्बन्धी एक परीक्षा की। दो वर्ष के शिशुओं की सामने लकड़ी के चार चौकोर टुकड़े रक्खे गये और एक पाँचवें टुकड़े से उन पर आवाज कर वह टुकड़ा जमीन पर रख दिया गया। दो वर्ष के शिशु ने वैसा ही करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल न हो सका। तीन वर्ष का शिशु उसमें सफल हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि उम्र के बढ़ने के साथ गति-सम्बन्धी स्मृति बढ़ती जाती है।

बालकों की चित्र-सम्बन्धी स्मृति का विकास धीरे-धीरे होता है। ढाई वर्ष की पूर्णिमा को चित्रमय वर्णमाला याद कराने की चेष्टा की गई। इस चेष्टा में वह केवल उन्हीं वर्णों को याद कर सकी जिससे सम्बन्धित वस्तुएँ घर में प्रयुक्त की जाती थीं। जैसे “अनार कहे अ, आम कहे आ, लकड़ी कहे ल, ओखली कहे ओ, खरबूजा कहे ख, इत्यादि-इत्यादि”। परन्तु वह “उल्लू, ऋषी, तलवार, बतख, मगर, भगत, जहाज आदि शब्दों” को न याद कर सकी, क्योंकि घर में इन शब्दों से उसका परिचय नहीं होता रहा। परन्तु चार वर्ष की हो जाने पर पूर्णिमा वर्णमाला के अक्षरों को पहचानने में गलती नहीं करती। अपने परीक्षणों के आधार पर बाल्डविन और स्ट्रेचर का कहना है कि दो साल के शिशु पहले से देखे हुए चित्रों में से एक चित्र, तीन साल के, चार-चार साल के आठ, पाँच साल के ग्यारह और छः साल के बारह चित्रों को पहचान सकते हैं।

पिल ने आठ से बारह वर्ष के २११३ लड़कों और २११६ लड़कियों की

¹ Gessel, A.—The First Year of Life, Harper, New York, 1940.

² Buhler, C.—The First Year of Life, Day, New York, 1930.

³ Baldwin, B. T. and Stretcher, L.—The Psychology of the Preschool Child, Appleton Century Crofts, New York, 1927.

निर्भर करेगा। संग्रह विधि में दोष यह है कि व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल बहुत देर में मिलते दिखलाई पड़ता है। अतः प्रारम्भ में वह कुछ हतोत्साह हो सकता है। दूसरे, वस्तु में आई हुई बातों की कठिनाई समान नहीं होती। फलतः उन्हें याद करने में समान समय की आवश्यकता नहीं होती। अतः कुछ बातों की अनावश्यक आवृत्ति करनी पड़ती है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने याद करने के लिए इन दोनों विधियों के उपयोग की राय दी है। सर्व प्रथम पूरे पाठ को पढ़कर याद कर लेना चाहिए। इसके बाद पूरे पाठ को तब तक याद करना चाहिए जब तक वह याद न हो जाय। यदि कोई पद विशेष कठिन है तो उसकी अलग से कई बार आवृत्ति करनी चाहिए।

लगातार और समय विभाग द्वारा याद करना (Continuous and Spaced Learning)—किसी वस्तु को लगातार याद करने के प्रयत्न में मस्तिष्क थक जाता है। अतः याद करने के क्रम में बीच-बीच में थोड़ा विश्राम कर लेना आवश्यक है। विश्राम के अतिरिक्त कुछ देर तक किसी काम में लग जाना भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि कार्य का परिवर्तन मस्तिष्क के लिये विश्रामदायक होता है। यह देखा गया है कि लगातार याद की हुई वस्तु बहुत देर तक मस्तिष्क में नहीं टिकती। विश्राम देने में यह याद रहे कि वह बहुत लम्बा न हो, अन्यथा मस्तिष्क द्वारा अर्जित संस्कार नष्ट हो जायेंगे। याद की जाने वाली वस्तु के छोटी होने पर उसे लगातार ही याद किया जा सकता है। बड़ी होने पर उसे समय-विभाग द्वारा याद करना ही अधिक अच्छा होगा।

बालक में स्मृति का विकास

(The Development of Memory in the Child)

यह कहना कठिन है कि बालक में स्मृति का विकास कब से प्रारम्भ होता है। कुछ माता-पिता का तो कहना है कि उनके शिशु ने प्रथम महीने से ही उन्हें पहचानना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि तीसरे या चौथे महीने से शिशु में स्मृति का चिन्ह स्पष्टतः देखा जा सकता है। परन्तु इसमें वैयक्तिक भेद होता है। अतः कुछ बालकों में इसमें देर भी लग सकती है। परन्तु ८ या ९ महीने के बाद प्रायः सभी शिशु अपनी माँ की आवाज को पहचानने लगते हैं। दस या ग्यारह महीने की उम्र में तो प्रायः सभी सामान्य शिशु कुछ सार्थक शब्दों का उच्चारण करने लगते हैं। इन शब्दों से उनकी स्मृति का अनुमान होता है। एक वर्ष का बालक खिलौने के छिप जाने पर उसे पाने के लिये बड़ी सतर्कता से देखता है। ऐलेन¹ के अनुसार एक साल का शिशु कुछ क्षण तक यह याद रखता है कि तीन छोटी सन्दूकों में किसमें उसका

¹ Allen, C. N.—Archives of Psychology, Part 19, No. 127.

मूर्त वस्तुओं की स्मृति-सम्बन्धी परीक्षा की। उसने देखा की आठ वर्ष की लड़कियाँ १७ शब्द और लड़के १६ शब्द; ९ वर्ष की लड़कियाँ १६ और लड़के १८; दस वर्ष की लड़कियाँ और लड़के २०; ११ वर्ष की लड़कियाँ २२-२५ और लड़के २१-७५; और १२ वर्ष की लड़कियाँ २३-७५ और लड़के २२-७५ शब्द याद कर सके। अमूर्त वस्तुओं के नाम को याद करने के सम्बन्ध में पिल ने २११२ लड़कों और २१२७ लड़कियों पर परीक्षण किया। इस परीक्षण में पिल ने देखा कि आठ वर्ष की लड़कियाँ १४-७५ और लड़के १४; ९ वर्ष की लड़कियाँ १७-७५ और लड़के १६; १० वर्ष की लड़कियाँ और लड़के दोनों १८; ११ वर्ष की लड़कियाँ २० और लड़के १६-२५; और १२ वर्ष की लड़कियाँ २२ और लड़के २०-७५ शब्द याद कर सके। पिल के अन्वेषण से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि १२ वर्ष तक लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा स्मृति-शक्ति तीव्रतर होती है, परन्तु दस वर्ष की उम्र में दोनों की स्मृति-शक्ति बराबर होती है।

ए० एस० स्टार के परीक्षणों से ज्ञात होता है कि एक बार सुनने पर चार या पाँच वर्ष के बच्चे चार अङ्कों को, ६ से ८ वर्ष के ५ और ९ से १२ वर्ष के बच्चे ६ अङ्कों को ठीक-ठीक दोहरा सकते हैं। स्मेडले ने अपने परीक्षण में देखा कि ७ $\frac{१}{२}$ वर्ष के बच्चे ३५-०२५ प्रतिशत, ८ $\frac{१}{२}$ के ४२ $\frac{१}{२}$ प्रतिशत, ९ $\frac{१}{२}$ के ४५ प्रतिशत, १० $\frac{१}{२}$ के ५० प्रतिशत, ११ $\frac{१}{२}$ के ५५ प्रतिशत और १२ $\frac{१}{२}$ के ५५-०२५ प्रतिशत, अंकों को एक बार सुनने से दोहरा सकते हैं। लिखे हुए अंकों को देखने पर उनके दोहराने की शक्ति इस प्रकार पाई गई—७ $\frac{१}{२}$ वर्ष ३६ प्रतिशत, ८ $\frac{१}{२}$ वर्ष ४४-६ प्रतिशत; ९ $\frac{१}{२}$ वर्ष ४७-५ प्रतिशत, १० $\frac{१}{२}$ वर्ष ५५ प्रतिशत, ११ $\frac{१}{२}$ वर्ष ६५ प्रतिशत और १२ $\frac{१}{२}$ वर्ष ७२-५ प्रतिशत। स्मेडले के परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि देखने की स्मृति-शक्ति सुनने की स्मृति-शक्ति से तीव्रतर होती है और सुनने की स्मृति-शक्ति की विकास-गति देखने की गति से धीमी होती है।

बालकों की निरर्थक शब्दों की स्मृति-शक्ति के अन्वेषण में स्ट्राउड और मौल ने देखा कि ७ वर्ष के बालक ४ शब्द, ८ वर्ष के ५ $\frac{१}{२}$, ९ वर्ष के ५ $\frac{३}{४}$, १० वर्ष के ६ $\frac{१}{२}$ और ११ वर्ष के ६ $\frac{३}{४}$ शब्द याद कर सके। कविता याद करने की शक्ति पर भी इन्हीं बालकों पर परीक्षण किया गया और इसका फल इस प्रकार निकला; ७ वर्ष के ६ $\frac{३}{४}$ पंक्ति, ८ वर्ष के ११ $\frac{१}{२}$ पंक्ति, ९ वर्ष के १२ $\frac{१}{२}$, १० वर्ष के १६ और ११ वर्ष के १७ $\frac{१}{२}$ पंक्ति याद कर सके।

स्मरण करने का सबसे अच्छा काल कौन ?

(Which Period Best for Memorization)

है ? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। स्मृति के सम्बन्ध में रुचि की बात आ जाती है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सभी लोग किसी भी अवस्था में विभिन्न बातें याद कर सकते हैं। भौतिक-शास्त्र का विद्यार्थी अपने विषय-सम्बन्धी बातें अधिक सरलता से याद कर सकता है। संगीत-सम्बन्धी स्मृति की परीक्षा में वह एक छोटे बालक के सामने निकम्मा सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार किसी चित्र-सम्बन्धी स्मृति की परीक्षा में बालक किसी प्रौढ़ व्यक्ति से श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है, क्योंकि बहुत सम्भव है कि प्रौढ़ व्यक्ति उस चित्र के अध्ययन में बालक के समान रुचि न दिखला सके। अतः यह कहा जा सकता है कि स्मृति के सम्बन्ध में रुचि का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि बचपन याद करने का सबसे अच्छा काल है। परीक्षणों द्वारा मनोवैज्ञानिकों ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है। वस्तुतः याद करने का सबसे अच्छा काल तभी है जब व्यक्ति याद करना चाहता है। बच्चों में रट कर याद करने की शक्ति का विकास अवश्य शीघ्र ही हो जाता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बचपन के बाद कोई रट नहीं सकता। यहाँ भी रुचि का ही प्रश्न उपस्थित होता है। रुचि के रहने पर किसी भी समय व्यक्ति रटने में समर्थ हो सकता है। हाँ, यह हमें मानना पड़ेगा कि वृद्धावस्था में जब सभी शक्तियों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है तो इस ह्रास का प्रभाव स्मृति पर भी स्वभावतः पड़ता ही है।

‘बचपन’ स्मरण करने के लिए सबसे अच्छा काल नहीं

मानसिक विकास

(MENTAL DEVELOPMENT)

मानसिक और शारीरिक विकास में सम्बन्ध

(Relation between Mental and Physical Development)

मानसिक और शारीरिक विकास के परस्पर-सम्बन्ध को समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कई अन्वेषण किए हैं। इन अन्वेषणों के फलस्वरूप दोनों में १० और २० के अन्तर्गत सहसम्बन्ध¹ आता है। इस सहसम्बन्ध से यह सारांश निकलता है कि किसी बालक के वर्तमान शारीरिक अथवा मानसिक विकास से उसके भावी मानसिक अथवा शारीरिक विकास के रूप का ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता, अर्थात् किसी बालक की ऊँचाई तथा तौल के अध्ययन से उसके मानसिक विकास का अनुमान लगाना ठीक नहीं; तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि एक का दूसरे पर कुछ प्रभाव पड़ता ही है। किशोरों के अध्ययन में शटलवर्थ² ने प्रमाण सहित यह दिखलाया है कि निर्बल बुद्धि वाले किशोरों का शारीरिक विकास प्रतिभाशाली तथा सामान्य कोटि के किशोरों की अपेक्षा देर में होता है, उनमें दाँत देर से आते हैं, उनमें अधिक शारीरिक दोष मिलते हैं और उनका जीवन-विस्तार भी दूसरों की अपेक्षा कम होता है। शटलवर्थ के निष्कर्ष का समर्थन फ्लोरी³ ने भी अपने अन्वेषण के द्वारा किया है। फ्लोरी ने यह कहा है कि मन्द मानसिक विकास वाले बालकों का शारीरिक विकास धीरे-धीरे होता है और वे अधिक दिन तक

¹ Thorpe, Louis P.—Child Psychology and Development, p. 339, The Ronold Press Company, New York, 1946.

² Shuttleworth, Frank.—The Adolescent Period, A Graphic and Pictorial Atlas, Monographs of the Society for Research in Child Development, Vol. 3, No. 3. 1938.

³ Flory, C. D.—The Physical Growth of Mentally Deficient Boys, Monographs of the Society for Research in Child Development, Vol. I, No, 6, 1936.

अप्रौढ़ बने रहते हैं। एक अध्ययन¹ में स्कूल में ६०० कमजोर बालकों तथा २७०० मानसिक विकास की दृष्टि से सामान्य बालकों के विकास की तुलना की गई। कमजोर बालकों के स्वास्थ्य की कुछ विशेष परिचर्या की गई। तथापि यह देखा गया कि उनमें सामान्य बालकों की अपेक्षा अधिक शारीरिक दोष हैं। ली और नेमजिक² को भी अपने अन्वेषण में यही फल मिला। उन्होंने देखा कि अंग्रेजी, सामाजिक विज्ञान तथा साधारण विज्ञान में उन लड़कियों को अच्छे अङ्क मिले जिनमें शारीरिक दोष कम थे।

उपर्युक्त अन्वेषणों के निष्कर्षों से यह फल निकालना ठीक न होगा कि शारीरिक दोष स्वभावतः बुद्धि के विकास को अवरुद्ध कर देते हैं। अब तक इन दोनों में कार्य और कारण का घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पाया गया है। शारीरिक तथा मानसिक विकास की मन्द गति का कारण वातावरण सम्बन्धी विभिन्न बातें हो सकती हैं।

जन्म के समय चोट तथा बाद के मानसिक विकास में कुछ सहसम्बन्ध पाया गया है। डॉल, फेल्स तथा मेलचर³ ने अपने अन्वेषण के बल पर कहा है कि जन्म के समय शिशु को चोट लग जाने से उसकी कुछ ही दिन बाद जन्म के समय चोट का परिणाम मृत्यु, बाद में विकसित होने वाले विभिन्न प्रकार के शारीरिक दोष, व्यवहार-सम्बन्धी दोष तथा मानसिक विकास-सम्बन्धी दोष आ सकते हैं। काँज⁴ ने अपने अन्वेषण के फलस्वरूप उपर्युक्त बात की प्रामाणिकता सिद्ध की है। उन्होंने प्रमाण सहित यह दिखलाया है कि जन्म के समय चोट लग जाने से केवल मानसिक विकास ही अवरुद्ध नहीं होता, वरन् उससे वात, मिरगी का रोग तथा अन्य शारीरिक रोग भी आ सकते हैं।

¹ Goldwassel, M.—“Physical Defects in Mentally Retarded School Children”, *California and Western Medicine*, 47. pp. 310-315, 1937.

² Lee, Frank H. and Nemzek, C. L.—“Relation between Certain Physical Defects and School Achievement”, *Journal of Social Psychology*, 13, pp. 385-394, 1941.

³ Doll, E. A., Phelps, W. M., and Melcher, R. T.—*Mental Deficiency due to Birth Injuries*, Macmillan, New York, 1932.

⁴ Katj, B.—*The Etiology of the Deteriorating Psychoses of Adolescence and early Adult Life*, Doctoral Dissertation, The Univ. of Southern, California, 1939.

शारीरिक और मानसिक विकास के विभिन्न अङ्गों में विशेष सहसम्बन्ध न रहने से बाल-विकास के विद्यार्थियों का भुकाव इस विश्वास की ओर हो गया है कि मानव विकास अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक इकाई में **विभिन्न अंगों का विकास एक इकाई में** चलता है। उनका अब विश्वास है कि प्रत्येक प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक विकास एक गति से चला करता है; और विभिन्न प्रकार के विकासों को एक आन्तरिक संतुलन शक्ति एक ही सूत्र में बाँधने की चेष्टा करती रहती है। हमें यह ध्यान रखना है कि शिक्षा-सम्बन्धी तथा अन्य सामाजिक अवसर के मिलने से बालक का मानसिक विकास बहुत आगे बढ़ सकता है, परन्तु-यह सम्भव है कि इन सबका उसके शारीरिक विकास पर कुछ भी प्रभाव न पड़े। पौष्टिक भोजन की प्राप्ति या अभाव से व्यक्ति का शारीरिक विकास कई प्रकार से प्रभावित हो सकता है और सम्भव है कि इसका उसके मानसिक विकास पर विशेष प्रभाव न पड़े। अतः आश्चर्य नहीं कि मानसिक और शारीरिक विकास में बहुत ही कम सहसम्बन्ध मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बालक के विकास के विभिन्न अंग अलग-अलग रूप में नहीं चलते, वरन् एक **एक दूसरे पर प्रभाव** प्रकार के विकास का दूसरे प्रकार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः विभिन्नता रहते हुए भी उनमें एकता है और इस एकता के कारण ही एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

बुद्धि के स्वरूप को समझने की चेष्टा में मनोवैज्ञानिकों ने अधिक परिश्रम किया है, परन्तु वर्षों के अन्वेषण के फलस्वरूप भी वे इससे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का समाधान अभी तक नहीं कर पाये हैं। बुद्धि का विकास एक वर्ष से दूसरे वर्ष में किस गति से चलता है, विकास की किसी अवस्था में बुद्धि को कैसे मापा जा सकता है, इसका विकास कब रुक जाता है, इसका वास्तविक स्वरूप क्या है, तथा मानसिक और शारीरिक विकास में क्या सम्बन्ध है इत्यादि प्रश्न बुद्धि के सम्बन्ध में उठते हैं। अन्तिम प्रश्न का उत्तर तो हम ऊपर दे चुके हैं। नीचे अन्य प्रश्नों से सम्बन्धित कुछ बातों पर विचार किया जायगा।

बुद्धि के स्वरूप-सम्बन्धी प्रतिपादित सिद्धान्त (Theories of the Nature of Intelligence)

बच्चों के मानसिक विकास के स्वरूप को समझने के लिए बुद्धि की जो विभिन्न परिभाषायें दी गई हैं अथवा उसके सम्बन्ध में जो विभिन्न विवरण हैं उन्हें समझ लेना आवश्यक है। इन परिभाषाओं और विवरणों में बड़ा ही मतभेद पाया जाता है, परन्तु उनसे बालक के विकास-सम्बन्धी बहुत सी बातों पर प्रकाश पड़ता है। अतः नीचे हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि बुद्धि के स्वरूप के अन्तर्गत कौन-कौन सी बातें ली जा सकती हैं, अर्थात् किन-किन बातों से बुद्धि की पहचान की जा सकती है।

बुद्धि के विषय में मतभेद (Controversies Regarding Intelligence)—
बाल अध्ययन में बुद्धि को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, क्योंकि बुद्धि व्यक्तित्व का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। यदि बुद्धि व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग है तो हमारे सामने दो प्रश्न उठते हैं :—

१—क्या बुद्धि आन्तरिक शक्ति है जो हमारे व्यवहार को संचालित करती रहती है ? अथवा,

२—क्या बुद्धि व्यक्ति का वह गुण है जिससे वह अपने को विभिन्न नये वातावरण में समय-समय पर व्यवस्थित करता रहता है ?

उपर्युक्त दो प्रश्नों के अतिरिक्त हमारे सामने अधोलिखित प्रश्न भी उठते हैं—

१—क्या बुद्धि वंशानुक्रमागत होती है ? अथवा,

२—क्या बुद्धि का स्वरूप और विकास वातावरण के प्रकार पर निर्भर करता है ?

वस्तुतः उपर्युक्त प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। नीचे हम उन बातों का उल्लेख करेंगे जिनका उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर से सम्बन्ध है।

जो कुछ व्यक्ति कर पाता है उसके आधार पर उसकी बुद्धि को समझने की वर्तमान मनोवैज्ञानिक प्रगति है। ह्विटमर¹ का कहना है कि “बुद्धि परीक्षा के फल-स्वरूप हमें कोई ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं मिलता जिसे व्यवहार का आधार जीवन की साधारण क्रियाशीलता से अलग समझा जाय। अब तक किसी ऐसे साधन का निर्माण नहीं किया जा सका है जिससे बुद्धि को ठीक-ठीक प्रत्यक्षतः मापा जा सके, और जान पड़ता है कि ऐसा कदाचित् कभी सम्भव भी न होगा। यह कहना अधिक ठीक है कि वह बुद्धिमानी से काम करता है, परन्तु यह कहना कि उसके पास बुद्धि है उतना ठीक नहीं जान पड़ता। वस्तुतः व्यवहार के आधार पर ही कोई व्यक्ति अधिक बुद्धिमान अथवा मूर्ख समझा जाता है।”

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बुद्धि-परीक्षाओं के आधार पर व्यक्ति की भावी शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता का बहुत अच्छा अनुमान किया जा सकता है। ऐसा सम्भव इसलिए है क्योंकि बुद्धि-परीक्षा के अधिकांश प्रश्नों का सम्बन्ध भाषा, गणित तथा अन्य ऐसे विषयों से रहता है जिन्हें बालक को स्कूल में पढ़ना होता है। स्टॉडर्ड² का कहना है कि बुद्धि-परीक्षा से “बुद्धि का जो अर्थ निकलता

**बुद्धि-परीक्षा की
अपर्याप्तता**

¹ Whitmer, C. A.—“Has man measured his Intelligence?” University of Pittsburgh Quarterly, November 9, 1941, Pittsburgh.

² Stoddard, G. D.—“On the Meaning of Intelligence”, Psychological Review, 48, pp., 250-260, 1941.,

है वह शिक्षा-सम्बन्धी व्यक्ति के भुकाव की ओर ही संकेत करता है।” इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्धि का तात्पर्य शिक्षा से अधिक से अधिक लाभ उठाने की योग्यता से है और बुद्धि-परीक्षा से इस योग्यता का अनुमान किया जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना है कि बुद्धि-परीक्षा के लिए बनाये हुए प्रश्न साधारणतः उन बातों की ओर संकेत नहीं करते जिन पर जीवन में आवश्यक सामाजिक व्यवस्थापन निर्भर करता है अथवा जिनके विषय में समय-समय पर महत्वपूर्ण और उपयुक्त निर्णय देने के लिए व्यक्ति बाध्य होता है। जिस प्रकार आजकल बुद्धि की परीक्षा ली जाती है उससे बालक के केवल कुछ सीमित व्यवहार पर ही प्रकाश पड़ता है। इससे बालक की नैतिक प्रवृत्ति, सामाजिक व्यवहार-सम्बन्धी गुण (Social Traits) तथा व्यक्तित्व के गुणों की पहचान करना कठिन जान पड़ता है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धि से केवल सीखने की योग्यता का ही तात्पर्य नहीं समझना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों का बहुमत भी इस बात से सहमत है और बुद्धि-परीक्षा के प्रचार से यह बात भी मानी जाती है

बुद्धि व्यवस्थापन की योग्यता कि बुद्धि का सम्बन्ध अमूर्त वस्तुओं के सम्बन्ध में चिन्तन करने की योग्यता से भी है। टरमन¹ का कहना है कि जीवन की नई समस्याओं और अवदशाओं के अनुसार आवश्यक चिन्तन कर लेने की योग्यता से उसकी बुद्धि का संकेत मिलता है। बुद्धि के स्वरूप का यह दृष्टिकोण अपने अन्तर्गत उन सब बातों को भी ले लेता है जिनका सम्बन्ध स्कूली शिक्षा से नहीं है। इनमें यान्त्रिक (Mechanical), कलात्मक (Artistic) तथा सामाजिक गुण-सम्बन्धी बातें आ जाती हैं। इस दृष्टिकोण का मेल आधुनिक शिक्षा की उस प्रगति से भी दिखाई पड़ता है जो पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा बालक के सामाजिक व्यवस्थापन तथा व्यक्तित्व के विकास पर कम ध्यान नहीं देती। इस दृष्टिकोण की ओर बिनै (Alfred Binet : Father of Intelligence Testing) ने भी संकेत किया है। बिनै के अनुसार बुद्धि के अन्तर्गत समझने (Comprehension), आविष्कार (Invention) करने, पथ-निर्देशन (Direction) करने तथा आलोचना (Criticism) की योग्यता निहित है।

व्यक्ति तथा समाज के लिए प्राप्त वास्तविक फलों के आधार पर भी बुद्धि की योग्यता के अनुमान की चेष्टा की गई है। इसे प्रयोग-सिद्धात्मक (Empirical Conception) दृष्टिकोण कहा जा सकता है। पिन्टर² का कहना है कि हमें अपने मस्तिष्क से इस विचार को निकाल देना चाहिए कि बुद्धि की कोई

¹ Terman L. M.—In the Symposium “Intelligence and Its Measurement”, *Journal of Educational Psychology*, 12, 123-147, 195-213, 1921.

² Pinter, R.,—“An Empirical View of Intelligence”, *Journal of Educational Psychology*, 17, pp. 608-616, 1926.

एक विशेष आन्तरिक शक्ति होती है। बुद्धि को विशिष्ट परिस्थितियों में उपयुक्त प्रतिक्रियाओं को दिखलाने की योग्यता समझना चाहिए। थॉर्नडाइक ने बुद्धि के तीन पक्ष की चर्चा की है—१. ऊँचाई (Altitude), २. चौड़ाई (Breadth) और ३. गति (Speed)। १—ऊँचाई का तात्पर्य कठिन कार्य को करने की योग्यता के परिणाम से है। २—चौड़ाई का तात्पर्य एक निश्चित अवधि में समान कठिनाई वाले कार्यों को करने की संख्या से है। ३—गति का तात्पर्य दिखलाई जाने वाली प्रतिक्रियाओं की शीघ्रता से है। थॉर्नडाइक के इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि परीक्षा के लिए विभिन्न प्रश्नावलियों की रचना की गई है।

बुद्धि के उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों के प्रधान क्रियात्मक और तार्किक गुणों के आधार पर स्टाडर्ड ने बुद्धि को ऐसे कार्यों को करने की योग्यता को माना है; जिनमें कठिनाई, विपमता, अमूर्तता, कम से कम समय में किसी **स्टाडर्ड का मत** निर्दिष्ट उद्देश्य की ओर नियोजन, सामाजिक मूल्य, मौलिकता, शक्तियों का केन्द्रीकरण और संवेगात्मक प्रभावों को अवरुद्ध करने का गुण हो। कहने का अर्थ यह है कि यदि व्यक्ति में इन विभिन्न गुणों सम्बन्धी योग्यता होगी तो उसे अच्छी बुद्धि वाला कहा जा सकता है।

बुद्धि की उपर्युक्त परिभाषाओं से बुद्धि के कार्य का जितना आभास मिलता है उतना उसके स्वरूप का नहीं। बुद्धि के स्वरूप के विषय में अन्वेषण के फलस्वरूप तीन मत का प्रतिपादन किया गया है। नीचे इन्हीं मतों की ओर संक्षेप में संकेत किया जा रहा है।

स्पीयरमैन सिद्धान्त (Spearman Two Factor Theory)—स्पीयरमैन¹ के अनुसार बुद्धि का तात्पर्य एक, सामान्य योग्यता (General Ability) तथा कई विशिष्ट योग्यताओं (Specific Abilities) से है। व्यक्ति में **सामान्य और विशिष्ट योग्यता** सामान्य योग्यता जितनी ही अधिक होती है वह उतना ही बुद्धिमान होता है। सामान्य योग्यता के अतिरिक्त व्यक्ति में विशिष्ट योग्यता या योग्यतायें होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ सामान्य तथा विशिष्ट योग्यतायें होती हैं। अपनी विशिष्ट योग्यता के अनुसार कोई संगीत की ओर झुक सकता है और कोई शिल्पकला की ओर। स्पीयरमैन सामान्य योग्यता अथवा जी फैक्टर (G. Factor) को ही बुद्धि की संज्ञा देता है। उसके अनुसार सामान्य योग्यता व्यक्ति को हर समय सहायता देती है, परन्तु विशिष्ट योग्यता केवल अपनी ही परिधि में व्यक्ति को सहायक होती है। सामान्य योग्यता के सहारे व्यक्ति किसी परिस्थिति-सम्बन्धी विविध वस्तुओं अथवा विचारों के

¹ Spearman, C.—The Nature of Intelligence and the Principles of Cognition, Macmillan, New York, 1923.

परस्पर-सम्बन्ध को समझता है। समस्या के सुलभात्व में व्यक्ति अपनी सामान्य और विशिष्ट योग्यता दोनों से सहायता प्राप्त करता है। सामान्य योग्यता हर परिस्थिति में उसकी सहायता करती है, परन्तु विशिष्ट योग्यता केवल अपनी विशिष्ट परिधि के अन्तर्गत ही। अधिक सामान्य योग्यता के होने से व्यक्ति अधिकांश परिस्थितियों में अच्छा करता है। बहुत सम्भव है कि सामान्य योग्यता के अच्छी न होते हुये भी व्यक्ति अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण अपने विशिष्ट क्षेत्र में कौशल दिखा लाये, परन्तु यदि उसके पास सामान्य योग्यता अधिक होती तो अपने विशिष्ट क्षेत्र में वह और अधिक कौशल दिखा पाता।

थॉर्नडाइक का सिद्धान्त—थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि तीन प्रकार की होती है। यान्त्रिक (Mechanical), भाववाचक (Abstract) और सामाजिक (Social)। थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि में केवल सामान्य योग्यता और विशिष्ट योग्यताओं का ही सन्निवेश नहीं होता, वरन् उसमें कई प्रकार की शक्तियाँ निहित कई प्रकार की शक्तियों होती हैं—जैसे ध्यान, धारणा-शक्ति, स्मृति, पहचान, संगठन-का सन्निवेश शक्ति, सिद्धान्तात्मक तथा परिणामात्मक तर्क, सीखने तथा ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति बुद्धि के आवश्यक अंश हैं। थॉर्नडाइक के अनुसार बौद्धिक कार्य एक जटिल स्नायुमण्डल द्वारा नियन्त्रित होता है और यह स्नायुमण्डल इतने विभिन्न रूप में कार्य करता है कि उसे एक सामान्य योग्यता और कई विशिष्ट योग्यताओं का योग नहीं माना जा सकता।

थर्स्टन का सिद्धान्त¹—थर्स्टन के अनुसार बुद्धि नौ प्राथमिक योग्यताओं (Primray Mental Abilities) से बनी है : जैसे १—दृष्टि-सम्बन्धी योग्यता (Visual or Spatial Ability); २—प्रत्यक्षीकरण की नौ प्राथमिक योग्यताएँ योग्यता (Perceptual Ability); ३—संख्या सम्बन्धी (Numerical Ability); ४—तार्किक योग्यता (Logical or Verbal Relations Ability); ५—शाब्दिक योग्यता (Fluency in dealing with words); ६—स्मरण शक्ति (Memory); ७—परिणाम निकालने की योग्यता (Inductive Ability); ८—सैद्धान्तिक तर्क करने की योग्यता (Deductive Ability) तथा ९—किसी समस्या को सीमाबद्ध कर सकने की योग्यता (Ability to Restrict the Solution of a Problem)। थर्स्टन के अनुसार किसी कार्य को करने में व्यक्ति इन सभी शक्तियों का मिश्रित उपयोग करता है। परन्तु कुछ प्राथमिक योग्यताएँ किसी विशिष्ट क्षेत्र में अन्य योग्यताओं से अधिक सहायक होती हैं। जैसे इंजीनियर बनने के लिए संख्या, दृष्टि तथा परिणामात्मक तर्क करने की योग्यताएँ

¹ Thurstone's Multiple-Factor Theory of Intelligence in his 'Primary Mental Abilities', Chicago, Univ. of Chicago Press, 1938.

अधिक उपयोगी हो सकती हैं; परन्तु संगीत सीखने में इनका उतना उपयोग नहीं हो सकता। थर्स्टन के अनुसार इन नौ शक्तियों के आधार पर व्यक्ति का पथ-निर्देशन एक ही बुद्धि-परीक्षा के आधार की अपेक्षा अधिक लाभप्रद होगा।

मानसिक विकास का क्रम

(Process of Mental Development)

बुद्धि-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विचार-विनिमय से बालकों के मानसिक विकास सम्बन्धी हमारे ज्ञान में वृद्धि नहीं हो सकती। यह हमारे अनुभव की बात है कि विकसित होता हुआ बालक अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की व्यवस्थापन विषयक प्रतिक्रियाएँ दिखलाता है। उसके मानसिक विकास का आभास हमें उसकी विभिन्न क्रियाशीलताओं, शाब्दिक कौशल की प्राप्ति, निर्णय करने की शक्ति में सुधार और सामाजिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उपयुक्त व्यवस्थापन करने की योग्यता से चल सकता है। बालकों की मानसिक विकास की गति में वैयक्तिक भेद पाया जाता है, परन्तु उसमें सुधार को अच्छी प्रकार समझा और कुछ हद तक उसे नापा भी जा सकता है। परन्तु बालकों के मानसिक विकास के स्वरूप के बारे में मनोवैज्ञानिकों में एकमत नहीं है; तथापि नीचे इस विकास के फलस्वरूप की ओर संकेत किया जा रहा है।

बुद्धि के विकास की वक्ररेखाओं से ज्ञात बातें

(Things Known from the Growth Curves of Intelligence)

यह मानी हुई बात है कि बुद्धि-परीक्षा से प्राप्त गुणाङ्कों (Scores) के ग्राफ (Graph) से बालक के मानसिक विकास का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, परन्तु उसकी सहायता से कुछ बातें तो अवश्य ही मालूम गति सदा समान नहीं होती हैं। तीन वर्ष की उम्र के शिशुओं के मानसिक विकास का वेले¹ ने अध्ययन किया। उसने अपने अध्ययन में तीन वर्ष के ३१ लड़कों और ३१ लड़कियों को लिया। वक्ररेखा के आधार पर वेले ने देखा कि प्रथम नवें और दसवें वर्ष तक इन शिशुओं के मानसिक विकास की गति बड़ी द्रुत थी; इसके बाद गति कुछ धीमी पड़ गई और यह धीमापन तीन वर्ष तक बना रहा। वेले का कथन है कि कुछ प्रथम महीनों में देखे जाने वाले व्यवहार-विकास से शिशुओं के बुद्धि-विकास का अनुमान नहीं किया जा सकता। वक्ररेखाओं के अध्ययन

¹ Bayley, N.—Mental Growth During the First Three Years, *Genetic Psychology, Monographs, Vol. 14, No. I, pp. 1-92, 1933.*

से पता चलता है कि मानसिक विकास की गति सदा समान नहीं रहती, अर्थात् बहुत सम्भव है कि ७वें और ८वें वर्ष के बीच में हुआ मानसिक विकास चौथे और पाँचवें वर्ष के बीच में हुए विकास से अधिक या कम हो। मानसिक विकास की गति और प्रकार दोनों में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि शैशव में मानसिक विकास की गति बड़ी तीव्र होती है। प्राइमरी स्कूल की अवस्था में गति प्रायः एक रस रहती है, परन्तु पहले से अवश्य कम होती है। तरुणावस्था (Puberty : near about 12, 13 or 14) के आने पर गति बचपन से कुछ तीव्र हो जाती है।

विकास का अन्त (The End of Growth)—मानसिक विकास का अन्त कब होगा ? इस सबन्ध में मनोवैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार

यह विकास प्रथम १४ से १६ वर्ष तक चलता रहता है।

सीमा विषयक एकमत नहीं इस धारणा के आधार पर किशोर अपनी बुद्धि में (परन्तु अनुभव में नहीं) प्रौढ़ व्यक्तियों की तरह ही प्रौढ़ होंगे।

टरमैन के अनुसार १५वें वर्ष और स्पीयरमैन के अनुसार १४वें या १६वें वर्ष में बुद्धि अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाती है। जोन्स और कॉनरैड के अनुसार १६वें वर्ष में इसके विकास का अन्त हो जाता है। फ्रीमैन के अनुसार ८वें वर्ष से १५वें या १६वें वर्ष के अन्तर्गत मानसिक विकास की गति प्रायः समान रूप से चलती रहती है; और बुद्धि २०वें वर्ष या इसके ऊपर तक भी बढ़ती रहती है। माइल्स के अनुसार १८वें वर्ष तक बुद्धि बढ़ती रहती है और वृद्धावस्था में बुद्धि का ह्रास बहुत ही कम होता है। थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि का विकास १८वें वर्ष तक होता है और इसके बाद २६वें वर्ष तक भी कुछ न कुछ चलता रहता है।

सामान्य बालकों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि के बालकों का मानसिक विकास पूर्व किशोर (Pre-adolescent period) में द्रुततर गति से चलता है, परन्तु इसके बाद नहीं। विकास की वक्ररेखा के आधार पर अधिकांश मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि बुद्धिलब्धि प्रायः समान रहती है। I. Q. is the ratio between the Mental and Chronological age. To get the whole number this ratio is multi-

$$\text{plied by 100, i. e. } I. Q. = \frac{M. A.}{C. A.} \times 100.$$

मानसिक विकास की व्याख्यायें—वंशानुक्रमीय गुणों (Hereditary Traits) के अपने-अपने विश्वास के आधार पर मानसिक विकास की व्याख्या में विभिन्नता पाई जायगी। जिनका यह विश्वास है कि बुद्धि वंशानुक्रममागत होती है वे बुद्धि के विकास को नाड़ीमण्डल के विकास से सम्बन्धित समझेंगे। कोर्टिस और जेसेल दोनों इस कथन की पुष्टि करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि मानसिक विकास व स्कूली शिक्षा तथा अन्य लाभप्रद अनुभवों का प्रभाव नहीं पड़ता। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि वातावरण का बुद्धि के विकास पर प्रभाव पड़ता ही

नहीं। प्रत्युत इस सम्भावना पर विश्वास किया जा सकता है कि उपयुक्त परिस्थितियों और वातावरण के आयोजन से बुद्धि के विकास में योग दिया जा सकता है; अर्थात् बुद्धि-सम्बन्धी अप्रौढ़ता का कारण शिक्षा-सम्बन्धी अवसरों का अभाव भी हो सकता है। यदि नाडी-मण्डल, ग्रंथि तथा अन्य शारीरिक बनावट-सम्बन्धी दोष न हुये तो सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी अवसरों के अनुसार मानसिक विकास चलता रहेगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि बालक की बौद्धिक सम्भावनाओं पर प्रकृति कोई सीमा नहीं रखती, अथवा कोई ऐसा मानसिक दोष नहीं है जिसे समुचित अवसर के आयोजन से दूर नहीं किया जा सकता।

बुद्धि का माप

(The Measurement of Intelligence)

यह साधारण ज्ञान की बात है कि बालकों की बुद्धि में प्रत्येक अवस्था पर वैयक्तिक वैभिन्न्य पाया जाता है। बुद्धि-परीक्षा की सहायता से इस वैभिन्न्य को मापने की चेष्टा कर यह समझने का प्रयास किया जाता है कि जिन्हें कुछ स्कूली-शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला है उनकी बुद्धि का विस्तार और प्रकार क्या होता है। बुद्धि परीक्षा की विधियों की रचना से बाल-अध्ययन में बड़ी सहायता मिली है, क्योंकि उनसे बालक के मानसिक विकास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। बुद्धि-परीक्षा-सम्बन्धी कुछ बातों पर ही नीचे विचार किया जायगा।

बालक की बुद्धि-परीक्षा में समस्यायें—बालक की बुद्धि-परीक्षा के क्रम में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनमें से कुछ ये हैं—

- १—बुद्धि के स्वरूप का निर्धारण।
- २—बुद्धि के विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण के स्थान का पता लगाना।
- ३—शिशुओं के लिए निर्धारित बुद्धि-परीक्षा-सम्बन्धी उपकरणों की आवश्यकता।
- ४—बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों की विश्वस्तता (Unreliability) का पता लगाना।
- ५—बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों की यथार्थता के निर्धारण के लिये कुछ आधारों का पता लगाना।
- ६—समान बुद्धि-लब्धि वाले बालकों के असमान मानसिक विकास-सम्बन्धी-समस्याओं का समाधान खोजना।

नीचे इनमें से कुछ समस्याओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा—

बुद्धि-परीक्षा में क्या मापा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर गत पृष्ठों में कुछ हद तक दिया जा चुका है। बुद्धि-परीक्षा में अव्यवस्थापन-सम्बन्धी व्यवहारों को मापा जाता है जिनका सम्बन्ध प्रधानतः स्कूली शिक्षा के उपकरणों से रहता है। इससे प्रवृत्ति, भुकाव, आकांक्षा, चरित्र तथा व्यक्तित्व के गुणों को नहीं मापा जा सकता। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि-परीक्षा से यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि अपने विकास के क्रम में बालक किस हद तक अमूर्त ज्ञान (Abstract knowledge) प्राप्त कर सका है।

बुद्धि-माप में वंशानुक्रम और वातावरण—बुद्धि-माप में यह जानने का प्रयास किया जाता है कि बालक में किसी निश्चित कार्य के करने की कितनी योग्यता है। यह जानना असम्भव है कि बालक किस हद तक सीखने की योग्यता संक्रमित (Inherit) करता है। परन्तु इतना देखा गया है कि जिन बालकों में कोई संक्रमित दोष नहीं होता उनमें अपने में परिवर्तन लाने की पर्याप्त सामर्थ्य होती है। तथापि, जैसा ऊपर कहा गया है, यह मानना ही होगा कि प्रकृति विकास को कुछ हद तक सीमाबद्ध कर ही देती है।

शिशुओं के लिये निर्धारित प्रश्नावलियों की अविश्वस्तता और यथार्थता—शिशुओं की बुद्धि-परीक्षा के लिये जो प्रश्नावलियाँ निर्धारित की गई हैं उन पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। उदाहरणार्थ 'ब्यूहलर' शिशु-परीक्षा की प्रश्नावलियों के सम्बन्ध में हेरिंग¹ नामक अन्वेषक का कथन है कि कई महीनों बाद उनके द्वारा पुनर्परीक्षा का फल पहले के सदृश नहीं मिलता। अन्य प्रश्नावलियों के सम्बन्ध में भी यही बात देखी गई है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि शिशुओं के लिये निर्मित प्रश्नावलियों की सीमा उनकी ऐसी प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत होती है जो हर परिस्थिति में समान नहीं देखी जा सकती। प्रश्नावलियों के यथार्थता के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। यदि कोई प्रश्नावली वही गुण मापती है जिसके मापने के लिये वह बनाई गई है तो यह कहा जाता है कि उस प्रश्नावली में यथार्थता है। विश्वस्तता की अपेक्षा शिशु की बुद्धि परीक्षा के लिये निर्मित प्रश्नावलियों में यथार्थता अधिक पाई जाती है।

साधारणतः यह माना जाता है कि समान बुद्धि लब्धि वाले बालक समान मानसिक योग्यता के होते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने बालकों की विविध परीक्षा के आधार पर इसे सिद्ध कर दिया है। यह समान बुद्धि-लब्धि का देखा गया है कि समान बुद्धि-लब्धि के बालकों में स्मृति, अर्थ समान मानसिक तर्क तथा भाषा की शक्तियों में बड़ा भेद हो सकता है। इससे योग्यता नहीं यह स्पष्ट है कि समान बुद्धि-लब्धि वाले बालकों के मानसिक विकास में वैभिन्न पाया जा सकता है।

शैशव में मानसिक विकास की रेखा

बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावली तथा उनके फलों के विश्लेषण से व्यक्ति के मानसिक विकास के स्वरूप का कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है। प्रथम दो महीने की अवस्था में शिशु का मानसिक विकास इतना हो जाना चाहिये कि सिर से लगभग एक फुट की दूरी पर चमकती हुई वस्तु की ओर उसका ध्यान चला जाय। लगभग डेढ़ फुट की दूरी पर यदि कोई घुनघुना उसके कान की ओर बजाया जाता

¹ Herring Amanda—"An Experimental Study of the Reliability of the Buhler Baby Test", J. of Exp. Educ 6, pp. 147-160, 1937:

है तो उसे मानो खोजने के लिये वह अपना सिर इधर-उधर हिलाता है। चौथे महीने में किसी नई स्थिति में वह पहले से अधिक स्फूर्ति से देख पाता है और हाथ में खिलौना लेने पर उसे कुछ देर तक ध्यानपूर्वक देखता भी है। छठे महीने पर उद्दीपक (Stimulus) की आवृत्ति करने पर उसकी प्रतिक्रिया के लिए वह कुछ पहले से ही सचेष्ट दिखलाई पड़ता है। इस समय साधारण रूप में वह मुस्कराता भी है। आठवें महीने पर खिलौने के छिन जाने से उसे पुनः प्राप्त करने के लिए वह रोने लगता है। कई खिलौनों में से अपनी रुचि के अनुसार एक खिलौने को चुनने की भी प्रतिक्रिया लगभग आठवें महीने में शिशु दिखलाने में समर्थ होता है। दसवें महीने पर वह किसी ढँकी हुई वस्तु का ढँकना उतार सकता है और घण्टी बजाने का अनुकरण भी करता है। लेखक का १० महीने का शिशु टेबुल पर रखी घण्टी को प्रायः बजाया करता था। इसमें उनकी अनुकरण प्रवृत्ति अवश्य ही सहायक रही होगी। एक वर्ष का शिशु दर्पण में अपनी सूरत ध्यान से देखने लगता है। शिशु के मानसिक विकास-सम्बन्धी ये बातें बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों के विश्लेषण से मालूम होती हैं। इसी प्रकार की अन्य बहुत सी बातें भी मालूम की जा सकती हैं।

बाल्यावस्था में मानसिक विकास

अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालकों के लिए निर्धारित बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों से उनके मानसिक विकास के विषय में शिशुओं की अपेक्षा अधिक बातें मालूम होती हैं। इस दृष्टि से उनके लिए निर्मित प्रश्नावलियों में अधिक यथार्थता होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि तीन-चार वर्ष के बाद बच्चों की क्रियाओं में अधिक बुद्धि तथा भाषा-शक्ति का समावेश दिखलाई पड़ता है। बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों के अध्ययन से बच्चों के मानसिक विकास के बारे में जान पड़ता है कि तीन वर्ष की अवस्था में वे अपना नाम बता देते हैं। वे खींचे हुए वृत्त को देखकर दूसरा वृत्त खींचने का प्रयास कर सकते हैं और तीन अङ्कों की संख्याओं को दोहरा सकते हैं। चार वर्ष की अवस्था में बच्चे किसी मनुष्य की खींची हुई तस्वीर से गायब भाग को बतला सकते हैं। वे बारह छोटे-छोटे शब्दों के वाक्यों को दोहरा सकते हैं। वे 'दो' या 'तीन' संख्याओं का तात्पर्य भी समझते हैं। पाँच वर्ष की अवस्था में गेंद तथा टोपी ऐसे साधारण शब्दों की परिभाषा कर सकते हैं। वे दस शब्दों के वाक्यों को कण्ठस्थ कर सकते हैं। वे चार विभिन्न वस्तुओं को एक, दो, तीन, चार क्रम से कहते हुये गिन सकते हैं। छः वर्ष की अवस्था में वे तेरह विभिन्न वस्तुओं को गिन सकते हैं। वे पेन्सिल से किसी साधारण भूलभुलैया का आँक्स कर सकते हैं। सात वर्ष की अवस्था में वे किसी चतुर्भुज की नकल कर सकते हैं। वे कोयला और लकड़ी, दूध और घी ऐसी वस्तुओं की समानता की ओर संकेत कर सकते हैं। वे पाँच अङ्कों की संख्याओं को गिन सकते हैं। आठ वर्ष की अवस्था में वे हवाई जहाज और पंतग, गाय व भैंस आदि की समानता और विभिन्नता की ओर संकेत कर सकते हैं। वे सोलह शब्दों वाले वाक्यों को दोहरा सकते हैं। वे रेलगाड़ी तथा मोटरकार

के खड़े होने में अन्तर को समझ सकते हैं। नव वर्ष की अवस्था में वे तुकान्त शब्दों को खोज सकते हैं और चार अङ्कों की संख्याओं को उलटे क्रम में दोहरा सकते हैं। दस वर्ष की अवस्था में वे चित्रों में पाई जाने वाली गलत बातों की ओर संकेत कर सकते हैं। वे छः अङ्कों की संख्याओं को दोहरा सकते हैं। वे छोटी-छोटी कहानियों को अपनी स्मरण शक्ति से कह सकते हैं। ग्यारह वर्ष की अवस्था में वे बीस शब्दों वाले वाक्यों को दोहरा सकते हैं। इस समय वे 'सम्बन्ध', 'तुलना' तथा 'बदला' आदि जैसे कठिन शब्दों की व्याख्या कर सकते हैं। वे 'साँप', गाय, गौरैया तथा गुलाब, आलू और पेड़ जैसी वस्तुओं की समानता की ओर संकेत कर सकते हैं। बारह वर्ष की अवस्था में वाक्य में पाई जाने वाली गलत बातों को वे समझ सकते हैं। वे किसी साधारण चित्र की व्याख्या कर सकते हैं और पाँच अङ्कों की संख्याओं को उलटे क्रम में दोहरा सकते हैं।

किशोरों के लिए निर्धारित प्रश्नावलियाँ शिशुओं और बालकों के लिये निर्मित प्रश्नावलियों से और कठिन होती है। उनमें तर्क-शक्ति और भाषा और स्मरण-शक्ति का अत्यधिक समावेश रहता है। उनमें कठिन शब्दों की व्याख्या, कहानियों से उप-देश और कथन में से असंगत बातें निकालनी होती हैं। ऊटपटांग लिखे हुये वाक्यों को उन्हें व्यवस्थित करने को कहा जाता है और अङ्कगणित की समस्याओं को उन्हें सुलझाना होता है। बालक ज्यो-ज्यो बड़ा होता है उससे कठिनतर प्रश्नों के ठीक उत्तर की अपेक्षा की जाती है।

बुद्धि-परीक्षा की उपयोगिता (Utility of Intelligence Tests)

यदि बुद्धि-परीक्षा की सीमाओं को अच्छी प्रकार समझ कर उसे उपयोग करने की चेष्टा की जाय तो बाल अध्ययन के विद्यार्थी के हाथ में वह बड़ा भारी साधन है, क्योंकि इसके सहारे बालक के विषय में बहुत सी बातें मालूम की जा सकती हैं। हमें यह याद रखना है कि बुद्धि-परीक्षा वाली प्रश्नावलियाँ एक साधन मात्र हैं और उनमें प्राप्त हुआ फल केवल किसी सम्भावना की ओर थोड़ा संकेत करता है और किसी-किसी बालक के सम्बन्ध में उससे प्राप्त फल गलत भी हो सकता है। अर्थात् कहने का अर्थ यह है कि केवल उसके फल पर ही निर्भर रहकर बालक के विषय में किसी निर्णय पर पहुँच जाना उसके प्रति अन्याय हो सकता है। तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि बालक को समझाने के क्रम में वे अब तक बड़े सहायक सिद्ध हुये हैं और उनके द्वारा बतलाई हुई सम्भावना पर किये हुये कार्य में संतोषप्रद फल अवश्य प्राप्त हुआ है। केवल निरीक्षण मात्र से ही बालक के विषय में सारी बातें नहीं मालूम की जा सकतीं। बालक शिक्षा और जीविका-निर्देशन (Educational and Vocational Guidance) के लिए उसकी बुद्धि-परीक्षा आवश्यक है। बुद्धि-परीक्षा की उपयोगिता की ओर बहुत से लेखकों ने संकेत किया है। उनके कथन का सारांश निम्नलिखित रूप में दिया जा सकता है।

- १—मानसिक विकास का विश्लेषण ।
- २—शिक्षा-सम्बन्धी वातावरण के अभाव का अनुमान ।
- ३—योग्यता के अनुसार बालकों का वर्गीकरण ।
- ४—शिक्षा-निर्देशन ।
- ५—जीविका-निर्देशन ।
- ६—समस्या-बालकों के मस्तिष्क का निदान ।
- ७—शिक्षा के फल का नाप ।
- ८—अपराधी बालकों के स्वरूप का पता लगाना ।
- ९—बौद्धिक स्तर का पता लगाना ।

कुछ शिक्षा-समस्यायें

उपर्युक्त विवेचन से इस निर्णय पर पहुँचना ठीक न होगा कि बुद्धि-परीक्षा के सहारे ही बालक की भावी सफलता का रास्ता एकदम स्पष्ट किया जा सकता है । वस्तुतः जीवन में सफलता के लिए धुन, अध्यवसाय, संवेगात्मक स्थिरता तथा सामाजिक बुद्धि आदि गुण बड़े ही आवश्यक हैं । अतः बालकों में इनके विकास के लिए अभिभावकों और अध्यापकों को विशेष प्रयत्न करना है । बहुत ही कम ऐसे प्रौढ़

व्यक्ति होंगे जो यह कह सकते हैं कि वे किसी काम में अपनी सारी मानसिक शक्ति को लगाने में सफल होते हैं । बहुत से यह स्पष्टतः कह देंगे कि वे ध्यान केन्द्रित करने तथा स्पष्ट चिन्तन करने की कला को नहीं सीख सके । अतः

माता-पिता और अध्यापकों को यह देखना है कि बालक अपने मानसिक विकास की चरम सीमा पर अवश्य पहुँच जाय । अतः शिक्षा-विशेषज्ञों का यह प्रयास रहता है कि वे एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था को जन्म दे सकें जिससे भावी नागरिक आज के नागरिकों से अधिक सुयोग्य और सफल हों । मनोविज्ञान की खोजों के आधार पर शिक्षा-क्षेत्र में बड़ी ही उन्नति हुई है और होती जा रही है । यह कहना कठिन है कि आदर्श शिक्षा का स्वरूप क्या है; परन्तु मानसिक विकास-सम्बन्धी विभिन्न नई-नई बातें जो हमें मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप मालूम होती हैं उनका बालक के घर में तथा स्कूली शिक्षा के सम्बन्ध में बड़ा महत्व है ।

सर्वप्रथम हमें यह याद रखना है कि मानसिक विकास का क्रम बड़े धीरे-धीरे स्वतः चलता है । अतः उसकी गति को बढ़ाने के लिये अनायास शीघ्रता करना बालक

के लिये घातक हो सकता है । शैशव में माता-पिता का ध्यान मानसिक विकास की ओर न होकर बच्चे के स्वास्थ्य तथा शारीरिक विकास की ओर होना चाहिए । इस समय किसी प्रकार के मानसिक विकास की हठात् चेष्टा न करनी चाहिए । हाँ, यह सत्य है कि शिशु को विभिन्न अनुकूल वातावरण में रखना चाहिये जिससे उसकी मानसिक परिधि धीरे-धीरे बढ़ती रहे । यह ध्यान रहे कि उसे कभी

विकास के लिए
हठात् चेष्टा नहीं

अति उत्तेजित न किया जाय और उसमें किसी प्रकार का भय न घर कर ले। थोड़े ही दिनों में एक स्वस्थ शिशु 'भोजन', 'सोना' तथा 'साधारण खेल' इत्यादि के लिये अच्छी प्रकार व्यवस्थित हो जाता है। धीरे-धीरे शिशु अपने वातावरण-सम्बन्धी विभिन्न बातों का तात्पर्य समझने लगता है।

दूसरे वर्ष में शिशु को कुछ उपयोगी बातें सिखलाने का प्रयास किया जा सकता है। शारीरिक नियन्त्रण के लिए उसे कुछ आदतें सिखलाई जा सकती हैं। उसे 'रंग' (Colour) और 'सूरत' (Shape) का ज्ञान देने के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुयें काम में लाई जा सकती हैं। यहाँ भी यह याद रखना है कि हठात् विकास की हमें चेष्टा नहीं करनी है। यदि सिखलाई जाने वाली क्रिया का शिशु के स्वाभाविक विकास से सम्बन्ध न हो तो उसे वह क्रिया कदापि नहीं सिखलानी चाहिए।

नर्सरी स्कूलों की उपयोगिता को मानने में हमें सकोच नहीं करना चाहिए। इन स्कूलों में बच्चों को विभिन्न प्रकार के अनुभव दिये जाते हैं। जिन परिस्थितियों में उन्हें ये अनुभव दिये जाते हैं उन पर पूरा नियन्त्रण रखना जाता है। बच्चा कई शब्द और बहुत सी वस्तुओं के साथ अच्छी तरह खेलना सीख लेता है। वाल्श¹ के अनुसार नर्सरी स्कूल में बच्चा आत्म-निर्भरता, बातचीत करने

सीखने के लिए
अवसर देना

की योग्यता, सहानुभूति, सहकारिता तथा वस्तुओं के साथ सुव्यवस्थित रूप में खेलना सीख लेता है। प्रारम्भ में ही अन्य बालकों के साथ मिलकर रहना सीख लेना विभिन्न प्रकार के सामाजिक गुण को सीखने के लिए अच्छी नींव है। जिन बच्चों को नर्सरी स्कूल में जाने का अवसर नहीं मिलता और जिन्हें बहुधा प्रौढ़ों के बीच में ही रहना होता है उनमें यह नींव कच्ची रह जाती है और बाद में इसे मजबूत बनाने के लिए उन्हें बड़ा ही प्रयास करना होता है। हमें यह याद रखना है कि बच्चों को शिक्षा देने का सबसे उत्तम साधन उन्हें "सीखने के लिए विभिन्न अवसर" देना है; और नर्सरी स्कूल में ये अवसर पर्याप्त रूप में प्राप्त होते हैं। "सीखने के लिए विभिन्न अवसर" देने का तात्पर्य यह हुआ कि उनके विकास के लिए हमें हठात् प्रयत्न नहीं करना है।

किसी भी शिक्षा-व्यवस्था में हमें वैयक्तिक वैभिन्य की आवश्यकताओं पर ध्यान देना बड़ा ही आवश्यक है। शिक्षा-क्षेत्र में 'सभी धान बाइस पसेरी' वाली कहावत चरितार्थ करना बालक के विकास के लिए बड़ा ही घातक होगा। वस्तुतः हम किसी 'सामान्य व्यक्ति' (Average Man) अथवा सामान्य घातक बालक (Average Child) की कल्पना नहीं कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति अथवा बालक की आवश्यकता दूसरे से भिन्न हुआ करती है, क्योंकि प्रत्येक का शारीरिक,

वैयक्तिक वैभिन्य
पर ध्यान

¹ Walsh, M. E.—The Relation of Nursery School Training to the Development of Certain Personality Traits, *Child Development*, 72-73, 1931.

मानसिक और सामाजिक विकास दूसरे से भिन्न हुआ करता है। अतः यह आवश्यक है कि हम यथासम्भव प्रत्येक बालक के लिए उपयुक्त वातावरण के आयोजन का प्रयास करें।

आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व हमारे प्राइमरी स्कूलों में अधिकारवाद (Authoritarianism) का बोलबाला था। बच्चों को अध्यापकों के प्रत्येक संकेत पर नाचना पड़ता था और वे नहीं जानते थे कि अध्यापक के शिक्क पथ-प्रदर्शक क्रोध के वे कब भाजन हो जायेंगे। परन्तु आज की स्थिति एकदम भिन्न है, यद्यपि आज के स्कूलों में बड़े-बड़े परिवर्तनों की आवश्यकता है। अब यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है कि बालक का मानसिक विकास तथा रुचि ही स्कूली-शिक्षा का केन्द्र होगा। पाश्चात्य देशों में तो विभिन्न प्रकार की परीक्षा से यह जानने का प्रयास किया जाता है कि बालक की शिक्षा का आयोजन उसकी योग्यतानुसार कैसे किया जाय। बालकों के वैयक्तिक वैभिन्य पर हमें अवश्य ध्यान देना है, परन्तु कहना न होगा कि इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्हें अन्य बालकों के संग में कुछ नहीं सिखलाया जा सकता है। वस्तुतः बहुत सी आवश्यक शक्तियाँ और गुण अन्य बालकों के साथ में ही बालक सीख सकता है। इसकी ओर ऊपर थोड़ा संकेत किया जा चुका है। बालकों में सामाजिकता, सहानुभूति तथा सहकारिता के गुण अन्य बालकों के साथ रहने पर ही विकसित हो सकते हैं। शिक्षा का उद्देश्य बालकों के अधिकतम मानसिक विकास के साथ-साथ सामाजिकता का पाठ सिखलाना भी होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति अधिकारवाद के अनुसार कार्य करने से नहीं हो सकती; अर्थात् हमें बालकों के हठात् विकास की चेष्टा नहीं करनी है। सच्ची शिक्षा का स्वरूप तो पथ-प्रदर्शन में ही मिलता है। इस दृष्टिकोण से आधुनिक शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शन मात्र है। बालक के भावी विकास का उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही है। अर्थात् पथ-प्रदर्शन की हैसियत में शिक्षक का उत्तरदायित्व बहुत ही बढ़ जाता है।

अवधान और रुचि का विकास

THE DEVELOPMENT OF ATTENTION AND INTEREST

अवधान का स्वरूप

(Nature of Attention)

पहले अवधान को एक मानसिक शक्ति माना जाता था। परन्तु प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ने अन्वेषण के फल स्वरूप अब यह सिद्ध कर दिया है कि यह एक मानसिक क्रिया है। बिना अवधान के हम कोई कार्य नहीं कर सकते। हम चाहे जो कार्य करें उसमें हमें अवधान (या ध्यान) देना ही होगा। अवधान का सम्बन्ध चेतना (Consciousness) से है। किसी वस्तु पर ध्यान देना उस पर अपनी चेतना केन्द्रित करना है। जागृतावस्था में हमारा ध्यान किसी न किसी वस्तु पर केन्द्रित रहता ही है।

साधारणतः हमारी यह धारणा है कि हम एक बार कई वस्तुओं को देख लेते हैं। उदाहरणार्थ किसी कमरे के निरीक्षण में जान पड़ता है कि हम एक साथ कई वस्तुओं को देख रहे हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। एक बार एक ही वस्तु हम एक बार एक वस्तु पर अपनी चेतना केन्द्रित कर पर अवधान केन्द्रित सकते हैं। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि एक क्षण में हम बारी-बारी से अपनी चेतना कई वस्तुओं पर केन्द्रित कर लें। इस प्रकार अपनी चेतना केन्द्रित कर सकने में वैयक्तिक वैभिन्य पाया जाता है।

यदि हम एक बार एक ही वस्तु को देख सकते हैं तो एक क्षण में बारी-बारी से कई वस्तुएँ हम कैसे देख पाते हैं और हमें यह कैसे मालूम होता है कि हम एक बार कई वस्तुएँ देख रहे हैं? ऊपर हम कह चुके हैं कि केन्द्रीय और तटीय चेतना चेतना के केन्द्रित होने से हम किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। हमारी चेतना के दो भाग होते हैं : केन्द्रित

(Central) और तटीय (Marginal) । जिस वस्तु पर हमारा ध्यान जाता है वह केन्द्रीय चेतना का अंग बन जाता है । इसके अतिरिक्त कुछ और वस्तुएँ होती हैं जो तटीय चेतना के अन्तर्गत पड़ी रहती हैं और मस्तिष्क जब चाहे तब उन्हें केन्द्रीय चेतना का अंग बनाने में समर्थ होता है । इसीलिए हमारे ध्यान को एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर जाने से कुछ देर लगते नहीं जान पड़ती । यह ध्यान रखने की बात है कि केन्द्रीय और तटीय चेतना को विभाजित करने के लिए कोई निश्चित रेखा नहीं । जो वस्तु तटीय चेतना के अन्तर्गत है वहीं केन्द्रीय चेतना में तुरन्त ही आ सकती है और केन्द्रीय चेतना वाली तटीय में आ सकती है । अतः हम कह सकते हैं कि अवधान का विषय बदला करता है । हमारा यह अनुभव भी है कि हम क्षण-क्षण पर अपना ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर हटाया करते हैं । अवधान का विषय वही माना जायगा जिस पर हमारी चेतना केन्द्रित होगी । अवधान को समझने के लिये हमें उसके और चेतना के भेद को समझ लेना चाहिए । नीचे हम इसी भेद की ओर संकेत करेंगे ।

अवधान और चेतनता

(Attention and Consciousness)

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि चेतना के केन्द्रित होने से हमारा अवधान किसी वस्तु पर जाता है; परन्तु इससे यह समझना भूल होगी कि अवधान और चेतना में भेद नहीं । जिस वस्तु पर हमारा अवधान जाता है उसकी चेतना हमें अवश्य होती है, परन्तु चेतनता के केवल एक अंग अन्तर्गत आई हुई सभी वस्तुओं पर हमारा ध्यान जाना आवश्यक नहीं । चेतनता का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो सकता है और अवधान उसका केवल एक अंग हो सकता है । कमरे में रखी हुई विभिन्न वस्तुएँ—जैसे, चित्र, कलम, कुर्सी, मेज, पंखा, चारपाई तथा दर्पण हमारी चेतनता में आ सकती हैं; परन्तु हमारा ध्यान केवल दर्पण पर ही केन्द्रित हो सकता है, क्योंकि हम उसमें अपना शरीर देखने जा रहे हैं । इस प्रकार चेतनता के दो क्षेत्र की बात कही जा सकती है—ध्यान वाला और उपेक्षा वाला । ध्यान वाला क्षेत्र केन्द्रीय चेतना में होता है और उपेक्षा वाला तटीय में । तटीय चेतनता को कभी-कभी उप-चेतना (Sub-consciousness) की भी संज्ञा दी जाती है । उप-चेतना में रहने वाली वस्तुओं पर हमारा ध्यान नहीं जाता, तो उनकी हमें चेतना कैसे रहती है? उप-चेतना की वस्तु से हमारी चेतना के पूरे वातावरण की ओर संकेत मिलता है । उप-चेतना में रहने वाली वस्तुओं के हट जाने पर हमें उनकी चेतना हो आती है । जैसे, घड़ी के 'टिक-टिक' की हमें चेतना नहीं रहती, परन्तु 'टिक-टिक' के बन्द हो जाने पर हमें तुरन्त चेतना हो जाती है कि घड़ी का चलना बन्द हो गया ।

अवधान की दशायें

(Conditions or Determiners of Attention)

जिन बातों के कारण हम अपना अवधान किसी वस्तु पर केन्द्रित कर पाते हैं, उसे अवधान की दशायें कहते हैं। इन बातों में कुछ का सम्बन्ध वातावरण से होता है; जैसे उद्दीपक की तीव्रता तथा काल और वस्तु की गति-वातावरण और व्यक्ति-शीलता इसके अतिरिक्त कुछ का सम्बन्ध व्यक्तिगत बातों से होता है, जैसे व्यक्ति की शिक्षा, रचि, मन, स्थिति, तात्कालिक क्रियाशीलता। अवधान की दशाओं के इस वर्गीकरण का तात्पर्य यह नहीं कि एक दशा दूसरे से स्वतन्त्र होती है। वस्तुतः ये सभी मिलकर हमारे अवधान को कभी-कभी किसी वस्तु की ओर खींचती हैं। अवधान के केन्द्रित होने में तात्कालिक क्रियाशीलता, प्रयोजन और मनःस्थिति का सदा प्रभाव पड़ा करता है, यद्यपि वातावरण-सम्बन्धी बातें भी अपनी उग्रता के कारण हमारा ध्यान अपनी ओर अनायास खींच लेती हैं। नीचे हम वातावरण तथा व्यक्तिगत सम्बन्धी अवधान की दशाओं को अलग-अलग समझने की चेष्टा करेंगे।

वातावरण-सम्बन्धी अवधान की दशायें

(Environmental Conditions of Attention)

(१) आकार (Shape)—आकार का हमारे ध्यान पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रायः यह सभी का अनुभव है कि बौना या बहुत लम्बा आदमी हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है। समाचार पत्र में छपे हुए सबसे बड़े चित्र की ओर हमारा ध्यान तुरन्त चला जाता है।

(२) गति (Motion)—गतिशील वस्तु की ओर हमारा ध्यान शीघ्रतर जाता है। दूकान में गतिशील खिलौना अन्य खिलौने की अपेक्षा हमारा ध्यान शीघ्रतर आकर्षित कर लेता है। हम अपने मित्र का ध्यान खींचने के लिए उनकी ओर अपना हाथ या रूमाल हिलाते हैं,—केवल हाथ अथवा रूमाल का दिखलाना ध्यान को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसीलिए तो रेल के ड्राइवर को संकेत देते समय गार्ड भण्डी को केवल दिखलाता नहीं, वरन् उसे हिलाता भी रहता है।

(३) अवधि (Duration)—घड़ी में एलार्म लगाने के लिए हम कुन्जी को अच्छी प्रकार कसते हैं; जिससे उपयुक्त समय पर वह काफी देर तक बजती रहे। धूम कर सौदा बेचने वाले अपनी आवाज लम्बी करके निकालते हैं, जिससे लोगों का ध्यान वे अवश्य ही आकर्षित कर लें। बात यह है कि उद्दीपक जितना ही दीर्घकालीन होता है उतनी ही हमारे स्नायुमण्डल (Nervous System) की अवरोध-शक्ति कम हो जाती है। स्नायुमण्डल के अवरोध-शक्ति की कमी के कारण व्यक्ति का ध्यान किसी वस्तु की ओर शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है। किसी दीर्घकालीन उद्दीपक से हमारा ध्यान अधिक प्रभावित होता है, क्योंकि उस दीर्घकाल में हम

अपने आसन बदलते रहते हैं, यदि एक आमन में ध्यान आकर्षित न हो सका तो किसी दूसरे आसन में हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है ।

(४) **आवृत्ति (Repetition)**—उद्दीपक की आवृत्ति भी हमारे ध्यान को आकर्षित कर लेती है । इसीलिए तो शिक्षक या वक्ता जिस बात की ओर अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहता है उसे कई बार दोहराता है ।

(५) **तीव्रता (Intensity)**—तीव्रता हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है । इसीलिए तो दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिये लोग कभी गाढ़े रंग के कपड़े पहनते हैं । गहरे अक्षरों में लिखा हुआ विज्ञापन अथवा सूचना हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेता है । दीपक की अपेक्षा बिजली का तीव्र प्रकाश हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेता है ।

अवधान की व्यक्तिगत दशायें

(Personal Conditions of Attention)

(१) **सामाजिक बातें (Social Factors)**—व्यक्ति विभिन्न सामाजिक बातों से प्रभावित होता ही है । जो बातें उसकी निकटवर्ती समाज करता है उसकी ओर ध्यान स्वभावतः आकर्षित हो जाता है और उसे वह करना चाहता है ।

(२) **रुचि (Interest)**—रुचि और अवधान में घनिष्ट सम्बन्ध है (इसकी हम आगे चर्चा करेंगे) । जिस वस्तु में हमारी रुचि होती है उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है । बाजार अथवा समाचार-पत्र की वही वस्तुएँ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं जिनमें हमारी रुचि हाती है ।

(३) **शिक्षा और अनुभव (Education and Experience)**—अपनी-अपनी शिक्षा और अनुभव के अनुसार लोग विभिन्न वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं । इस-लिये समान वातावरण में विभिन्न लोगों की प्रतिक्रियायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं । किसी बाग में आने पर 'वनस्पति-विज्ञानवेत्ता', 'माली' तथा 'सुगन्ध-रसिक' का ध्यान विभिन्न बातों पर जायगा । ऐसा उनकी शिक्षा तथा अनुभव के कारण ही होता है ।

रुचि

(Interest)

ऊपर हम कह चुके हैं कि अवधान और रुचि में घनिष्ट सम्बन्ध है । वस्तुतः अवधान की व्यक्तिगत दशाओं में रुचि का प्रभाव बड़ा व्यापक जान पड़ता है । बिधम के अनुसार रुचि वह प्रवृत्ति है जिससे हम किसी अनुभव में दत्तचित्त होकर उसे जारी रखना चाहते हैं । बिधम की इस उक्ति में अवधान और रुचि की परस्पर-निर्भरता एकदम स्पष्ट है । मैग्डूगल कहता है कि "रुचि छिपा हुआ अवधान है और अवधान रुचि का क्रियात्मक रूप है ।"

रुचियों के भेद

(१) **जन्मजात (Innate)**—रुचियों के दो भेद किये जा सकते हैं : जन्मजात और अर्जित । जन्मजात रुचियाँ मूलप्रवृत्त्यात्मक होती हैं, जैसे

खाने-पीने, दौड़ने, भागने, लड़ने और चिल्लाने की रुचियाँ । “मूल प्रवृत्तियों और सामान्य प्रवृत्तियों की क्रियाशीलता से हमें कुछ विशिष्ट वस्तुएँ रुचिकर लगती हैं । माँ की रुचि अपने पुत्र में है । बिल्ली की रुचि चूहे में होने से वह बिल के पास चुपके से छिप जाती है । कुत्ते की रुचि खरगोश में होने के कारण वह उसके पीछे भाड़ी-भाड़ी दौड़ता है । सर्प की रुचि मेढकों में होती है । इसीलिए कभी उन्हें निगलने के लिये वह कुयें अथवा पानी के गड्ढों में चला जाता है ।”¹ ऐसी रुचियों को जन्मजात अथवा स्वाभाविक कहा जा सकता है ।

(२) अर्जित (Acquired)—शिक्षा अथवा अनुभव के फलस्वरूप जो रुचियाँ व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं वे अर्जित कही जाती हैं । अर्जित रुचियों की भी नींव जन्मजात रुचियों में ही होती है । उदाहरणार्थ—बालकों की संगीत तथा पढ़ने-लिखने में रुचि उसके आत्म-प्रकाशन-सम्बन्धी जन्मजात रुचि अथवा मूलप्रवृत्ति के कारण हो सकती है ।

रुचि के न होने से व्यक्ति किसी वस्तु की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखता है । पेट भरे रहने पर बालक की रुचि मिठाई की ओर नहीं रहती । रुचि के न रहने पर बालक अपना ध्यान कक्षा-शिक्षण में नहीं लगाता । अतः प्रत्येक पाठ का सम्बन्ध बालक की रुचियों से होना आवश्यक है, अन्यथा शिक्षक का श्रम व्यर्थ जायेगा ।

अवधान और रुचि के इस संक्षिप्त मनोवैज्ञानिक विवेचन के बाद नीचे हम इन्हें बालकों के विकास के सम्बन्ध में अति संक्षेप में समझाने की चेष्टा करेंगे, क्योंकि यहाँ हमारा क्षेत्र बहुत ही सीमित है ।

बालक में अवधान देने की शक्ति का विकास

(Development of Power of Attention in the Child)

अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सका है । कि शिशु किस समय से किसी वस्तु की ओर अपना अवधान केन्द्रित करने में समर्थ होता है । प्रायः यह देखा जाता

है कि महीने की उम्र के पहले ही शिशु दीपक की ओर एक-
उत्तरोत्तर विकास टक देखने का प्रयास करता है । दो महीने का शिशु तो

दीपक के हटा लेने पर रोते हुए भी देखा जाता है और फिर

दीपक के आ जाने पर चुप हो जाता है । कमरे में किसी के आने पर चार-पाँच महीने

का शिशु उसकी ओर कुछ आकर्षित होते देखा जाता है । एक महीने का शिशु किसी

वस्तु की ओर बहुत देर तक नहीं देख सकता । उसकी आँखें बहुधा इधर-उधर नाचा

करती हैं । परन्तु चार महीने का शिशु कुछ देर तक किसी वस्तु को देखते रहने में

सफल होता है । अब वह दूसरों की आवाज से आकर्षित होता है और पुचकारने का उत्तर मुस्करा कर देता है । इस प्रकार अवधान देने की उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती

¹ लेखक द्वारा रचित ‘मनोविज्ञान और शिक्षा’, पृ० ५०७, आठवाँ सं०,

रहती है। इस शक्ति के बढ़ने का उसकी रुचियों के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब शिशु की रुचि खिलौनों में हो जाती है तो उनकी ओर वह अपना अवधान केन्द्रित करने लगता है।

वान ऐलिस्टन¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि दो वर्ष के शिशु केवल ७ ही मिनट किसी वस्तु की ओर स्थिर ध्यान से देख सकते थे, परन्तु चार-पाँच वर्ष के शिशु १४-१५ मिनट तक अपने ध्यान को केन्द्रित कर सके। 'ध्यान की स्थिरता' और बालक के व्यक्तित्व-विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्द बुद्धि का बालक अपने ध्यान को कम केन्द्रित कर पाता है, परन्तु ध्यान की स्थिरता के आधार पर किसी बालक को मन्द बुद्धि का मान लेने के पहले यह निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है कि किसी वस्तु विशेष में बालक की रुचि है या नहीं। कहना न होगा कि रुचि के अभाव में वह उस वस्तु की ओर अपना ध्यान न दे सकेगा। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना गलत है कि बालक ध्यान नहीं दे रहा है। वह (या कोई भी व्यक्ति) सदा किसी न किसी वस्तु पर ध्यान दिया करता है। हाँ, यह हो सकता है कि इस वस्तु पर ध्यान न देकर बालक कभी हमारी अपेक्षा के विपरीत किसी दूसरी वस्तु पर ध्यान दे सकता है, क्योंकि अपनी रुचि के अनुसार अपने ध्यान का केन्द्र वह चुन ही लेता है।

बालक के ध्यान का केन्द्र उसके स्वभाव, रुचि, स्वास्थ्य और उद्देश्य पर निर्भर करता है। साधारणतः जिस खिलौने से बालक खेलता रहता है बीमारी की दशा में उसे वह भनक कर फेंक दिया करता है। स्ट्रैङ्ग² के अनुसार पाँच वर्ष का बालक मिट्टी तथा लकड़ी के खिलौने, गुड़िया तथा रंगीन खड़िया से अधिक आकर्षित होता है। धीरे-धीरे उसकी रुचियाँ दूसरी वस्तुओं में होने लगती हैं। तब वह इन वस्तुओं की ओर अधिक आकर्षित नहीं होता। किसी वस्तु की ओर बालक का ध्यान हठात् लगाना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि उसका ध्यान हठात् लगाया ही नहीं जा सकता। अतः बालक के ध्यान न देने पर उसके कारण को समझ कर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।

बालक की रुचियाँ (Interests of Children)

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि व्यक्तिगत-विकास में रुचियों का विशेष महत्व होता है। जिसके पास जितनी रुचियाँ होती हैं उसका व्यक्तित्व उतना ही

¹ Van Alstyne : Play Behaviour and Choice of Play Materials of Pre-School Children, Chicago University, Chicago Press, 1932.

² Strang, R.—An Introduction to Child Study, p. 172, Rev. Ed. Macmillan, New York, 1938.

व्यापक होता है। अतः बालक में अनेक रुचियों का विकास करना आवश्यक है। अनेक रुचियों के रहने से अवसर पर वह अपना पथ निर्धारित करने में सफल हो सकेगा; अन्यथा उसमें कूपमण्डूकता आ जायगी। कई रुचियों के रखने से मानसिक उदारता बढ़ती है। इसमें व्यक्ति को समय-समय पर मानसिक विश्राम भी मिलता रहता है, क्योंकि एक रुचि वाले विषय के साथ काम करने से व्यक्ति जब थक जाता है तो दूसरी रुचि वाले विषय में लगने से उसकी मानसिक थकावट कुछ दूर होती जान पड़ती है।

सर्व प्रथम अभिभावकों को बालकों की रुचियों को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। बालक की किसी इच्छा मात्र से उसकी रुचि का अनुमान लगा लेना ठीक न होगा। रुचि का सम्बन्ध किसी विषय के सम्बन्ध में बालकों की रुचि का व्यक्तितगत क्रियाशीलता से होता है। यहाँ पर यह ध्यान पता लगाना रखना है कि रुचि और योग्यता में विशेष सम्बन्ध नहीं। रुचि के रखते हुये भी अनुकूल वातावरण के अभाव से बालक में तत्सम्बन्धी योग्यता का अभाव हो सकता है। संगीत में रुचि रहते हुये भी बालक यदि अच्छा गुरु न पा सका तो उसमें संगीत-सम्बन्धी योग्यता न आयेगी। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के कारण यह आवश्यक है कि बालक की रुचि का ठीक-ठीक पता लगाया जाय और उसके विकास हेतु समुचित उपकरणों का आयोजन किया जाय।

उम्र के बढ़ने के साथ बालकों की रुचियों में परिवर्तन आता रहता है। अतः जो बातें शैशव में अच्छी लगती हैं बचपन में अरुचिकर लग सकती हैं और बचपन की बातें केशोर के लिए व्यर्थ हो सकती हैं। नीचे हम देखेंगे कि बालकों की रुचियों में उत्तरोत्तर विकास कैसे होता है।

बालकों की खेल सम्बन्धी रुचियाँ (Play-Interests of Children)—बालकों के खेलों के अध्ययन से उनके वर्तमान स्वभाव, योग्यता और आवश्यकता का बहुत हद तक पता लगाया जा सकता है। शैशव में बालक अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता, वैयक्तिक और सामूहिक खेल क्रियाशीलता के क्रम में एकदम स्वतन्त्र रहना चाहता है। इस समय उसकी रुचि केवल स्वतन्त्र रहने में ही जान पड़ती है। इधर-उधर आना-जाना, वस्तुओं को उलटना-पटकना तथा फौड़ना उसके मनोरंजन और खेल का प्रधान अंग जान पड़ता है। एक वर्ष का शिशु अपने दूध भरे प्याले को नष्ट करते देखा जाता है। घर में रखी हुई वस्तुओं को अस्त-व्यस्त करने में वह मग्न दिखलाई पड़ता है। डेढ़-दो वर्ष का विश्वेश धूल में खेलना पसन्द करता है। गेंद भी उसके खेल का एक साधन होता है। तीन-चार वर्ष पर वह छड़ी को घोड़ा मानकर उसकी सवारी करता है और खिलौने को गाड़ी मानकर उसका ड्राइवर बनने का

स्वांग रचता है। अभी तक उसके खेल प्रायः व्यक्तिगत ही होते हैं। छः-सात वर्ष की उम्र में उसके खेल का स्वरूप सामूहिक होने लगता है। समूह में रहना तो बच्चे को दूसरे साल की उम्र से ही अच्छा लगता है; परन्तु दो-तीन वर्ष के बच्चे समूह में रहते हुये भी अपने-अपने वैयक्तिक खेल में ही मस्त रहते हैं।

छः-सात वर्ष पर बालक की रुचि जब सामूहिक खेलों में होने लगती है तो साथी न मिलने पर उसके सामाजिक विकास को बड़ा धक्का लगता है, तब उसके भाषा-विकास में भी विघ्न पड़ता है। सात वर्ष की अवस्था से बालक में विधायकता की मूल-प्रवृत्ति विशेषतः जागृत होने लगती है। अब उसके खेल में विधायकता का पुट देखने को मिलता है। धूल व मिट्टी के घर, फूलों की माला तथा कागज की नावें आदि बनाने का प्रयास करना उनके खेल के अंग हुआ करते हैं। इसी समय लड़कियाँ गुड़ियों के साथ खेलना विशेष पसन्द करती हैं। दस वर्ष की अवस्था से बालकों और बालिकाओं के खेलों में प्रतियोगिता का भाव मिलने लगता है। अब वे अपने खेलों में कुछ पूर्व निर्धारित नियमों का पालन करना आवश्यक समझने लगते हैं। गुल्डी-डण्डा, हॉकी, फुटबाल, बैडमिण्टन, क्रिकेट, तैरना, दौड़ना तथा पेड़ पर चढ़ना आदि उनके खेलों के प्रधान अंग हुआ करते हैं। इन खेलों में वे एक दूसरे से अपनी श्रेष्ठता दिखलाना चाहते हैं। दस बारह वर्ष की उम्र से लड़कों और लड़कियों में अपने खेल के क्रम में तत्सम्बन्धी कला को सीखने की प्रवृत्ति आ जाती है। दस वर्ष की अवस्था से लड़कियों के खेल में लड़कों के खेलों की अपेक्षा विशेष भिन्नता दिखलाई पड़ने लगती है। घरेलू कार्यों में उनकी रुचि बढ़ने लगती है। सीना, बुनना, नाचना और गाना सीखना उनके खेल के अंग होने लगते हैं—यद्यपि थोड़े ही दिन में ये सब खेल न होकर उनके लिए कार्य हो जाते हैं।

बालकों की सामाजिक रुचियाँ (Social Interests of Children)—बालकों की सामाजिक रुचियों का विकास यकायक नहीं हो जाता। वस्तुतः इसका प्रारम्भ अन्य रुचियों ही के साथ होने लगता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक डेढ़ साल का शिशु अकेले छोड़ देने पर रोने लगता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस समय उसकी सामाजिक रुचि दूसरों के साथ रहने तक सीमित है। दो-तीन वर्ष का शिशु अपने ही उम्र के अन्य शिशुओं के साथ मिलकर खेलना चाहता है। तीन-चार वर्ष का शिशु अपने माता अथवा पिता के साथ बाहर जाने की इच्छा प्रकट करता है और न ले जाने पर रोने लगता है। पाँच-छः वर्ष का शिशु किसी मेले, समारोह अथवा उत्सव में जाने के लिए हठ करते देखा जाता है। आठ-दस वर्ष का शिशु बाहर जाकर वहाँ की बातें समझना चाहता है। पूजा स्थानों का वह निरीक्षण करना चाहता है। त्यौहारों के अवसर पर अपने घर सजाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। बालकों की

सामाजिक रुचियों के विकास में वातावरण का विशेष हाथ रहता है। वातावरण जितना ही कुतूहलपूर्ण होता है, सामाजिक रुचियों के विकास का उतना ही अच्छा अवसर होता है।

पढ़ने की रुचि (Reading Interests)—पढ़ने की रुचि पर बालकों का विकास बहुत हद तक निर्भर करता है। समुचित वातावरण के अभाव में कुछ बालकों में पढ़ने की रुचि का विकास नहीं हो पाता। फलतः ऐसे बालकों का विकास के अनुसार भेद व्यक्तित्व-विकास अधूरा रह जाता है। दस वर्ष के पहले पढ़ने में बच्चों की कोई विशेष रुचि नहीं रहती। अब तक उनकी रुचि प्रधानतः खेलों में ही होती है। परन्तु दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था पर उचित वातावरण के मिलने पर उनकी पढ़ने की रुचियों का विकास होने लगता है। पढ़ने की रुचि के आधार पर उनके मानसिक विकास के स्तर का भी अनुमान लगाया जा सकता है। छः-सात वर्ष का बालक जानवरों-सम्बन्धी मनोरंजक कहानियाँ पढ़ना और सुनना चाहता है। तुकान्त गाने पढ़ने और गाने में उसे बड़ा आनन्द आता है। सात-आठ वर्ष के बालक में प्रकृति-सम्बन्धी बातें पढ़ने की रुचि आने लगती है। नदी, पहाड़, जंगल, समुद्र, सूर्य तथा चन्द्रमा आदि के सम्बन्ध में वह जानना चाहता है और तत्सम्बन्धी मनोरंजक कहानियाँ यदि उसे मिल गईं तो उन्हें वह बड़े चाव से पढ़ता है। नव वर्ष के हो जाने पर उसे प्रायः कल्पनात्मक कहानियाँ अच्छी लगती हैं। परियों और शेखचिल्ली की कहानियाँ इस समय उसे बड़ी भाती हैं। ग्यारह वर्ष की अवस्था से उसमें जिज्ञासा प्रवृत्ति विशेष क्रियाशील हो जाती है, अतः इस समय वह आविष्कार तथा अन्य रहस्यपूर्ण बातें सुनना और पढ़ना चाहता है। इस समय उसमें प्रतियोगिता-भावना भी खूब होती है। अतः साहसपूर्ण कहानियाँ भी उसे बड़ी रुचिकर लगती हैं। लड़कियों का सामाजिक विकास लड़कों से कुछ भिन्न होता है। अतः उनकी पढ़ने की रुचियाँ भिन्न होती हैं। दस-बारह वर्ष की लड़कियाँ कौटुम्बिक बातों वाली कहानियाँ पढ़ना अधिक पसन्द करती हैं। जीवन-चरित्र और ऐतिहासिक कहानियाँ भी उन्हें अच्छी लगती हैं। किशोरावस्था के आते-आते लड़के और लड़कियों की रुचियों में बड़ा भेद आ जाता है, क्योंकि इस समय उनके जीवन की विभिन्न समस्याएँ अपने वास्तविक रुचि की ओर संकेत करने लगती हैं। अतः इन विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित ही उनकी पढ़ने की रुचियाँ होती हैं।

बालकों की व्यावसायिक रुचि—शैशव अथवा बचपन में बालक के व्यावसायिक रुचि का पता लगाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस समय उसे जीवन की विभिन्न समस्याओं का विशेष ज्ञान नहीं रहता। परन्तु माता-पिता द्वारा दबाव कैंशोर अर्थात् बारहवें या तेरहवें वर्ष के प्रारम्भ से वह अपने व्यावसायिक रुचि का कुछ-कुछ संकेत देने लगता है। व्यावसायिक रुचि के विकास में माता-पिता के वातावरण का

१४६ ○ बाल व्यवहार विकास

विशेष प्रभाव पड़ते दिखलाई पड़ता है। इसीलिए तो प्रायः यह देखा जाता है कि बढ़ई का लड़का लकड़ी के कार्य की ओर और सोनार का लड़का सोनारी की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखलाता है। परन्तु माता-पिता के व्यवसाय को ही बालक को चुनने के लिये अभिप्रेरित नहीं करना चाहिए। उसे इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता देना अत्यन्त आवश्यक है। माता-पिता द्वारा इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का दबाव हानिकर होगा।

संवेगात्मक विकास

EMOTIONAL DEVELOPMENT

संवेग का स्वरूप

(Nature of Emotion)

संवेग की परिभाषा देना बड़ा ही कठिन है, वस्तुतः व्याख्या देने से इसे समझना सरलतर है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि दुखी, प्रसन्न, भयभीत, क्रोधित तथा उत्तेजित होने में कैसे भावों का अनुभव किया जाता परिभाषा देना कठिन है। ऐसी अवस्थितियों को मनोवैज्ञानिकों ने संवेग की संज्ञा समझना सरलतर दी है। अध्यापकों, नेताओं तथा राजनीतिज्ञों के हाथ में संवेग बड़े ही प्रबल अस्त्र हैं। संवेगों को उत्तेजित करके ही वे बालकों तथा नागरिकों पर अपनी इच्छानुसार प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। संवेग के वश हो व्यक्ति दूसरे की अथवा अपनी हत्या कर डालता है, दूसरे पर वह क्रोधित हो जाता है, डर से भाग जाता है अथवा बेहोश हो जाता है, अथवा मुदित हो आनन्द-विभोर हो जाता है। संवेग से व्यक्ति को केवल गतिशील होने की प्रवृत्ति ही नहीं मिलती, वरन् कभी-कभी उसे दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। शान्ति, सुख, तथा प्यार आदि का अनुभव भी संवेगात्मक अनुभव के अन्दर ही गिना जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न प्रकार की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का अनुभव करता है। इन प्रतिक्रियाओं का स्पष्टीकरण और व्याख्या करना मनोविज्ञान के सामने एक बड़ी भारी समस्या है। गत पचास वर्षों से मनोवैज्ञानिक मनोविज्ञान की समस्या यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि विभिन्न संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के समय प्राणी में किस प्रकार के विभिन्न “आन्तरिक आवयविक परिवर्तन” (Intraorganic or Physiological Changes) होते हैं। परन्तु अब तक इस कार्य में सफलता नहीं प्राप्त की जा सकी है। ब्राह्म शारीरिक लक्षणों से किसी संवेगात्मक अनुभूति-विशेष का अनुमान करना अभी तक

कठिन सिद्ध हुआ है। किसी खिलाड़ी को खेलने के क्रम में देखने पर जान पड़ता है कि वह किसी उग्र संवेग की अनुभूति में है; यही बात किसी अभिनेता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। परन्तु न तो खिलाड़ी और न अभिनेता ही किसी उग्र संवेग का उस समय अनुभव करता है।

विकासात्मक पद्धति द्वारा समस्या का समझना (Genetic Method of Studying the Problem)—संवेग को समझने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में शिशुओं की प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया गया है। परन्तु इस विधि में भय यह है कि निरीक्षणकर्ता शिशुओं की प्रतिक्रियाओं की व्याख्या उस संवेग के अनुसार कर सकता है जिसका वे अनुभव ही नहीं करते। अतः शिशुओं के निरीक्षण में हमें बड़ा ही सावधान रहना है। संवेगों के अध्ययन में विकासात्मक पद्धति का सहारा लिया जा सकता है; परन्तु इसमें बड़े धैर्य की आवश्यकता है, क्योंकि इसमें बड़ा ही समय लगता है। शैशव और बाल्यावस्था में व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसे ध्यानपूर्वक देखकर अङ्कित करते रहना चाहिए। बच्चे के व्यवहार के अध्ययन हेतु नाना प्रकार की नई परिस्थितियों का आयोजन किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन का पूरा लेखा बहुत ही कम अङ्कित मिलता है। अधिकांश विकासात्मक अध्ययन नर्सरी स्कूल के बालकों के समूह का ही समय-समय पर किया गया है। विकासात्मक पद्धति के समानान्तर व्यक्ति इतिहास पद्धति (Case History Method) भी मानी जाती है। व्यक्ति इतिहास पद्धति से ज्ञात हुई बातें विकासात्मक पद्धति की कमियों को कुछ हद तक पूरी करती हैं। ये दोनों पद्धतियाँ संवेगों के अध्ययन में बड़ी ही सहायक सिद्ध हुई हैं।

मौलिक संवेग—मौलिक संवेगों को जानने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान कई नवजात शिशुओं के व्यवहार के अध्ययन का पक्षपाती है। ऐसे शिशुओं का अध्ययन सर्व-प्रथम करने वालों में वाटसन¹ का नाम लिया जाता है। वाटसन के अनुसार भय (Fear), रोष (Rage) और प्रेम (Love) मौलिक संवेग माने जा सकते हैं। तीव्र ध्वनि तथा सहारे के छूट जाने से भय की उत्पत्ति होती है। वाटसन के अनुसार शिशु की बाहें या पैर हाथ में लेने से रोष की उत्पत्ति होती है, और थपथपाने से प्रेम संवेग उत्पन्न होता है। वाटसन के इस दृष्टिकोण से संवेगों के अध्ययन में मनो-वैज्ञानिकों को बड़ी ही प्रेरणा मिली है।

संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ बड़ी ही जटिल होती हैं। शिशुओं द्वारा दिखलाये हुये संवेगों की संख्या में मतभेद पाया जाता है। परन्तु सभी मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि उनके मौलिक संवेग सीमित हैं। सामाजिक अनुभव के साथ-साथ

¹ His—"Psychological Care of Infant and Child", New York, Norton, 1928.

उनकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में कुछ परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है। शारीरिक विकास का भी उनकी संवेगात्मक अनुभूति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत प्रारम्भ से ही सामाजिक और शारीरिक विकास का शिशु के संवेगात्मक विकास पर प्रभाव पड़ने लगता है, क्योंकि उसका सारा विकास एक इकाई में चलता है। उसके सभी प्रकार के विकास प्रायः एक साथ ही चलते रहते हैं।

बहुत से अन्वेषकों ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि शिशुओं के बाह्य शारीरिक चेष्टाओं से किसी संवेग का स्वरूप किस हद तक समझा जा सकता है।

परन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है।
विवृद्धि और संवेगात्मक शारीरिक विवृद्धि (Maturation) का संवेगात्मक व्यवहार विकास के विकास पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है इस विषय में मनो-वैज्ञानिकों में मतभेद है। जेसेल के अनुसार विवृद्धि का संवेगात्मक विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ लोग संवेगात्मक विकास का कारण प्रधानतः सामाजिक उत्तेजनार्थ (Social Stimulations) समझते हैं। शिशुओं के संवेगात्मक व्यवहार के सम्बन्ध में जेसेल कहता है कि दस सप्ताह की अवस्था में किसी बन्द धरे में रख दिये जाने पर शिशु कोई विरोध नहीं दिखलाता। बीस सप्ताह की अवस्था पर ऐसी स्थिति में अपना सिर थोड़ा इधर-उधर हिलाकर वह अपना विरोध दिखलाता है। तीस सप्ताह पर अपना विरोध तथा असन्तोष दिखलाने के लिए वह रोने लगता है। अपने अन्वेषण के आधार पर जेसेल का कहना है कि वातावरण के ज्ञान के बढ़ने, सामाजिक विकास तथा शारीरिक नियन्त्रण के बढ़ने के साथ-साथ शिशु अपने संवेगात्मक भावों के प्रकाशन में भी पहले से अधिक सफल होता रहता है।¹ इस सम्बन्ध में प्रेसकॉट² भी जेसेल का समर्थन करता है।

बच्चों के संवेगों के अध्ययन की विधियाँ (Methods of Studying Children's Emotion)—बच्चों के संवेगों को समझना बड़ा ही कठिन सिद्ध हुआ है; क्योंकि वे अपने शब्दों में भावों को प्रकाशित करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होते। अतः उनके संवेगों के ठीक-ठीक अध्ययन के लिए **पॉलीग्रैफ का प्रयोग** मनोवैज्ञानिक नियमित परिस्थितियों में उनका निरीक्षण करना चाहते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक कीलर द्वारा अन्वेषित पॉलीग्रैफ या 'लाई डीटेक्टर'³ (Keeler's Polygraph or 'lie detector') का

¹ Gesell, Arnold—The Guidance of Mental Growth in Infant and Child, The Macmillan, New York, 1930.

² Prescott, D. A.—Emotion and the Educative Process, American Council on Education, p. 13, Washington, D. C. 1938.

³ इस यन्त्र द्वारा संवेगात्मक अनुभूति के फलस्वरूप रक्तचाप तथा श्वास की गति नापी जाती है और तदनुसार किसी संवेग का पता लगाया जाता है।

प्रयोग करना चाहते हैं। परन्तु इस विधि में शिशुओं अथवा बच्चों का सहयोग अच्छी तरह नहीं प्राप्त किया जाता, क्योंकि वे उसे ठीक से समझ ही नहीं पाते।

संवेगों के अध्ययन के लिए कुछ प्रश्नावलियों का भी प्रयोग किया जाता है। इनसे यह जानने की चेष्टा की जाती है कि बच्चे अपने व्यक्तिगत सामाजिक व्यवस्थापन के सम्बन्ध में किस प्रकार अनुभव करते, सोचते अथवा प्रतिक्रियायें दिखलाते हैं। इन प्रश्नावलियों द्वारा बालक के रक्षित अनुभव करने की भावना, आत्म-निर्भरता, असामाजिकता तथा भय आदि समझने का प्रयत्न किया जाता है। इन प्रश्नावलियों में अधोलिखित प्रकार के प्रश्न होते हैं।

१—किसी दूसरे बालक द्वारा मिठाई छीन लिये जाने पर तुम्हारे मन में कैसी भावना आती है ?

२—आँधरे में तुम्हें अचानक छोड़ दिया जाय तो तुम क्या करोगे ?

३—दो बच्चों को आपस में लड़ते देखकर तुम क्या करोगे ?

४—क्या किसी बड़े जलाशय को देखकर तुम्हें डर लगता है ?

५—किसी कुत्ते द्वारा दौड़ाये जाने पर तुम क्या करोगे ?

६—क्या तुम अपना विवाह करना चाहते हो ?

७—क्या तुम्हें स्कूल जाना अच्छा लगता है ?

आठ-दस वर्ष के बच्चों के संवेगों को समझने के लिए स्वतन्त्र-साहचर्य विधि (Free Association Test) का भी प्रयोग किया जाता है। इस विधि में प्रयोग के बाद कुछ ऐसे शब्दों को चुना जाता है जिनका स्वतन्त्र साहचर्य विधि किसी निश्चित संवेग से सम्बन्ध रहता है। शब्द के उच्चारण के बाद विषयी अर्थात् बालक को अपने मस्तिष्क में आये हुए प्रथम शब्द को कह देना पड़ता है। इस सब कहे हुए शब्द से उसके संवेग का अनुमान किया जाता है। इस विधि से किशोरों तथा प्रौढ़ों के भी संवेग का पता लगाया जाता है। मनोविश्लेषण-विधि में भी इस विधि का बहुधा प्रयोग किया जाता है।

संवेगात्मक व्यवहार का प्रारम्भ—शिशु का संवेगात्मक व्यवहार तो जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि शिशु कब किस प्रकार के संवेग की अनुभूति करता है। चार-पाँच महीने का शिशु सभी प्रकार के उद्दीपकों (Stimuli) के प्रति प्रतिक्रिया नहीं दिखला पाता। शैशव से ही ब्रिजेज के अनुसार तो लगभग डेढ़ साल की उम्र तक निश्चयात्मक रूप से बच्चे द्वारा अनुभूति संवेग का नामकरण नहीं किया जा सकता, यद्यपि वे किसी न किसी प्रकार के संवेग का विभिन्न परिस्थितियों में अनुभव करते ही हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रथम तीन वर्ष

¹ Standardized Tests of the questionnaire type.

तक तो उसके संवेग के विषय में अनुमान ही किया जाता है। एक महीने के शिशु को इधर-उधर उलट-पुलट दिया जाता है तो वह कुछ अप्रसन्नता दिखलाते हुए कुछ रोता है। इसके आधार पर मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि किसी विघ्न के अनुभव पर शिशु दुःख का संवेग दिखलाता है। तीन-चार महीने का रोता हुआ शिशु माँ की गोद पा जाने पर प्रायः चुप हो जाया करता है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वह आनन्द के संवेग का अनुभव कर सकता है। वह दूसरे की मुस्कराहट को देखकर अपने चेहरे पर मुस्कराने की रेखा खींच लेता है। यह भी आनन्द संवेग का ही लक्षण कहा जा सकता है। ब्रिजेज के अनुसार “तीन महीने की अवस्था में शिशु आनन्द (Delight) और कष्ट (Distress) का संवेग दिखलाता है। छः महीने की अवस्था पर उसमें भय (Fear), घृणा (Disgust) और क्रोध (Anger) भी आ जाता है। एक वर्ष पर वह प्रेम (Affection) और उल्लास (Elation) का संवेग दिखलाने में समर्थ हो जाता है। डेढ़ वर्ष का हो जाने पर वह ईर्ष्या-संवेग (Jealousy) भी दिखलाने लगता है। दो वर्ष की अवस्था में वह पहले से अधिक प्रसन्नता और आनन्द, क्रोध व घृणा तथा भय और क्रोध दिखलाने में समर्थ होता है।”¹

भाषा का कुछ ज्ञान हो जाने पर बालक के संवेग की जटिलता पहले से बढ़ने लगती है। इस जटिलता का आना दूसरे वर्ष से प्रारम्भ हो जाता है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों उम्र और अनुभव में बढ़ता है त्यों-त्यों उसके संवेग की जटिलता बढ़ती जाती है।

कभी-कभी प्रौढ़ के संवेग के स्वरूप को समझना कठिन संवेग की जटिलता हो जाता है, क्योंकि उनके संवेग की अनुभूति में कई प्रकार क्रमशः के भाव मिश्रित हो जाते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि छोटे बच्चों को कुछ ऐसी बातों का भय नहीं होता जिससे अन्य बड़े लोग डरते हैं। उदाहरणार्थ, सम्भवतः एक वर्ष का शिशु किसी मरे साँप से नहीं डरेगा, परन्तु ५-६ वर्ष का बालक उससे डर सकता है। बालक ज्यों-ज्यों बढ़ता है, बाह्य जगत की भयानक क्रियायें उसमें अपने प्राण का मोह उत्पन्न कर देती हैं।

एक छोर से दूसरे विपरीत छोर पर संवेग का आना—निरीक्षण से यह पता चलता है कि संवेग एक छोर से दूसरे विपरीत छोर तक जाया करता है। यदि कोई बालक किसी कारणवश किसी समय बहुत आनन्दित दिखलाई पड़ता है तो सम्भव है कि थोड़ी देर में वह दुःखित दिखलाई पड़े। यह देखा भी जाता है कि छः-सात महीने का बच्चा प्रायः हँसते-खेलते रहते हुये भी बहुत ही साधारण-सी बात पर रोना प्रारम्भ कर देता है। छोटे बच्चे जो एक समय आपस में खेल रहे हैं, वे दूसरे क्षण

¹ लेखक द्वारा रचित ‘बाल मनोविज्ञान’ पृ० ७६, प्रकाशक—रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५०।

आपस में मारपीट प्रारम्भ कर देते हैं। संवेग का इस प्रकार एक छोर से दूसरे विपरीत छोर पर आ जाना केवल छोटे बच्चों में ही नहीं देखा जाता, किशोरों तथा प्रौढ़ों में भी यह बात बहुधा देखी जाती है।

बालकों के कुछ संवेग (Some Emotions of Children)

क्रोध (Anger)

कारण—यह सभी का अनुभव है कि छोटा बच्चा अपना क्रोध प्रकाशित करने में कभी नहीं चूकता। उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ हुआ तो उसकी अप्रसन्नता की सीमा का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। वह अपने क्रोध-स्वाभाविक क्रियाशीलता प्रकाशन में बहुत देर तक रोता रहता है अथवा जो ही में विघ्न, अपमान वस्तु सामने आती है उसे पटक-फोड़ डालता है। उसके क्रोध का प्रधान कारण उसकी स्वाभाविक क्रियाशीलता में किसी प्रकार का विघ्न आना होता है। यह मानना ही होगा कि बच्चों को सदा स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता, अन्यथा वे क्या नहीं ढहा देंगे। तथापि वह बहुधा अपना क्रोध दिखलाता ही रहता है। जब माता उसके लिए कुछ करना चाहती है तो वह अपना क्रोध कभी-कभी दिखलाता है। गुडइनफ़ का कहना है कि शारीरिक क्रियाशीलता में बाधा उपस्थित होने से प्रथम सात वर्षों के अन्दर बालक में प्रायः क्रोध आ ही जाता है। सात वर्ष की उम्र के बाद क्रोध आने के कारण दूसरे हो सकते हैं। जो बालक अपना काम स्वयं करना चाहता है वह किसी प्रकार के हस्त-क्षेप से क्रोध दिखला सकता है। जो किसी सहायता की अपेक्षा करता है वह सहायता न पाने पर क्रोध दिखला सकता है। कोई बालक अपमानित होने पर अपना क्रोध प्रकाशित कर सकता है।

प्रकाशन का रूप—सभी बालक एक ही तरह अपना क्रोध प्रकाशित नहीं करते। तीन-चार वर्ष के बच्चों को अपने मान या अपमान का ध्यान नहीं रहता।

विकासानुसार भेद अतः अपने क्रोध-प्रकाशन में अपनी कल्पना और शक्ति के अनुसार यह किसी भी साधन का अवलम्बन ले सकता है।

हाथ-पैर पीटना व फेंकना, जोर से चिल्लाना, हाथ में ली हुई वस्तु को फेंक देना, पास पड़ी हुई वस्तु को नष्ट करने का प्रयास, धूल में लोटना, दूसरे को मारना या बकोटना तथा कोई वस्तु खाना अस्वीकार कर देना आदि-आदि उसके क्रोध-प्रकाशन का स्वरूप होता है। छः-सात वर्ष का बालक क्रोध के आवेश में अपने मुँह से बुरे शब्द भी निकाल सकता है। ब्रिजेज के अनुसार नर्सरी-स्कूल में तीन वर्ष के बालक अपने क्रोध-प्रकाशन के फलस्वरूप आपस में लड़ पड़ते हैं। इस लड़ने में वे एक-दूसरे के बाल या वस्त्र खींचने और नोंचने लगते हैं। चार-पाँच वर्ष

के बालक अपने क्रोध-प्रकाशन में कुछ अधिक संयम रखते हैं। वे अपने क्रोध-प्रकाशन में सहायता के लिए अध्यापक को पुकारते हैं। छः-सात वर्ष के बालक क्रोध के आवेश में यकायक दूसरों पर आक्रमण नहीं कर बैठते। दूसरों की बात सुनने के लिए उनमें धैर्य होता है और इस सम्बन्ध में वे किसी बड़े का निर्णय मान लेते हैं। आठ-दस वर्ष के बालक क्रोध के प्रकाशन में आपस में बहस करते हुये देखे जाते हैं और अपने भगड़े के निपटारे के लिए वे बहुधा किसी दूसरे के पास आ जाते हैं। बारह-तेरह वर्ष के बालक में कई प्रकार के सामाजिक गुण आ जाते हैं। उन्हें अपने मान व अपमान का अधिक ध्यान रहता है। अतः क्रोध के अनुभव पर वे उसके प्रकाशन में कुछ हिचकते हैं और उसे पहले कुछ छिपाना चाहते हैं, जिससे दूसरे उनकी निन्दा न करने लगे। परन्तु उनके क्रोध का आभास चेहरे पर तो व्यक्त होता ही है। अतः क्रोध के आने पर उनकी आँखें चमकने लगती जाती हैं, चेहरा लाल हो जाता है और उनके स्वर में कुछ परिवर्तन आ जाते हैं। यदि वे कुछ कहना चाहते हैं तो उनकी बात तक रुक जाती है।

अभिभावकों और अध्यापकों को यह याद रखना चाहिये कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए क्रोध का आना बड़ा ही हानिकारक है। क्रोध के आवेग में रक्त में कुछ ऐसे विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो चित्त को बहुत देर तक विचलित रखते हैं। कहना न होगा कि क्रोध का व्यक्तित्व के विकास पर भी प्रभाव पड़ेगा ही! अतः बालकों के पालन-पोषण के क्रम में इस बात पर ध्यान रहे कि उनके सामने क्रोध उत्पन्न करने वाली परिस्थिति यथासम्भव कम आवे। नीचे हम यही समझने की चेष्टा करेंगे कि ऐसी परिस्थिति को कैसे रोका जा सकता है, अथवा उसके आने पर उसका कैसे निराकरण किया जा सकता है।

क्रोध को रोकने के उपाय—यदि बालक के सामने सुगम से सुगम परिस्थिति और वातावरण उपस्थित करने का प्रयास किया जाय तो उसमें क्रोध आने को रोका जा सकता है। यदि बच्चा किसी बात से चिढ़ता है तो अच्छा **वातावरण पर ध्यान,** यह होगा कि उसके सामने यह बात आने ही न पावे। यदि **सभी इच्छा की पूर्ति** स्नान कराने अथवा कंधी करने का वह विरोध करता है तो **ठीक नहीं** इसे इतने प्रेम और ऐसे बहाने के साथ करना चाहिए कि ये दो क्रियायें उसके लिए सुखद हो जायँ। यदि बालक स्वच्छन्दता में बाधा पाने से क्रोध प्रदर्शित करता है तो उसका वातावरण ऐसा रखना चाहिए कि स्वच्छन्दता पाने पर किसी वस्तु को वह नष्ट-भ्रष्ट न कर सके। ऐसा करने में उसकी स्वच्छन्दता में बाधा डालने का प्रश्न ही उपस्थित न होगा। असफलता की भावना से भी बच्चों में क्रोध आ जाता है। अतः प्रयास यह रहे कि यथासम्भव बालक असफलता का अनुभव कम से कम करे। जिस वस्तु को पाने की बच्चा इच्छा करता है, यदि वह वस्तु उसे दी जा सकती है, तो उसे अवश्य ही वह दी जानी चाहिए। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति

करना न सम्भव ही है और न मनोवैज्ञानिक ही । अतः अच्छा होगा यदि इस सम्बन्ध में अभिभावक और अध्यापक समुचित सतर्कता से काम लें । जो माता-पिता बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना चाहते हैं वे बालकों को ऊधमी, हठी, असहाय और स्वार्थी बना डालते हैं । अतः समय-समय पर अप्रत्यक्ष और मनोवैज्ञानिक विधि से बालक को यह सीख दी जानी चाहिए कि उन्हें क्या 'करना' और क्या 'नहीं करना' चाहिए ।

कुछ बालक अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ होते देख, अपनी निन्दा सुन तथा दूसरों से कोई वस्तु न पाने पर अपने क्रोध का प्रदर्शन करते हैं । ऐसे अवसर पर उन्हें यह संकेत देना चाहिए कि सब कुछ उन्हीं की इच्छा-प्रेम से आवश्यक बातें नुसार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके अलावा दूसरों सिखलाना की इच्छाओं का भी आदर करना आवश्यक है । उन्हें यह सिखलाना चाहिए कि दूसरों से प्रशंसा पाने के लिए क्या करना आवश्यक है । उन्हें यह बतलाना चाहिए कि दूसरों की वस्तु पर अपना अधिकार करने की इच्छा निन्दनीय स्वार्थ का लक्षण है । इस प्रकार बालक की विभिन्न भावनाओं को हम पुनर्शिक्षित कर सकते हैं । जब बालक क्रोध में है तो उस समय उसे समझाना मनोवैज्ञानिक न होगा । अच्छा होगा यदि उस समय उसका ध्यान किसी दूसरी बात या कार्य पर दिया जाय । फिर बाद में क्रोध के औचित्य तथा अनौचित्य पर कुछ कहा जा सकता है । यह ध्यान रहे कि ऐसे अवसर पर अभिभावक तथा अध्यापक की मुद्रा से बालक किसी अप्रिय भाव का भास न कर सके, अन्यथा बालक तत्सम्बन्धी बातें समझने में असमर्थ हो सकता है ।

छोटे बालक के क्रोध के निवारण की समस्या उतनी कठिन नहीं जितनी कि १२, १३ या १४ वर्ष के बालकों की होती है, क्योंकि बड़े बालकों के बाह्य व्यवहार से क्रोध का पता लगाना कठिन हो जाता है । बड़े बालक बालकों के विचारों को क्रोध में आने पर अपनी बात कहने में बहुत भिन्नकते हैं । समुचित आदर देना क्रोध के आवेश में वे माता-पिता को छोड़ अपनी बातें किसी ऐसे व्यक्ति से कहना प्रारम्भ कर सकते हैं, जिसका संग उनके व्यक्तित्व-विकास के लिए बुरा हो सकता है । तथापि बालक के कुछ बाह्य व्यवहार, स्वर तथा मुद्रा से उसके अन्दर सुलगती हुई क्रोधाग्नि को समझना बहुत कठिन नहीं । ऐसे अवसर पर अभिभावक और अध्यापकों को आत्म-संवरण और सहानुभूति से काम लेना चाहिए । यदि विभिन्न परिस्थितियों में बालक के विचारों को समुचित आदर देने का प्रयास किया जाय तो उसके क्रोध की जटिलता तथा बुरे प्रभाव को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है ।

कुछ छोटे बालकों में ऊधम और उत्पात करने की प्रवृत्ति आ जाती है । उत्पाती बालक के रोने और चिल्लाने को यकायक बन्द करने का प्रयास करना व्यर्थ

सिद्ध होता है, क्योंकि इससे उसका रोना और चिल्लाना और बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में अच्छा यह होगा कि बच्चों को एक दम अकेले छोड़ दिया जाय जिससे वह अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार खूब रो और चिल्ला ले। ऐसा करने पर देखा जायगा कि कुछ दिन बाद बच्चे का इस प्रकार का उत्पात अपने आप बन्द हो जायगा।

आनन्द

(Delight)

आनन्द का संवेग प्रायः तीसरे महीने से बच्चे में देखा जा सकता है। मनो-वैज्ञानिकों का मत है कि एक वर्ष की उम्र में आनन्द का संवेग उल्लास (Elation) और प्रेम (Affection) में भी परिवर्तित हो जाता है। किसी पाँच या छः महीने की उम्र से इच्छा के पूरी होने पर बालक आनन्द का संवेग प्रदर्शित करता है। दुःख, भय और क्रोध आदि संवेग बालक में जैसे-जैसे कम होते हैं, वैसे-वैसे उसमें आनन्द का संवेग बढ़ता जाता है। मुस्कराने और हँसने को आनन्द-संवेग का लक्षण कहा जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि तीन-चार महीने की अवस्था से शिशु आनन्द के संवेग का अनुभव करने लगता है। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि इस उम्र में शिशु की मुस्कान आनन्द के संवेग का लक्षण न होकर अनुकरण प्रवृत्ति का फल होती है। यह निश्चित जान पड़ता है कि ५-६ महीने की उम्र से वह आनन्द संवेग का अनुभव करता है, क्योंकि इस उम्र में कुछ क्रियाओं के फलस्वरूप वह हमें अपनी हँसी और मुस्कराहट दिखलाता है। डेढ़-दो वर्ष का बालक माँ या पिता को बाहर से आते देख प्रसन्नता प्रकट करता है और गोद में आकर लिपट जाता है। आनन्द के भाव में बालक के चलने तथा बोलने में भी कुछ अन्तर आ जाता है। यह तो प्रायः प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा। विकास की अवस्थानुसार बालक में आनन्द उत्पन्न करने वाली वस्तुओं में भेद आ सकता है। तदनुसार उसके प्रकाशन-विधि में भी भेद होगा ही। डेढ़ वर्ष का बालक जिस खिलौने को देख या पाकर अपना आनन्द प्रकट करता है वह एक पाँच-छः वर्ष के बच्चे के लिए आकर्षक भी नहीं हो सकता। दो-तीन वर्ष के बच्चे किसी खिलौने के पा जाने पर उसे तोड़ने में एक आनन्द का अनुभव करते हैं—वस्तुतः वे उसे तोड़ते नहीं हैं, वरन् अपने विचारानुसार उसका पुन-निर्माण करते हैं।

शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य का आनन्द के अनुभव पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बीमार अथवा रोता या सोता हुआ बालक आनन्द के उद्दीपक के प्रति प्रसन्नता की प्रतिक्रिया नहीं दिखला पाता। अतः बालक को प्रसन्न करने के लिए उसकी भाव-मुद्रा की ओर हमें ध्यान देना आवश्यक है।

भय

(Fear)

कारण—ऊपर हम कह चुके हैं कि अचानक किसी तीव्र ध्वनि के होने अथवा सहारे के छूट जाने से बालक भय संवेग की अनुभूति करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रथम दो-तीन वर्ष के अन्दर रो अथवा चिल्लाकर अचानक तीव्र ध्वनि, बालक अपना भय प्रकट करता है। कभी-कभी भय-वश सहारे का छूटना और वह अपने अंग को कड़ा कर लेता। डेढ़ साल का गुड्डू अनुकरण जब किसी आगन्तुक को घर में देखता है तो रोने लगता है और पास में खड़े माता या पिता से लिपट जाता है। लिपटने में वह अपना शरीर इतना कड़ा कर लेता है कि उसे गोद में उठाना कठिन हो जाता है। कहना न होगा कि भय की उत्पत्ति के अन्य कारण भी हो सकते हैं। भय की उत्पत्ति दूसरे के अनुकरण से भी हो सकती है। एक बालक को डरा देखकर दूसरा बालक भयभीत हो सकता है। किसी परिस्थिति से यदि माँ डरती है तो उसे डरते देख बालक भी डर जाता है।

वातावरण पर नियन्त्रण के बढ़ने के साथ बालक में भय कम होता जाता है। जरसिल्ड और हॉल्म्स¹ के अनुसार दो से पाँच वर्ष की अवस्था में बालक अन्धेरे में अकेले होने पर भय संवेग प्रदर्शित करता है। छोटे बुद्धि तथा सामाजिक विकास का प्रभाव बालक को यह भी भय रहता है कि कोई उसे उठा न ले जाय। भय की उत्पत्ति में बुद्धि का भी प्रभाव पड़ता है। अपने अन्वेषणों के फलस्वरूप हॉल्म्स का कहना है कि मन्द बुद्धि के बालक तीव्र बुद्धि के बालक की अपेक्षा कम डरते हैं। उसने यह भी देखा कि लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक डरती हैं। डरने में सामाजिक विकास का बड़ा हाथ रहता है। यदि सामाजिक विकास अवस्थानुसार पर्याप्त हुआ तो भयप्रद परिस्थितियों पर बालक शीघ्रतर नियन्त्रण प्राप्त कर सकेगा। जो बालक बहुधा दूसरों पर हर बात के लिए आश्रित रहते हैं, जिन्हें आत्म-निर्भरता और आत्म-विश्वास का पाठ नहीं पढ़ाया जाता उनमें भय-संवेग विशेष आता है। कुछ लोग खेल में बालकों को डराया करते हैं, अथवा भूत-प्रेत तथा मृतक व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में ऐसी बातें करते हैं जो बालक में भय उत्पन्न करती हैं। अतः अच्छा होगा कि बालकों को ऐसी बातों से दूर रखा जाय।

भय को दूर करना—भय को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि बालक को परिस्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान दिया जाय, जिससे उस पर तथा समान परिस्थितियों

¹ Children's Fears—Child Development Monographs No. 20, Teachers' College, Columbia Univ. New, York, 1935.

पर नियन्त्रण प्राप्त करने में उसे कठिनाई न हो। उदाहरणार्थ, यदि बालक अनायास अन्धेरे के भय से किसी कमरे में नहीं जाना चाहता तो उसके भय को दूर करने के लिए उसे अपने साथ उस परिस्थिति का ज्ञान और सहानुभूति कमरे में ले जाकर प्रेमपूर्वक बतलाना चाहिये कि उसका भय निराधार है। यदि बचपन के किसी भय को दूर करने में अमनोवैज्ञानिक रूप से शीघ्रता की गई तो बहुत सम्भव है कि बालक का भय जीवन भर के लिये स्थायी हो जाय। यदि बालक नदी से डरता है तो अचानक उसे पानी में डाल देने से उसका पानी के प्रति भय स्थायी हो सकता है। इसके लिये अच्छा होगा कि यदि सहानुभूतिपूर्वक उसका नदी से धीरे-धीरे सम्पर्क स्थापित किया जाय।

कुछ माता-पिता बालक को शान्त करने के लिए उसे भयभीत किया करते हैं; जैसे—“चुप-चुप गो-गो आया—अरे तुम्हें बाघ आकर उठा ले जायगा” इत्यादि।

शान्त करने की यह विधि बड़ी अमनोवैज्ञानिक है। इससे बालक डरपोक बन जाता है और आत्म-विश्वास खो बैठता है। कभी-कभी बालक दिये हुए निर्देश के विपरीत काम करता है। अतः निर्देश देने में बड़ा सावधान रहना चाहिये। यदि बालक बिजली के पंखे में हाथ डालना चाहता है तो सम्भव है कि मना करने पर भी उसमें हाथ डालने का वह प्रयत्न करे। अतः पंखे के लिये उसमें भय उत्पन्न करने का प्रयत्न कर यदि उससे दूर रक्खा जाय तो अच्छा होगा। परन्तु भय को दूर करने के लिये परि-

स्थिति से बालक को सदा दूर रखना सम्भव नहीं हो सकता और न उसके सामाजिक विकास के लिये ही यह अच्छा होगा, क्योंकि जीवन में उसे विभिन्न विषम परिस्थितियों का सामना करना ही होगा और उनके लिए उसे तैयार भी करना चाहिये। अतः बालक से भय को निकालने के लिए हमें बुद्धिमानी से काम करना चाहिए। मेरी काँवरजोन्स के अनुसार भय को दूर करने के लिए परिस्थिति का अव्यवहार (Disuse), दूसरी परिस्थिति (Distraction) की ओर ध्यान खींचना, आवश्यक (Verbal Appeal) बातें समझना तथा दूसरे का अनुकरण (Social Imitation) आदि उपाय काम में लाये जा सकते हैं। परिस्थिति के अव्यवहार का तात्पर्य यह है कि जिस परिस्थिति से वह डरता है उसके सम्पर्क को यथासम्भव कम किया जाय। यदि किसी बात से बालक डर रहा है तो उसके डर को दूर करने के लिए उसका ध्यान अन्य बातों की ओर खींचा जा सकता है। आवश्यक बातें समझा देने से भी उसके भय को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है। सामाजिक अनुकरण का अर्थ वैसे व्यवहार के अनुकरण से है जिसका उस भय वाली परिस्थिति से सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ; बालक यदि कुत्ते से डरता है तो अभिभावक स्वयं उस कुत्ते के साथ खेल कर बच्चे को दिखला सकता है। इस प्रकार बालक भी कुत्ते के साथ खेलने के लिए उत्साहित होकर अपने भय को निकाल देगा। इसे सामाजिक अनुकरण कहा जायगा।

कष्ट और रोना (Distress and Crying)

प्रायः रोना और चिल्लाना छोटे बच्चों का स्वभाव होता है। उनके रोने का कारण किसी प्रकार का कष्ट, क्रोध, भय अथवा ईर्ष्या आदि हो सकता है। इन संवेगों से उत्पन्न संवेगात्मक तनाव आँसू गिरने से ढीला पड़ जाता है। कदाचित् इज़ीलिये प्रकृति ने आँसू गिरने का आयोजन किया है। ब्रिजेज के अनुसार तीन वर्ष की उम्र के बाद बालक स्कूल में कम रोते हैं। पाँच-छः वर्ष के बच्चे किसी कष्ट के पाने के बाद अपनी कठिनाई शिक्षक से कहते हैं। दूसरों के चिढ़ाने पर भी बच्चे कभी-कभी रोया करते हैं। चार-पाँच वर्ष के बच्चे अपनी स्वाभाविक क्रिया में किसी के हस्तक्षेप के कारण रोने लगते हैं। ब्रिजेज के अनुसार कष्ट पाने पर बच्चे तीन प्रकार का व्यवहार दिखला सकते हैं—(१) सहायता के लिये किसी बड़े को पुकारना, (२) हस्तक्षेप का विरोध करना, अथवा (३) चुपचाप अपनी अप्रसन्नता प्रकट करना।

प्यार

(Affection)

बच्चे में प्यार का संवेग ६-७ महीने की उम्र से देखा जाता है। जो उसकी सेवा करते हैं, उन्हें देख कर वह प्रसन्नता दिखलाया करता है। यह प्रसन्नता उसके प्यार का ही लक्षण होता है। लगभग १०-१२ महीने के बालक को माँ के मुँह में कुछ डालते हुए देखा जाता है। यह उसके प्यार का ही प्रदर्शन है। डेढ़ साल का बालक चुम्बन देकर अपना प्यार प्रदर्शित करता है। जिसके सम्पर्क से बालक को कुछ सुख मिलता है, उसके प्रति वह प्यार का भाव दिखलाया करता है। अपने खिलौने से उसे कुछ आनन्द आता है। इसलिये खिलौने को भी पुचकारते, थपथपाते और प्यार करते हुए वह देखा जाता है।

बालक के प्यार का क्षेत्र जितना ही विस्तृत होगा वह उतना ही उदार वृत्ति का होगा। अतः माता-पिता को देखना चाहिये कि बच्चों का क्षेत्र बहुत सीमित न हो जाय। कुछ लोग अपने माता-पिता तथा घर के कुछ अन्य व्यक्तियों से इतने प्यार में लिपटे रहते हैं कि अन्य व्यक्तियों को प्यार करना वे सीखते ही नहीं। इसका बालक के सामाजिक विकास पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। बालक का वातावरण कुटुम्ब तक ही सीमित नहीं रह सकता। उसे अन्य लोगों के सम्पर्क में आना ही है, अतः बहुत प्रारम्भ से ही उसके सामाजिक वातावरण के समुचित विस्तार पर ध्यान देना चाहिये।

ईर्ष्या

(Jealousy)

मनोज्ञावैनिकों के अनुसार ईर्ष्या में क्रोध और कष्ट संवेग का समावेश

रहता है। माता-पिता के प्यार के लिये बच्चों में बहुधा एक होड़ लगी रहती है।

**माता-पिता के मनो-
वैज्ञानिक व्यवहार
से इसमें कमी**

जब बच्चा देखता है कि माता-पिता का प्यार उसकी ओर न आ कर किसी दूसरी ओर जा रहा है तो उसमें ईर्ष्या-संवेग जागृत हो जाता है। जिस घर में चार-पाँच बच्चे होते हैं वहाँ बहुधा ऐसा हुआ करता है। डेढ़ वर्ष की अवस्था से बच्चे में ईर्ष्या की भावना आ जाती है। अपनी माँ का दूध जब बच्चा किसी दूसरे बच्चे को पीते देखता है तो ईर्ष्या-संवेग उसमें जागृत हो जाता है। जब माँ एक बच्चे को गोद में उठाती है तो ईर्ष्यावाश दूसरा बालक भी गोद में आने के लिए रोने लगता है। अपने दूसरे भाई अथवा बहिन के जन्म से बालक में ईर्ष्या-भावना जोर पकड़ने लगती है, क्योंकि इससे माता-पिता का ध्यान उसकी ओर से हट कर नवजात शिशु की ओर हो जाता है और वह पहले की तरह प्यार और ध्यान नहीं पाता। इस परिवर्तन का बच्चे की मानसिक स्थिति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि माता-पिता अपने व्यवहार में यह दिखलावें कि नवजात शिशु के कारण बच्चे के प्रति उनके प्यार में कोई कमी नहीं है तो बच्चे में ईर्ष्या की भावना नहीं आयेगी। अतः स्पष्ट है कि इसे रोकने में माता-पिता का मनोवैज्ञानिक व्यवहार बड़ा सहायक होगा।

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा ईर्ष्या-भावना अधिक होती है। कदाचित् इसका कारण लड़कियों के प्रति हमारा व्यवहार ही है। वर्तमान सामाजिक परम्परा के अनुसार लड़कियों को लड़कियों में अपेक्षाकृत लड़कों की अपेक्षा कम स्वतन्त्रता दी जाती है। इस सम्बन्ध में माता-पिता की भी दो आँखें हो जाती हैं। फलतः लड़का प्रत्येक बात में अपने को लड़की से श्रेष्ठतर सिद्ध करना चाहता है। उसकी इस मनोवृत्ति का लड़की पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। परन्तु अभी मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा यह नहीं सिद्ध किया जा सका है कि लड़कियों में अपेक्षाकृत अधिक ईर्ष्या-भावना होती है। तथापि वस्तुस्थिति से ऐसा ही जान पड़ता है।

बालक जब सामूहिक खेलों में भाग लेने लगता है तो उसमें प्रतियोगिता की भावना आ सकती है। इस भावना से उसमें ईर्ष्या-संवेग आया करता है। जो लड़का या लड़की खेलने-कूदने अथवा पढ़ने-लिखने में दूसरों ईर्ष्या भावना का कभी लोप नहीं से अच्छा होता है उससे दूसरे लड़के ईर्ष्या करने लगते हैं। छोटी उम्र में भाई-बहिन आपस में ईर्ष्या करते हैं परन्तु १२-१३ वर्ष की उम्र से उनमें ईर्ष्या कम होने लगती है क्योंकि तब वे अपनी योग्यता को पहले से अधिक समझते हैं और अपनी सीमाओं को पहचान कर सन्तोष करने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनमें ईर्ष्या भाव का लोप हो जाता है। वस्तुतः इस भावना का लोप तो कभी होता ही नहीं। परन्तु बड़े हो

जाने पर सामाजिक बन्धन के कारण व्यक्ति उसका स्पष्ट प्रकाशन बहुत कम करके मन ही मन मसोस कर रह जाता है; तथापि उसके कुछ व्यवहार से उसकी आन्तरिक मनोवृत्ति का संकेत तो मिल ही जाता है।

ईर्ष्या-प्रकाशन की विधियों में विकासावस्था के अनुसार भेद पाया है। डेढ़-दो वर्ष के लड़के रो कर अथवा ऊधम मचा कर अपनी ईर्ष्या-भावना का प्रकाशन करते हैं। पाँच-छः वर्ष से लड़के ईर्ष्या-भावना-वश आज्ञा का उल्लंघन कर सकते हैं। दस-बारह वर्ष के लड़के ईर्ष्या के फलस्वरूप आपस में झगड़ सकते हैं, अथवा एक दूसरे को कुछ हानि पहुँचाने की मन ही मन कोई योजना बनाते हैं।

ईर्ष्या को दूर करने के उपाय—ईर्ष्या से विकास की स्वाभाविक गति में बड़ी बाधा पड़ती है। इच्छाओं की पूर्ति न होने से ईर्ष्या उत्पन्न होती है। परन्तु इच्छाओं की सदैव पूर्ति होते रहना कठिन है। अतः इच्छाओं के प्रतिकूल परिस्थिति में अच्छा व्यवहार दिखलाने की बालकों को शिक्षा देना आवश्यक है। इस पर बहुत प्रारम्भ से ही ध्यान देना चाहिये। बहुत से माता-पिता बच्चों की प्रत्येक इच्छा को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी यह मनोवृत्ति बालक के स्वास्थ्य विकास में बाधक होती है।

बालक अपनी सभी बात के लिए दूसरों से प्रशंसा की अपेक्षा करता है। वह चाहता है कि उसके दूसरे भाई-बहन या साथी प्रशंसा न पायें। फलतः वह सब में अपना प्रतिद्वन्द्वी देखने लगता है। यदि बालक के मन में दूसरों के लिये प्रेम उत्पन्न किया जाय तो उसकी ईर्ष्या-भावना स्वतः कम हो जायगी। बच्चे को यह सिखलाना चाहिये कि उसे अपने बड़े भाई तथा बहन के गुणों का अनुकरण करना है और बड़े भाई और बहन को सिखलाना चाहिए कि उन्हें अपने छोटों को प्यार करना है। यदि यह मनोवृत्ति बच्चों को दी जा सकी तो उनकी ईर्ष्या-भावना में अपने आप कमी आ जायगी।

कुछ माता-पिता या अभिभावक बच्चों की दूसरों से अमनोवैज्ञानिक तुलना किया करते हैं। उन्हें सभी बालकों को समान दृष्टि से देखना चाहिये। किसी बालक को अपना विशेष प्रेम-पात्र बनाने का फल दूसरों में ईर्ष्या-भावना उत्पन्न करना होता है। माता-पिता को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनके व्यवहार से बालकों में आत्महीनता की भावना न आने पावे, क्योंकि इस भावना से भी ईर्ष्या उत्पन्न होती है। अच्छे गुणों में दूसरों से आगे बढ़ जाने की बालकों को भावना देना अच्छा है। बालकों में इस प्रकार की आई हुई ईर्ष्या-भावना उनमें

अच्छे गुणों का विकास करेगी। अतः इस सम्बन्ध में माता-पिता को बड़ा मनो-वैज्ञानिक होना चाहिये।

संवेगों पर नियन्त्रण पाने के उपाय

(Devices for Gaining Control Over Emotions)

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त करने में हमें बालकों की सहायता करनी है। हमारा यह अनुभव है कि बीमार या निर्बल व्यक्ति विविध संवेगों का बहुधा अभियुक्त हो जाया करता है। अच्छा स्वास्थ्य कहने का तात्पर्य यह है कि स्वास्थ्य के अच्छे होने पर व्यक्ति अपने संवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त करने में बहुत हद तक सफल हो जाता है। अतः सर्व प्रथम हमें बच्चे के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना है।

अति उत्तेजक घटनाओं से बालकों को दूर रखना चाहिए, क्योंकि वे उनमें हानि का संवेग उत्पन्न करती हैं। इन घटनाओं में गहरी मार-पीट या भगड़ा-कलह, मृतक शरीर तथा अन्य भयावह परिस्थितियों का नाम विकासानुसार विभिन्न लिया जा सकता है। परन्तु हमें ध्यान रखना है कि बालक परिस्थितियों का लाना को अपने भावी जीवन में कभी न कभी ऐसी परिस्थितियों का सामना करना ही होगा। अतः उन्हें ऐसी परिस्थितियों से दूर रखने की एक सीमा भी होनी चाहिए। अतः उचित अवसर पर हमें उन्हें इनका परिचय देना ही होगा। विकास के अनुसार उनके सामने विभिन्न परिस्थितियों का लाना मनोवैज्ञानिक होगा।

जब बालक किसी उग्र संवेग में आ गया हो उस समय उसे सीख देना अमनोवैज्ञानिक है। भय, क्रोध तथा ईर्ष्या ऐसे संवेगों के प्रकाशन में कुछ नियन्त्रण की विशेष आवश्यकता होती है। ऐसे संवेगों के सम्बन्ध में हमें उन्हें ऐसे उपयुक्त अवसर पर शिक्षा देनी चाहिए जब वे इनके वशीभूत न हों।

जिन संवेगों से बालकों को आनन्द और सुख मिलता है उन पर किसी प्रकार के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वे विकास के लिए हितकर होते हैं। परन्तु आनन्द देने वाले संवेगों पर भी नियन्त्रण रखना सामाजिक दृष्टि से कभी-कभी आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई परिस्थिति आनन्दवश बालकों में हास उत्पन्न करती है तो यह देखना है कि उसकी हँसी से किसी के हृदय पर आघात न लगे। सभा या गोष्ठी में किसी के भाषण अथवा कथन पर हँस देना ठीक नहीं। इन सब बातों का बालकों को सिखलाना बड़ा ही आवश्यक है।

सामाजिक विकास

(SOCIAL DEVELOPMENT)

समूह का बड़ा प्रभाव (Great Impact of Group)

मानव सामाजिक प्राणी है—इस कथन की सत्यता का आभास शिशु के प्रारम्भिक जीवन से ही मिलने लगता है। जिस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है उसी प्रकार बालक भी दूसरों की सहायता पर आश्रित रहता है। ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता है दूसरों पर उसकी निर्भरता कम होती जाती है; तथापि दूसरों के सम्पर्क के बिना वह कभी नहीं रह सकता। फलतः विभिन्न लोगों से उसका सम्पर्क बढ़ता जाता है। इन विभिन्न लोगों की उसमें उतनी रुचि नहीं होती जितनी कि उसके माता-पिता उसमें रुचि रखते हैं। फलतः अपने व्यवस्थापन (Adjustment) में उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों तथा उसके उत्तरोत्तर विकास के कारण उसका सामाजिक व्यवहार जटिलतर रूप लेता जाता है।

बालक के पूरे विकास पर उसके सामाजिक सम्पर्क का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बचपन में विभिन्न बातों का प्रभाव व्यक्ति पर बड़े शीघ्र पड़ जाता है। अतः विभिन्न प्रभावों द्वारा उसका विकास किसी भी प्रकार का बनाया जा सकता है। बालक का पहला सामाजिक संपर्क कुटुम्ब से होता है। इसलिए उसकी प्रारम्भिक आदतें तथा अभिवृत्तियाँ (Attitudes) कुटुम्ब ही द्वारा निर्धारित होती हैं। इन आदतों और अभिवृत्तियों का उसके विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर वह विभिन्न सामाजिक उद्दीपकों (Stimuli) के प्रति अपनी प्रतिक्रियायें (Responses) दिखलाता है। “नर्सरी स्कूल

के कुछ बालकों के आधार पर पोर्टीनीयर^१ का कथन है कि घर की पृष्ठभूमि एक ऐसी मनोवैज्ञानिक शक्ति हो जाती है जिससे बालक का सारा व्यवहार प्रारम्भिक दिनों में निर्धारित होता है। उसका व्यवहार घर तथा वातावरण के किसी एक विशेष प्रभाव द्वारा निर्धारित नहीं होता। उसके व्यवहार के निर्धारण में उसके व्यक्तित्व विशेष तथा सम्पूर्ण वातावरण के प्रति उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध का प्रधान हाथ होता है।" समूह के लिए बालक जितना ही प्रिय माना जायगा उतना ही उस समूह का प्रभाव पड़ सकता है; और इस प्रभाव पर ही उसका व्यवस्थापन निर्भर करता है। जिस बालक को समूह के बहिष्कार का सामना करना पड़ता है, उसका व्यक्तित्व बड़ा ही संकुचित हो जाता है और आगे चलकर उसे व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जेक^२ ने अपने अध्ययन में देखा कि उन बालकों में जो अपने किसी गुण के कारण अपने को दूसरों से श्रेष्ठतर दिखला सकते थे, अधिक आत्म-विश्वास तथा नेतृत्व की शक्ति पाई जाती है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक के विकास पर उसके सामाजिक समूह का बड़ा ही प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक विकास का अर्थ

(The Meaning of Social Development)

सामाजिक विकास का अर्थ दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार कर सकने की योग्यता तथा अपने पैरों पर खड़ा हो सकने की शक्ति से है। वह अभिरुचियों (Tastes), अभिवृत्तियों (Attitudes), रुचियों (Interests) सामाजिक विकास आदतों (Habits) तथा व्यवहार में प्रौढ़ता प्राप्त करने को विविध विकासों का सामाजिक विकास कहा जा सकता है। यह प्रौढ़ता यका-गुणनफल यक अथवा अचानक नहीं आ जाती। यह धीरे-धीरे आती है और सामान्यतः बालक के शारीरिक विकास के साथ-साथ यह भी आती रहती है। सामाजिक विकास के साथ नई रुचियों, नये व्यवहार तथा नये प्रकार के मित्रों के चुनाव में वृद्धि होती है। सामाजिक विकास की दृष्टि से प्रौढ़ व्यक्ति केवल दूसरों के साथ रहना ही नहीं चाहता, वरन् दूसरों के साथ काम भी करना चाहता है। सामाजिक विकास अन्य प्रकार के विकास से स्वतन्त्र नहीं होता। सामाजिक विकास का शारीरिक विकास, मानसिक विकास, संवेगात्मक विकास तथा

^१ Portinier. L.—The Psychological field as a determinant of the behaviour and attitudes of pre-school children, *Journal of Genetic Psychology*, 62, 327-333, 1943.

^२ Jack, L. M.—An experimental study of ascendant behaviour in pre-school children, *University of Iowa Study of Child Welfare* 9, No. 3, 1934.

व्यक्तित्व विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः सामाजिक विकास इन सब विविध विकासों का एक प्रकार से गुणनफल है।

दूसरों के साथ सामाजिक व्यवहार दिखलाना बालक धीरे-धीरे सीखता है। यह सीखना विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व के सम्पर्क में आने पर निर्भर करता है।

इस सम्पर्क का ज्यों-ज्यों उसे अवसर मिलेगा उसका सामा-
निश्चित योजना और जिक विकास होता जायगा। बालक के बाँझित सामाजिक
निर्देशन आवश्यक विकास के लिए एक निश्चित योजना और निर्देशन की
 आवश्यकता है। यदि बालक बुरे समूह के प्रभाव में आ
 गया तो उसका सामाजिक विकास दूषित हो जायगा। बालक के पास इतना अनु-
 भव नहीं होता कि वह अपना विकास सुचारु रूप से संचालित कर सके। अतः माता-
 माता, शिक्षक और अभिभावकों को इस विषय में बड़ा सतर्क रहना चाहिए।

सामाजिक विकास के साथ-साथ बालक अपने व्यक्तित्व का स्थापन भी
 करता रहता है। ज्यों-ज्यों बालक अपने आत्म-प्रकाशन में सफल हो जाता है उसका
व्यक्तित्व का स्थापन सामाजिक विकास बढ़ता हुआ कहा जा सकता है, क्योंकि
 इसके साथ अपने पैरों पर खड़ा होने की भी उसमें शक्ति
 आती रहती है। इस शक्ति के साथ वह दूसरों से स्वतः
 सामाजिक बन्धन जोड़ने में समर्थ होता है और कुछ अपनी ऐसी मान्यताओं और
 आकांक्षाओं का प्रकाशन करता है जिनमें सामाजिकता निहित होती है। इस विकास
 के साथ वह अपने व्यवहार में अधिक वैयक्तिक और स्वतन्त्र दिखलाई पड़ता है।
 अब ऐसा जान पड़ता है कि अपनी बातों में वह अपनी रुचि को भी प्रधानता देना
 चाहता है। अब दूसरों के इशारों पर ही नाचना उसे पसन्द नहीं रहता। परन्तु इन
 सब का यह अर्थ नहीं कि उसमें सामाजिकता की कमी आ रही है। वस्तुतः एक
 प्रकार से उसमें सामाजिकता अब बढ़ जाती है। पहले की तरह अब भी वह दूसरों के
 साथ रहने में प्रसन्नता का भाव प्रकट करता है। दूसरों के साथ का वह स्वागत
 किया करता है। दूसरों के साथ मिलकर किसी काम को करना उसे अच्छा लगता
 है। दूसरों के साथ वह सहानुभूति और दया का भाव दिखलाता है। वह दूसरों से
 प्रशंसा की कामना करता है। वह अपने दिल के साथ भक्ति दिखलाता है और उसके
 आदर्शों के अनुसार चलने के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाता है।

सामाजिक विकास की धारा एक क्रम में

बालकों में सामाजिक विकास की धारा प्रायः एक क्रम से चलती है। इस
 क्रम के कारण ही यह अनुमान करना कठिन नहीं होता कि किसी अवस्था विशेष में
 उनके सामाजिक विकास का साधारण स्वरूप क्या होगा।
स्वरूप का अनुमान इस स्वरूप के ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है
सम्भव कि किस उम्र पर वह दूसरों के साथ अधिक खेलने का
 इच्छुक होगा और किस उम्र पर उसमें प्रतियोगिता अथवा

नेतृत्व की भावना का प्रादुर्भाव होगा। नर्सरी स्कूल के बच्चों के अध्ययन से सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों का पता लगा है। ब्लाज़ और बॉट^१ ने अपने अध्ययन में देखा कि दो साल के बच्चे अकेले खेलना अधिक पसन्द करते हैं, परन्तु उन पर भी अपने से बड़े बच्चों का इतना प्रभाव पड़ता है कि वे उनके व्यवहार तथा खेलों के अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं। तीन साल के बच्चे दूसरे बच्चों के साथ खेलना पसन्द करने लगते हैं। बालकों के विकास की धारा एक ऐसे क्रम में चलती है कि लोग अपने बच्चों के सम्बन्ध में यह अनुमान करने लगते हैं कि अमुक उम्र पर वह अमुक प्रकार का व्यवहार दिखलायेगा। विकसित हुए बच्चे के सम्बन्ध में मर्फी, मर्फी और न्यूकाम्ब ने अधोलिखित प्रकार की प्रतिक्रियाओं की कल्पना की है।^२

१—जन्म से प्रथम दो या तीन वर्ष तक वह बहुत ही सुन्दर लगता है और कुटुम्ब का खिलौना बना रहता है।

२—दो से छः वर्ष की अवस्था के अन्तर्गत उसमें कभी भी यह भावना आ सकती है कि दूसरे शिशु की परिचर्या में उसे बड़ों को बाधा नहीं डालनी चाहिए।

३—प्राइमरी स्कूल में जाने की उम्र पर उससे स्कूल में चुपचाप बैठ कर पढ़ना और गिनना सीखने की अपेक्षा की जा सकती है।

४—छः और बारह वर्ष की उम्र में उसे लिंग-भेद का ज्ञान हो सकता है।

५—बारह वर्ष के बाद स्कूल और माता-पिता को यह आशा होने लगती है कि पढ़ने-लिखने में वह यथाशक्ति परिश्रम करे।

सामाजिक व्यवहार के प्रारम्भ

(Beginnings of Social Behaviour)

जन्म के समय शिशु असामाजिक जान पड़ता है। लोगों में उसकी रूचि नहीं होती है। वह इस समय जड़ और चेतन के भेद को नहीं समझता। कमरे में रखी हुई विभिन्न वस्तुएँ तथा कमरे में आने-जाने और रहने प्रारम्भ में जड़ और चेतन वाले विभिन्न व्यक्ति उसके लिए समान होते हैं। ऐसी में भेद न कर सकना स्थिति में वातावरण की विभिन्न उद्दीपकों के प्रति ही वह अपनी प्रतिक्रियायें दिखला सकता है।

^१ Blatz, W. E. and Bott, E. A.—Studies in Mental Hygiene of Children. I., Behaviour of Public School Children—a description of method, *Journal of Genetic Psychology*, 94. 552-582, 1927.

^२ Murphy, G. Murphy, L. B. and Newcomb, T. M.—Experimental Social Psychology. Rev. Ed., Harper, New York, 1937.

प्रथम दो महीने में केवल अति गहन उद्दीपक जैसे तीव्र ध्वनि, अति प्रकाश तथा कड़ा स्पर्श—के प्रति ही वह प्रतिक्रियाएँ दिखलाता है। इस समय मनुष्य की ध्वनि तथा अन्य ध्वनियों में वह भेद नहीं कर सकता। इसी प्रकार उसकी प्रतिक्रिया समान होगी चाहे वह किसी व्यक्ति द्वारा छुआ जाय अथवा किसी वस्तु से।

तीसरे महीने में शिशु का सामाजिक विकास स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगता है। अब वह अकेले रहने पर रोता है और लोगों के साथ रहने पर सन्तुष्टि का भाव दिखलाता है।

जब शिशु के वस्तु (Object) और व्यक्ति (Person) के भेद को समझने लगने से उसके सामाजिक विकास का प्रारम्भ कहा जा सकता है। प्रायः प्रथम दो वर्ष के सामाजिक विकास में विभिन्न बच्चों में कोई विशेष भेद नहीं पाया जाता, क्योंकि इस काल तक उनके वातावरण में अधिक समानता होती है। परन्तु ज्यों-ज्यों उनके वातावरण में भेद बढ़ता जाता है उनके सामाजिक विकास में भी अन्तर देखा जाता है।

प्राइडों के प्रति प्रतिक्रियाएँ (Reactions to Adults)—बच्चों की पहली सामाजिक प्रतिक्रिया (Social Response) प्राइडों (Adults) के प्रति होती है, क्योंकि सर्वप्रथम वे प्राइडों के ही सम्पर्क में आते हैं। एक महीने की अवस्था पर शिशु मनुष्य की ध्वनि सुनने पर मुँह से स्तन-पान (Sucking movement) करने की गति का आभास देता है। दो महीने पर गौद में लेने से वह रोना बन्द कर देता है। मनुष्य की ध्वनि सुनने से वह धूम जाता है और किसी को मुस्कराते देख मुस्कराता है। तीसरे महीने पर जब उससे कोई बात करने का स्वाँग रचता है तो वह रोना बन्द कर देता है। कुछ अन्य उद्दीपकों से आकर्षित होने पर भी इस समय शिशु रोना बन्द कर देता है। इस अवस्था पर किसी के साथ छोड़ देने से अकेले होने पर वह रोने लगता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तीन महीने पर दूसरों में उसकी रुचि होने लगती है। तीसरे महीने में ही शिशु यह सीख जाता है कि रोने से दूसरे लोग उसके पास आ जाते हैं और यदि उसकी इस विधि को प्रोत्साहन दिया जाय तो इससे वह लोगों के ऊपर एक प्रकार का नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। तीन महीने पर अपने व्यवहार से शिशु यह दिखलाता है कि वह अपनी माँ अथवा दाई को पहचानता है।

चौथे महीने पर उठाने के लिए शिशु पीठ खलाना सीख लेता है। कमरे से किसी के चले जाने पर कुछ देर तक उसकी गति को देखने का प्रयास करता है। वह किसी के मुस्कराने पर स्पष्टतः मुस्कराता है और मनुष्य के चेहरे पर ध्यान एकाग्रित कर सकता है। पाँचवें अथवा छठे महीने से क्रोध अथवा प्रेम की ध्वनि को शिशु समझने

लगता है क्रोध की ध्वनि पर वह रो सकता है और प्रेम पाने पर मुस्करा सकता है। अपने पास के व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अथवा उन्हें आनन्द देने के लिए ६ या ७ महीने का शिशु विभिन्न प्रकार की गतियाँ दिखला सकता है; जैसे, ऊपर-नीचे उछलना, करवटें बदलना, नाक सिकोड़ना, हाथ हिलाना या पैर फेंकना आदि। सातवें महीने पर घर के निकट लोगों को वह पहचानने लगता है। और बाहरी लोगों से भय दिखलाता है। आठवें या नवें महीने पर शिशु दूसरों की बोली का कुछ अनुकरण करने लगता है। बारहवें महीने पर मना करने पर कुछ करने से हाथ खींच लेता है। इस अवस्था में किसी बाहरी आदमी के आने पर रो कर उनके प्रति वह अरुचि दिखलाता है। दो साल की उम्र में शिशु बड़ों के साथ बहुत सहयोग दिखलाता है।

दूसरे शिशुओं के प्रति प्रतिक्रियायें (Reactions to other Children)—

चौथे अथवा पाँचवें महीने के पहले शिशु को दूसरे शिशु की उपस्थिति का प्रायः ज्ञान नहीं रहता। चौथे या पाँचवें महीने पर शिशु दूसरे शिशु को प्रथम वर्ष में देखकर मुस्कराता है अथवा उसकी ओर अपना हाथ फैलाकर उसमें अपनी रुचि का प्रकाशन करता है। आठवें या नवें महीने पर शिशु दूसरे शिशु के हाथ की वस्तु को छीनने का प्रयत्न कर सकता है; अथवा मित्रता के व्यवहार स्वरूप वह दूसरे शिशुओं को देख मुस्करा सकता है अथवा उन तक पहुँचने का प्रयत्न दिखला सकता है। नवें और तेरहवें महीने के बीच शिशु दूसरे शिशु के बाल पकड़ कर खींच सकता है अथवा उनके किसी व्यवहार या गति का अनुकरण कर सकता है। एक साल की अवस्था पर शिशु से जब दूसरा शिशु कोई वस्तु छीनता है तो दोनों में लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है अथवा क्रोध में शिशु रोने लगता है।

दूसरे वर्ष में अन्य शिशुओं के सम्बन्ध में शिशु के सामाजिक व्यवहार का विकास बड़ी तीव्र गति से चलता है। तेरहवें महीने से अठारहवें महीने के अन्तर्गत शिशु खिलौने के साथ रुचि रखते हुए खेल के लिए दूसरे साथी के लिए भी अपनी रुचि का विकास कर लेता है। दूसरे वर्ष के पूरा होते-होते शिशु की दूसरे शिशुओं में रुचि बढ़ जाती है। अब वह दूसरों के संग में खेलना चाहता है। वह दूसरों के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए खिलौनों को एक साधन मान लेता है। वह अपने साथियों के साथ खेलने के लिए अपने व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है।

प्रारम्भिक सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप (Some Forms of Early Social Behaviour)

दूसरे शिशुओं के साथ सम्पर्क में आने के कारण दूसरे वर्ष की अवस्था से

शिशु में सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप विकसित होने लगते हैं। अपने सामाजिक समूह का सदस्य होने के लिए वह अपने निकट समाज के विभिन्न प्रतिक्रियायें अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को सीखने का प्रयत्न करने लगता है। पहले वर्ष के अन्तर्गत मुस्कराना, चिल्लाना, किलकारियाँ मारना, सिर हिलाना अथवा प्यार में हाथ या अपने गाल बढ़ाना वह सीख लेता है। दूसरे वर्ष में जब शिशु स्वयं खाना, कपड़े पहनना, तथा खिलौने के साथ खेलना सीख लेता है तो वह अनुकरण के आधार पर दूसरे से विभिन्न बात सीखने लगता है।

दूसरे वर्ष की अवस्था में बच्चे अपरिचित व्यक्तियों से बहुत ही डरते हैं। इस प्रकार डरना उनके सामाजिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है।

दूसरे वर्ष में बच्चों में द्वेष (Rivalry) का भी विकास हो जाता है। खेल के सम्बन्ध में ही यह भावना बहुधा देखी जाती है। बच्चा दूसरे बच्चे से खिलौने छिन लेने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न वह इसलिए नहीं करता कि उसे खिलौने की आवश्यकता है, वरन् इसलिए कि दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाने में उसे आनन्द आता है। जिस बच्चे का खिलौना छिन जाता है वह रोता है। प्रौढ़ों से स्नेह पाने की होड़ में भी बच्चे एक दूसरे से द्वेष करते हैं।

प्रारम्भिक बचपन में सामाजिक व्यवहार (Social Behaviour in Early Childhood)

प्रथम छः वर्षों में बच्चे का सामाजिक विकास बड़ी द्रुत गति से होता है। इस अल्प काल में बच्चा वातावरण में अपने को कुछ व्यवस्थित कर लेता है। वह कुछ-कुछ सीख लेता है कि बड़े तथा छोटों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए। अतः जब वह स्कूल जाना प्रारम्भ करता है तो अन्य बालकों के साथ सामूहिक क्रियाशीलता में हाथ बटाना वह जानता है।

प्रौढ़ों के साथ सम्बन्ध का रूप—पाँच या छः वर्ष का हो जाने पर बच्चे को प्रौढ़ों के संग में उतना अच्छा नहीं लगता जितना कि पहले वे उनके संग को पसन्द करते थे। ज्यों-ज्यों बालक की उम्र बढ़ती है बड़ों में प्रौढ़ों से बातचीत उनकी रुचि घटती जाती है और अपने खेल के साथियों के लिए उनकी रुचि बढ़ती जाती है। बॉट^१ ने अपने अध्ययन में देखा कि प्रथम पाँच-छः वर्ष के बाद बच्चों और प्रौढ़ों के सम्बन्ध का प्रधान रूप बातचीत का होता है। बच्चे प्रौढ़ों से प्रायः बातचीत किया करते हैं और

^१ Bott, H.—Observations of Play Activities in a Nursery School, *Genet Psychol Mongr.* 4, 44-88, 1928.

कभी-कभी यह बातचीत इतनी ऊटपटांग होती है कि प्रौढ़ लोग उससे तंग भी आ जाते हैं ।

नर्सरी स्कूल में बालकों के अध्ययन में ब्रिजेज¹ ने देखा कि दो वर्ष की अवस्था में बच्चे सहायता के लिए प्रौढ़ों पर निर्भर रहते हैं । तीस वर्ष की अवस्था के लगभग वे बड़ों के प्रयत्न का कुछ विरोध करने लगते बड़ों के प्रभुत्व का विरोध हैं और अब वे स्वतन्त्र होना चाहते हैं । फलतः अब बच्चे पर नियन्त्रण रखना कुछ कठिन हो जाता है । चौथे अथवा पाँचवें वर्ष से उसमें सहकारिकता की भावना बढ़ने लगती है, और अब वह दूसरों से मिलकर खेलना अथवा काम करना सीखने लगता है । अब वह बड़ों से प्रशंसा पाने की कामना करने लगता है । उसका यह प्रयत्न होता है कि बड़े उसके काम की निन्दा न करें ।

अन्य बच्चों से सम्बन्ध का रूप—दो वर्ष के पहले बच्चे प्रायः अकेले ही खेलना पसन्द करते हैं । दूसरों के साथ एक ही स्थल पर खेलते हुए जान पड़ने पर भी दो वर्ष के बालक प्रायः अपने वैयक्तिक खेल में ही मस्त रहता है । इस तरह के खेल में विभिन्न बालकों में परस्पर-सम्बन्ध केवल एक दूसरे उम्र के साथ सामूहिकता के अनुकरण अथवा एक दूसरे को देखने का ही रहता है । तीसरे से चौथे वर्ष के अन्तर्गत बच्चे सामाजिक खेलों में कुछ अधिक भाग लेने लगते हैं । अब बच्चे अपनी रुचि के अनुसार अपने खिलाड़ियों का चुनाव करने लगते हैं । उम्र के साथ खेल-समूह का आकार बढ़ता रहता है ।

सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप—प्रारम्भिक सामाजिक सम्पर्क के फलस्वरूप बालक कुछ ऐसे सामाजिक व्यवहार सीख लेता है जो आगे चलकर उसके व्यवस्थापन में बड़ी सहायता करते हैं । अन्य बालकों के साथ सामाजिक प्रशंसा और निन्दा का ध्यान खेल के सम्बन्ध में बालक यह सीखता है कि समूह में अन्य बालकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए और अपनी वस्तुओं में दूसरों को कैसे हिस्सा देना चाहिए । दूसरों के भावों, शब्दों और क्रियाओं के अनुकरण से बालक अपने को दूसरों के समान बनाने का प्रयत्न करता है जिससे समूह के लोग उसे सहर्ष स्वीकार कर सकें । बच्चे को सामाजिक प्रशंसा और निन्दा का बड़ा ध्यान होता है । अतः वह वही कार्य करना चाहता है जिससे उसे सामाजिक प्रशंसा मिले ।

तीन वर्ष की अवस्था से बालकों के व्यवहार में कुछ अँकड़न देखी जाती

¹ Bridges, K. M. B.—Social and Emotional Development of the Pre-school Child, Kegan Paul, London, 1931.

है और अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी बात को मानना वे अस्वीकार कर देते हैं। उसके व्यवहार का यह रूप सामान्य समझना चाहिए, क्योंकि यह सभी बालकों में प्रायः पाया जाता है। चौथे साल के बाद इस अँकड़न में कुछ कमी आ जाती, क्योंकि बालक अब यह समझने लगता है कि प्रौढ़ों के कहने के अनुसार चलने में उसी का लाभ है। इस अँकड़न में कमी आने का यह भी कारण हो सकता है कि प्रौढ़ लोग भी बच्चे की इच्छाओं का आदर करना धीरे-धीरे आवश्यक समझने लगते हैं।

चौथे वर्ष की अवस्था से बालक में द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता की भावना विशेष देखी जाती है। द्वेष और प्रतिद्वन्द्वितावश बालक अपनी कोटि के अन्य बालकों से क्रियाशीलता तथा वस्तुओं के संकलन में बढ़ जाना चाहता है जिससे दूसरों से वह प्रशंसा प्राप्त करे।

छोटे बच्चे एक दूसरे के साथ खेलना चाहते हैं, परन्तु साथ ही, आपस में झगड़ा भी खूब करते हैं, क्योंकि खेल में सहयोग दिखलाने की प्रवृत्ति अभी उनमें ठीक से नहीं पाई जाती। झगड़े में बालक दूसरे का खेल अथवा वस्तुएँ बिगाड़ देता है, रोता है, चिल्लाता है अथवा दूसरों से लड़ाई करता है। जब घर में कोई नया खिलौना आता है और वह इतनी संख्या में नहीं है कि दूसरों को भी दिया जा सके तो उसके लिए बच्चों में झगड़ा अवश्य होता है। बच्चों में झगड़ा या आपसी मनमुटाव केवल थोड़ी ही देर के लिए होता है, फिर बाद में उनमें पूर्ववत् मित्रता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार झगड़ा और मित्रता बच्चों में साथ ही साथ चलती रहती हैं। छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चों में अधिक झगड़ा होता है, क्योंकि दूसरे बच्चों के सम्पर्क में वे अत्यधिक नहीं आते। ऐपेल¹ का कहना है कि दो वर्ष के बच्चों की अपेक्षा चार वर्ष के बच्चे अधिक देर तक झगड़ा करते रहते हैं और बड़े लड़के अपने झगड़ों में भय का प्रदर्शन अधिक करते हैं। भय में चिल्लाते हैं, शाब्दिक विरोध करते हैं या झगड़े के निपटारे के लिए बड़ों के पास आते हैं। बच्चे ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं उनका सामाजिक व्यवस्थापन होता जाता है और वे कम झगड़े करते हैं।

बच्चों के झगड़ों में लिंग-भेद भी पाया जाता है। ग्रीन² के अनुसार लड़के

¹ Appel, W. H.—Aggressive behaviour in nursery school children and adult procedures in dealing with such behaviour, *J. Exp. Ede.* 11, 185-199, 1942.

² Green, E. H.—Group play and quarreling among pre-school children, *Child Development*, 4. 302-307.

लड़कियों की अपेक्षा अधिक भगड़ा करते हैं, और बदला लेने की भावना उनमें अधिक होती है। लड़के भगड़ों में अधिक शारीरिक शक्ति लगाते हैं, अथवा मारपीट करते हैं और लड़कियाँ भगड़े में शाब्दिक तर्क और विरोध बहुत करती हैं।

भगड़ा करने के साथ-साथ कुछ लड़कों में दूसरों को तंग करने या चिढ़ाने की भी आदत होनी है। चिढ़ाने के लिए दूसरे के किसी दोष की ओर संकेत किया जाता है अथवा किसी उपनाम से उसे पुकारा जाता है। दूसरों को तंग करना तंग करने में चुटकी काटना, पिन चुभाना, बाल या कपड़े खींचना, धक्का देना, बैठते समय पीछे से कुर्सी खींच लेना या बैठने के पहले कुर्सी पर कोई ऐसी वस्तु रख देना जो बैठने पर शरीर में गड़े। इस प्रकार की शरारतें छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चे अधिक करते हैं। वस्तुतः बड़े बच्चे ही छोटे बच्चों को इस प्रकार परेशान करते हैं। लड़के लड़कियों से अधिक ऐसे व्यवहार दिखलाते हैं। जिन लड़कों का सामाजिक व्यवस्थापन, ठीक नहीं हुआ रहता है और जो 'आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि' (Inferiority Complex) के अभियुक्त रहते हैं वे ही दूसरों को इस प्रकार परेशान करते हैं।

सहयोग की भावना (Attitude of co-operation)—दो या तीन वर्ष के लगभग छोटा बच्चा प्रायः कुछ भगड़ावू होता है और उसे अपनी इच्छा पूर्ति की ही धुन रहती है। अतः इस अवस्था में दूसरे के साथ मेल से खेलना उसके लिये कठिन होता है। चौथे वर्ष के अन्त होते-होते बच्चा समूह में मेल से खेलना और रहना सीख लेता है और सामूहिक क्रियाशीलता में वह अपना बहुत समय बिताता है। दूसरे बच्चों के साथ रहने और खेलने का उसे जितना ही अधिक अवसर मिलता है वह उतना ही शीघ्र दूसरों के साथ सहयोग करना सीख लेता है।

दूसरों पर रोब जमाने की प्रवृत्ति प्रायः सभी छोटे बच्चों में पाई जाती है। दूसरों पर अपना रोब जमाने के क्रम में वे दूसरे बच्चों में इच्छित वस्तुओं को छीन लेते हैं, दूसरों से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं दूसरों पर रोब जमाना अथवा अपने साथियों के कुछ व्यवहार, जैसे खेल, पर नियन्त्रण रखने का प्रयास करते हैं। ऐण्डरसन¹ के अनुसार वही बच्चे प्रायः दूसरों पर रोब जमाने का प्रयत्न करते हैं जो अपने को अरक्षित समझते हैं। उसके अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में लड़कियाँ लड़कों से अधिक दूसरों पर रोब जमाने का प्रयत्न करती हैं। परन्तु किण्डरगार्टन स्कूल के बच्चों में उसने

¹ Anderson, H. H.—Domination and integration in the social behaviour of young children in an experimental play situation, *Genet. Psychol Monogr*, 19, 334-408, 1937.

इसका उलटा पाया। वहाँ उसे लड़कों में दूसरों पर रोब जमाने की प्रवृत्ति अधिक मिली। उसने देखा कि जब दो-दो लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ अलग-अलग खेलती हैं तो लड़कियाँ लड़कों पर रोब जमाने का प्रयत्न करती हैं।

सहानुभूति (Sympathy)—सहानुभूति एक प्रकार का सामाजिक व्यवहार है। सहानुभूतिवश एक बच्चा दूसरे बच्चे की अनुभूति का स्वयं अनुभव करता है।

मर्फी¹ ने अपने अध्ययन में देखा कि दो या तीन वर्ष के दूसरे की अनुभूति का स्वयं अनुभव बच्चे शरीर पर के उन साधारण घावों, सूजन और कष्ट को नहीं समझ पाते जिन्हें देख बड़ों का हृदय द्रवीभूत हो जाता है। दूसरों के साथ सहानुभूति दिखलाने के क्रम में दूसरों की सहायता करना, दुख के कारण को दूर करने का प्रयत्न करना, पुचकार कर सान्त्वना देना, जिसने दुख दिया उसको दण्ड देना, दुखी व्यक्ति की रक्षा करना, दुखी व्यक्ति के बारे में दूसरे से कहना, दुख के कारण को समझने के लिए दुखी व्यक्ति से प्रश्न पूछना तथा दुख को दूर करने के लिए सुझाव देना आदि बच्चे के व्यवहार में देखा जा सकता है। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जो दूसरे बच्चों के कष्ट में कोई सहानुभूति नहीं दिखलाते।

सहानुभूति-सम्बन्धी व्यवहार में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। वास्तविक उम्र (Chronological age) और मानसिक उम्र (Mental age) दोनों के विकास के साथ इसका विकास होता है। प्रथम दो या तीन वर्षों में लिंग-भेद लिंग-भेद नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु इसके बाद लड़कियों के व्यवहार में लड़कों की अपेक्षा प्रायः अधिक सहानुभूति होती है। मर्फी ने अपने अन्वेषण में देखा कि परिस्थिति के अर्थ को अच्छी तरह समझने पर ही सहानुभूति का दिखलाना सम्भव होता है। यदि बालक परिस्थिति को न समझ सका तो वह सहानुभूति दिखलाने में असमर्थ रहेगा।

सामाजिक स्वीकृति की अभिलाषा

(The Desire for Social Approval)

सामाजिक स्वीकृति की अभिलाषा सार्वलौकिक है। अतः एक छोटा शिशु भी चाहता है कि लोग उसी की ओर आकर्षित हों और उसकी क्रियाशीलताओं तथा कार्यों की प्रशंसा करें। चौथे या पाँचवें महीने की दूसरों का ध्यान अपनी अवस्था से शिशु की आत्म-चेतनता इस बिन्दु पर पहुँच जाती और आकर्षित करना है कि उसके लिए प्रकाशन की आवश्यकता होती है। बातचीत कर सकने के बहुत पहले ही बच्चा यह समझने लगता है कि वह दूसरों के आकर्षण और प्रशंसा का केन्द्र हो रहा है। जब दूसरे लोग उसकी विविध गतियों पर ध्यान देते हैं तो वह प्रसन्न होता है और जब उस पर

¹ Murphy, L. B.—Social Behaviour and Child Personality, Columbia University Press, New York, 1937.

कोई ध्यान नहीं देता तो वह दुःखी होता है। घर के लोग यदि उस पर बहुत ध्यान देते हैं तो बड़ा होने पर उसे कुछ निराशा का सामना करना होगा, क्योंकि बाहरी लोग उस पर उतना ध्यान नहीं दे सकते। ऐसा प्रायः एकलौते अथवा जेष्ठ बच्चों के सम्बन्ध में देखा जाता है। अपेक्षानुसार दूसरों का ध्यान आकर्षित न कर सकने पर बच्चे लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ नये उपायों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं।

विकास की प्रत्येक अवस्था के बच्चे की यह इच्छा बढ़ती जाती है कि लोग उसके कार्यों की प्रशंसा करें। प्रारम्भ में तो वह प्रौढ़ों से ही प्रशंसा की अपेक्षा करता है, परन्तु बाद में वह अपनी ही उम्र के अन्य बच्चों प्रशंसा पाने की इच्छा से भी प्रशंसा पाने की कामना करने लगता है। इस कामना की पूर्ति के लिए वह सभी सम्भव साधनों का सहारा लेता है और इसमें सफलता पाने पर उसके अन्दर का ठिकाना नहीं। अपने कार्यों से दूसरों को प्रभावित करने के क्रम में बच्चे कुछ ऐसे कार्य अवश्य कर जाते हैं जिनका प्रौढ़ लोग विरोध करते हैं और समाज निन्दा करता है। यदि बच्चे देखते हैं कि उसके कार्यों की प्रशंसा नहीं की जा रही है तो लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वे कुछ असामाजिक व्यवहार भी दिखलाते हैं।

बचपन के अन्तिम दिनों में सामाजिक व्यवहार (Social Behaviour During the Later Childhood)

टोली अवस्था (Gang age)—स्कूल जाने लगने से बच्चे के सामाजिक व्यवहार में क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है। अब वह अन्य बच्चों के सम्पर्क में आता है और इनका संग उसके लिये एक नया ही समाज होता है। अब घर के आस-पास केवल दो एक बच्चों के साथ व्यवहार में क्रान्तिकारी है। अब घर के आस-पास केवल दो एक बच्चों के साथ खेलना उसे अधिक पसन्द नहीं। माता-पिता अथवा बड़े भाई और बहिन के साथ सँर करने अथवा किसी समारोह में जाना उसे अधिक अच्छा नहीं लगता। उसे वैयक्तिक खेल के स्थान पर सामूहिक खेल अधिक अच्छे लगते हैं। बच्चे की यह टोली-अवस्था होती है। इस अवस्था में उसमें सामाजिकता का विकास बड़ी ही तीव्र गति से चलता है।

बालक अपनी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने समूह अथवा टोली का संगठन स्वयं करता है। प्रौढ़ों का समाज उसे जो देने में अपनी आवश्यकताओं असमर्थ होता है उसी को वह अपनी टोली से प्राप्त करना चाहता है। अपनी टोली के प्रभाव से सामाजिक व्यवहार-सम्बन्धी वह बहुत सी बातें सीखता है। ये सब बातें प्रौढ़ों के वातावरण में वह सरलता से नहीं सीख सकता।

छठे या सातवें वर्ष से बारहवें वर्ष तक का समय बचपन के अन्तिम दिन

कोई ध्यान नहीं देता तो वह दुःखी होता है। घर के लोग यदि उस पर बहुत ध्यान देते हैं तो बड़ा होने पर उसे कुछ निराशा का सामना करना होगा, क्योंकि बाहरी लोग उस पर उतना ध्यान नहीं दे सकते। ऐसा प्रायः एकलौते अथवा जेष्ठ बच्चों के सम्बन्ध में देखा जाता है। अपेक्षानुसार दूसरों का ध्यान आकर्षित न कर सकने पर बच्चे लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ नये उपायों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं।

विकास की प्रत्येक अवस्था के बच्चे की यह इच्छा बढ़ती जाती है कि लोग उसके कार्यों की प्रशंसा करें। प्रारम्भ में तो वह प्रौढ़ों से ही प्रशंसा की अपेक्षा करता है, परन्तु बाद में वह अपनी ही उम्र के अन्य बच्चों की प्रशंसा पाने की इच्छा से भी प्रशंसा पाने की कामना करने लगता है। इस कामना की पूर्ति के लिए वह सभी सम्भव साधनों का सहारा लेता है और इसमें सफलता पाने पर उसके अन्दर का ठिकाना नहीं। अपने कार्यों से दूसरों को प्रभावित करने के क्रम में बच्चे कुछ ऐसे कार्य अवश्य कर जाते हैं जिनका प्रौढ़ लोग विरोध करते हैं और समाज निन्दा करता है। यदि बच्चे देखते हैं कि उसके कार्यों की प्रशंसा नहीं की जा रही है तो लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वे कुछ असामाजिक व्यवहार भी दिखलाते हैं।

बचपन के अन्तिम दिनों में सामाजिक व्यवहार (Social Behaviour During the Later Childhood)

टोली अवस्था (Gang age)—स्कूल जाने लगने से बच्चे के सामाजिक व्यवहार में क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है। अब वह अन्य बच्चों के सम्पर्क में आता है और इनका संग उसके लिये एक नया ही समाज होता है। अब घर के आस-पास केवल दो एक बच्चों के साथ व्यवहार में क्रान्तिकारी है। अब घर के आस-पास केवल दो एक बच्चों के साथ परिवर्तन खेलना उसे अधिक पसन्द नहीं। माता-पिता अथवा बड़े भाई और बहिन के साथ सँर करने अथवा किसी समारोह में जाना उसे अधिक अच्छा नहीं लगता। उसे वैयक्तिक खेल के स्थान पर सामूहिक खेल अधिक अच्छे लगते हैं। बच्चे की यह टोली-अवस्था होती है। इस अवस्था में उसमें सामाजिकता का विकास बड़ी ही तीव्र गति से चलता है।

बालक अपनी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने समूह अथवा टोली का संगठन स्वयं करता है। प्रौढ़ों का समाज उसे जो देने में अपनी आवश्यकताओं असमर्थ होता है उसी को वह अपनी टोली से प्राप्त करना की पूर्ति के लिए चाहता है। अपनी टोली के प्रभाव से सामाजिक व्यवहार-सम्बन्धी वह बहुत सी बातें सीखता है। ये सब बातें प्रौढ़ों के वातावरण में वह सरलता से नहीं सीख सकता।

छठे या सातवें वर्ष से बारहवें वर्ष तक का समय बचपन के अन्तिम दिन

प्रायः कहे जाते हैं। इस काल में लड़के और लड़कियों को अपने लिंग के व्यक्तियों के साथ रहने में सन्तोष और सुख का बोध होता है। अकेले टोली का गहरा प्रभाव एक दिन भी रहना उन्हें बड़ा ही खलता है। बालक के जीवन पर टोली का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। ठीक और बुरे आचरण-सम्बन्धी धारणायें, पहनावे का ढङ्ग तथा खेल आदि के प्रकार बालक अपनी टोली से ही सीखता है।

टोली में लिंग भेद (Sex differences in gang)—लड़कियों को अपनी टोली में घूमने और रहने की उतनी स्वतन्त्रता नहीं होती जितनी कि लड़कों को होती है। अतः लड़कों के व्यवहार में समूह का अधिक प्रभाव कड़कियों को कम दिखलाई पड़ता है। बहुत सी लड़कियों को स्कूल के बाद गृहस्थी-सम्बन्धी कार्य करने होते हैं। अतः उन्हें अपने साथियों से मिलने का अवसर बहुत कम मिलता है। बहुत से माता-पिता अपनी लड़कियों को घर में ही रखना चाहते हैं, क्योंकि उनके अनुसार 'घर' ही लड़कियों के लिए अधिक उपयुक्त स्थान है। लड़कों को अपने खेल के आयोजन में बहुत से साथियों की आवश्यकता होती है। अतः अपने लिए एक टोली के आयोजन की वे चेष्टा करते हैं। इन सब कारणों से लड़कों के सामाजिक व्यवहार पर उनकी टोली का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

बाल-समूहों की कुछ विशिष्टतायें (Some characteristics of children's groups)—बाल-समूह की अपनी कुछ विशिष्टतायें होती हैं। बाल-समूह की रचि किसी संगठित खेल में होती है। समूह का प्रत्येक सदस्य समूह के लिए त्याग की अपने समूह के आदर्शों के लिए कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहता है। अपने समूह का सदस्य होने में वह एक प्रकार के गर्व का अनुभव करता है। समूह की क्रियाशीलताओं को वह औरों से गुप्त रखना चाहता है। जो उसके समूह का सदस्य नहीं होता उससे अपने को वह ऊँचा समझता है।

कभी-कभी कुछ समूहों का संगठन प्रौढ़ लोग भी करते हैं, जैसे स्काउट अथवा बालचर संघ। ऐसे संघ का आयोजन दूसरों की सहायता से कभी-कभी बालकगण स्वयं भी कर लेते हैं। पहले समूह छोटा होता है, परन्तु खेल-सम्बन्धी आवश्यकताओं के बढ़ने से बच्चे उसके आकार को बढ़ाने का भी प्रयत्न करते हैं। सामान्यतः बच्चों की टोली में छः से आठ सदस्य तक होते हैं।

समूह के सदस्य आपस में मिलने का स्थान पहले से ही निश्चित कर लेते हैं। जैसा वातावरण रहेगा और जैसे वातावरण के लड़के समूह के सदस्य होंगे उसी के अनुसार उनके मिलने का स्थान निश्चित होगा। उदाहरण-समूह के मिलने का स्थान; लड़के किसी सड़क के कोने, पार्क, खंडहर, सूने घर अथवा किसी खुले स्थान में मिलने का निश्चय करते हैं। लड़कियों पर अभिभावकों की सदा अधिक दृष्टि होती है।

अतः वे अपने समूह के किसी सदस्य के घर पर ही अथवा स्कूल में ही किसी स्थान पर अवकाश-काल में मिलना निश्चित करती हैं। इन सब स्थानों के चुनाव में लड़के और लड़कियाँ यह विशेष ध्यान रखती हैं कि उनके कार्यों में प्रौढ़ों द्वारा कोई हस्त-क्षेप न किया जाय और सब की रूचि के अनुसार किसी आयोजन के लिए पर्याप्त सुविधायें सुलभ हों। एक पूर्व योजनानुसार सभी सदस्य अपने-अपने लिए आवश्यक वस्तुओं को लाते हैं।

बच्चों के समूह की क्रियाशीलताएँ विविध प्रकार की होती हैं और इन क्रियाशीलताओं के प्रकार पर बालकों के माता-पिता के समाज का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बच्चों की सामूहिक क्रियाशीलताओं में नाटक, समूह की क्रिया-चाय पार्टी, सैर, पढ़ना, हाकी और फुटबाल आदि के खेल, शीलतायें कोई रचनात्मक कार्य, दूसरे समूह के सदस्यों तथा बड़े लोगों को चिढ़ाना, लड़ाई-भगड़ा करना, चोरी करना, जुआ खेलना तथा किसी वस्तु का पता लगाना आदि हो सकता है।

सामूहिक क्रियाओं में शिष्टता का प्रायः अभाव रहता है। लड़के प्रायः बहुत शोर मचाते हैं और उन कार्यों को करने का प्रयत्न करते हैं। जिनकी मनाही रहती है। समूह जो कुछ काम करना चाहता है उसी के अनुसार उसका सदस्य चलता है। अर्थात् बच्चे समूह के साथ कुछ देर के लिए आत्मसात कर लेते हैं। इस आत्मसात में उन्हें भले और बुरे की पहचान नहीं रहती।

ज्योंही बालक समूह में रहने की इच्छा का अनुभव करने लगता है वह अपने साथियों से प्रशंसा प्राप्त करने के प्रयत्न में भी रहने लगता है। अपने पहनावे, भाषा तथा व्यवहार के बारे में अपने साथियों के राय पर समूह के आदर्शों का वह विशेष ध्यान देता है। यदि घर के आदर्शों और उसके समूह के आदर्शों में कोई विरोध दिखलाई पड़ता है तो बालक अपने समूह के ही आदर्शों की ओर झुकता है, क्योंकि इस अवस्था में घर के लोगों से प्रशंसा प्राप्त करने की अपेक्षा समूह से प्राप्त प्रशंसा को वह अधिक मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण समझता है।

सामाजिक प्रशंसा और निन्दा का बालकों के व्यवहार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वार्डेन और कोहेन¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि सामाजिक प्रशंसा और प्रशंसा और निन्दा के प्रभाव स्वरूप बच्चे अपने कार्यों को निन्दा अधिक कुशलता से करने का प्रयत्न करते हैं।

निर्देश योग्यता (Suggestibility)—इस काल में लड़के निर्देश के प्रभाव में

¹ Warden, C. J. and Conhen, A.—A study of certain incentives applied under school room conditions, *Journal of Genetic Psychology*, 39, 320-327, 1931.

जितने आ जाते हैं उतने अधिक कदाचित् अपने जीवन में फिर कभी नहीं आते । अपने समूह को स्वीकृत होने की उत्कट इच्छा के कारण समूह के अन्य सदस्यों अथवा नेता द्वारा दिये गये निर्देशों को बच्चे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं ।

जब बालक अपने समूह के नेता के सुझावों को मानने लगता है तो अपने घर के प्रौढ़ों की आज्ञाओं का उल्लङ्घन करने की उसमें एक प्रवृत्ति आ जाती है । आज्ञा के उल्लङ्घन की यह प्रवृत्ति उन बालकों में अधिक होती है नेता के निर्देशों का पालन जो अपने समूह के निर्देशों को अत्यधिक स्वीकार करते हैं । बड़ों से आये हुए जिन निर्देशों को बालक अस्वीकार करता है उन्हीं को यदि कोई उसका साथी देता है तो बिना तर्क के उन्हें वह स्वीकार कर लेता है । जिन बातों को न करने के लिए उससे कहा जाता है उन्हीं को वह प्रायः करने का प्रयत्न करता है ।

द्वेष और प्रतियोगिता (Rivalry and Competition)—इस अवस्था में बालक भाँति-भाँति के खेलों में भाग लेता है । अतः उसमें द्वेष और प्रतियोगिता की भावना का आना स्वाभाविक है । इस भावनावश कुछ अरुचिकर खेलों और कार्यों में भी बालक भाग लेता है । प्रतियोगिता की भावना बालक के लिये बड़ी ही प्रेरक होती है ।

सहानुभूति (Sympathy)—सहानुभूति का वास्तविक रूप बालक के जीवन में इसी काल में दिखलाई पड़ता है, क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों को समझना अब उसके लिए पहले से सरल हो जाता है । परन्तु सहानुभूति सच्चा रूप कैंशोर में ही का उत्कृष्ट रूप कैंशोर में अर्थात् १४वें या १५वें वर्ष के बाद ही बालक में मिलता है । अतः इस काल में भी बालक दूसरों को कभी-कभी चिढ़ाने या तंग करने में आनन्द का अनुभव करता है । छोटे बच्चों, जानवरों तथा नौकरों को आवेश में वह मार दिया करता है । राइट^१ ने अपने अन्वेषण में देखा कि बच्चों का ६८ प्रतिशत अपने परिचित साथियों की अपेक्षा अन्य अपरिचित बच्चों के प्रति अधिक सहानुभूति दिखलाते हैं । जब उनसे अपरिचितों के प्रति सहानुभूति क्यों दिखलाने का कारण पूछा गया तो उन्होंने प्रायः यही उत्तर दिया कि (१) वे अपने मित्र की परिधि बढ़ाना चाहते हैं तथा (२) वे अपरिचित और मित्र के बीच सामाजिक असमानता को दूर करना चाहते हैं ।

दसवें, ग्यारहवें अथवा बारहवें वर्ष की अवस्था पर लड़के और लड़कियों में प्रायः विरोध देखा जाता है । इस विरोध में लड़के अधिक प्रमुख पाये जाते हैं ।

^१ Wright, B. A.—Altruism in children and the perceived conduct of others, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 37, 218-233, 1942.

लड़कियों को अपने से छोटा समझने की लड़कों में एक प्रवृत्ति देखी जाती है। लड़कों की इस प्रवृत्ति के कारण लड़कियाँ लड़कों से अप्रसन्न रहती हैं और अवसर पर उनकी निन्दा करती हैं। इस प्रकार लड़के और लड़कियों में विरोध उनमें एक दूसरे के लिए सहानुभूति नहीं रहती है।

बच्चों पर सामूहिक जीवन का प्रभाव—सामूहिक जीवन से बच्चे अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की आदतें सीखते हैं। समूह में रहने से बालक बहुत सी सामाजिक बातें सीखता है। वह जानने लगता है कि दूसरों के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करना क्यों आवश्यक है। दूसरों के लिए सहयोग करना तथा अपनी इच्छाओं और गतियों पर आवश्यक नियन्त्रण रखना समूह में रहने के कारण बालक सीख लेता है। साथ ही, उसमें साहस, आत्म-नियन्त्रण, न्याय-बुद्धि, धैर्य, भक्ति, ईमानदारी तथा नेता की आज्ञा का पालन करना आदि अच्छी आदतें उसमें आती हैं। ये सब आदतें उसके प्रौढ़ जीवन में सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

उपर्युक्त अच्छी आदतों के अतिरिक्त बच्चों में सामूहिक जीवन से कुछ बुरी आदतें भी पड़ती हैं, जैसे गाली देना, गन्दे मजाक करना, गन्दी कहानियाँ कहना, अव्यवस्थित आचरण दिखलाना, घर से भाग जाना, राज-नियम के विरुद्ध व्यवहार की प्रवृत्ति अपनाना, घर के बन्धनों को तोड़ टोली के सिद्धान्तों को अपनाना तथा वर्षों से स्थापित कुटुम्ब के आदर्शों के विरुद्ध जाना, आदि-आदि।

विरोधात्मक काल (Negative Phase)

कैशोर (Adolescence) आने के थोड़ा पहले—लड़कियों में १३वें वर्ष और लड़कों में १४वें वर्ष के लगभग कुछ असामाजिक व्यवहार दिखलाने की प्रवृत्ति आ जाती है। भाग्यवश यह प्रवृत्ति बहुत दिन तक नहीं चलती। लड़कियों में केवल तीन-चार महीने और लड़कों में इससे कुछ अधिक समय तक यह प्रवृत्ति रहती है। तरुणावस्था (Puberty) के प्रारम्भ होते-होते इस प्रवृत्ति का लोप हो जाता है।

इस समय लड़के और लड़कियाँ दोनों दूसरों के शब्दों का गलत अर्थ लगाते हैं और सोचते हैं कि उनके पहले के मित्र अब शत्रु हो रहे हैं और जो पहले प्रेम से बोलते थे वे ही अब कटु शब्द बोलते हैं। इस भावना के कारण वे अपने घर, माता-पिता तथा समाज को बहुधा निन्दा करते हैं। किसी कार्य में हाथ बटाने के लिए कहा जाता है तो वे इसका विरोध करते हैं। यदि उनकी भलाई के लिए भी कुछ कहा

जाता है तो उसमें वे सन्देह करते हैं। अतः वे अपने पुराने मित्रों का साथ छोड़ने का प्रयत्न करने लगते हैं और अपने अवकाश-काल को अकेले ही बिताना चाहते हैं। वे अपने समय को पढ़ने अथवा हवाई किला बाँधने में बिताने हैं। अकेले रहने में वह यह धारणा बनाने लगता है कि उसे कोई प्यार नहीं करता और उसके जीवन में अब कोई रस नहीं है। उसकी इस प्रकार भावना उसकी विशिष्ट शारीरिक अवस्था ही के कारण आती है। बारहवें या तेरहवें वर्ष के लगभग लड़के और लड़कियों की शारीरिक शक्ति कुछ कम हो जाती है। मनोवैज्ञानिकों का अनुमान है कि उनमें शारीरिक शक्ति की इस कमी का आना उनमें काम-सम्बन्धी प्रौढ़ता (Sexual Maturing) के आने का स्वाभाविक परिणाम है। अपने पुराने साथियों के साथ कठिन परिश्रम वाले खेलों में वह अब सरलता से भाग नहीं ले सकता, अतः अपने समय को बिताने के लिए वह कुछ नई रुचियों का विकास करता है।

असामाजिक व्यवहार के कारण (Causes of Unsocial Behaviour)—
मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि लड़के और लड़कियों में असामाजिक प्रवृत्ति आने के दो प्रधान कारण होते हैं—(१) बुरा स्वास्थ्य, और बुरा स्वास्थ्य और बुरा वातावरण। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, वातावरण पूर्व कौशोर में व्यक्ति का स्वास्थ्य साधारणतः गिर जाता है। स्वास्थ्य के गिर जाने पर प्रायः सभी लोग असामाजिक रूप में कुछ व्यवहार दिखलाते हैं। अतः लड़के और लड़कियों के लिए भी असामाजिक व्यवहार दिखलाना स्वाभाविक ही है। घर की बुरी दशा, माता-पिता का बच्चे की परिस्थिति को न समझना, वातावरण में आये हुए परिवर्तनों को बच्चे का न समझना, उपयुक्त पौष्टिक भोजन का अभाव तथा घर के तथा स्कूल के अत्यधिक कार्य आदि सभी लड़के और लड़कियों की मानसिक स्थिति को पूर्व कौशोर में अप्रिय बनाते हैं। बुरी आर्थिक स्थिति वाले लड़के और लड़कियों पर इन सब परिस्थितियों का अच्छी आर्थिक स्थिति वालों की अपेक्षा प्रायः अत्यधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

साथियों का चुनाव

(Selection of Companions)

शैशव में (During Infancy)—शैशव में भी बालक में किसी साथी के पाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। एक वर्ष वाले बच्चे को भी देखा जाता है कि उसने किसी न किसी को अपना मित्र बना लिया है। इसीलिए तो वह साथी पाने की प्रवृत्ति किसी को अधिक चाहता है और किसी को कम, क्योंकि यह देखा जाता है कि किसी के यहाँ जाने की वह इच्छा प्रकट करता है और किसी के यहाँ जाने का वह विरोध करता है। जो व्यक्ति उसकी परिचर्या करते हैं और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहते हैं उन्हें वह अधिक चाहता है। प्रायः पहले या दूसरे वर्ष तक शिशु के साथी प्रौढ़ ही लोग होते हैं, क्योंकि वे उसकी केवल स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं करते,

वरन् उसके साथी बनकर उसके साथ खेलते भी हैं। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि जैसे बड़े बच्चे अपने खिलौने से खेलते हैं वैसे ही प्रौढ़ लोग अपने छोटे बच्चों से भी खेलते हैं।

बचपन में (During Childhood)—बचपन में अर्थात् तीसरे वर्ष से पाँचवें या छठे वर्ष तक बच्चों के साथी घर के प्रौढ़ लोग और पड़ोस के कुछ छोटे बच्चे होते हैं। इस समय घर और निकट पड़ोस ही बच्चे का स्कूल जाने से मित्रों सामाजिक वातावरण होता है। जब वह स्कूल जाना प्रारंभ का बढ़ना करता है तो उसके मित्रों का घेरा कुछ बढ़ता है और विभिन्न बालकों में से अपनी इच्छानुसार वह कुछ साथियों को चुन सकता है। वस्तुतः इसी समय दूसरे बच्चों के साथ खेलने की रुचि उसमें उत्पन्न होती है।

साथियों के चुनाव में बड़े बच्चे अपनी निर्णय-शक्ति का उपयोग करते हैं। छोटे बच्चे तो जो भी बच्चा मिला उसी के साथ खेलना प्रारम्भ कर देते हैं। परन्तु बड़े बच्चे कुछ कसौटी के अनुसार अपने साथियों का चुनाव साथियों से चुनाव के करते हैं। इस कसौटी में उम्र (Age), बुद्धि (Intelligence) तथा खेलने की कला (Art of playing) के नाम लिये जा सकते हैं। प्रारम्भ में साथियों के चुनाव में लिंग (Sex) पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसलिए लड़के और लड़कियाँ दोनों एक दूसरे के साथ हो जाते हैं।

प्रायः बच्चे उसी को अपना साथी बनाते हैं जो उनके साथ अच्छी तरह खेल सकते हैं अथवा कुछ अन्य काम कर सकते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति बहुत दिन तक बच्चों के साथी नहीं रहते, क्योंकि वे बहुत दिन तक उसके साथी खेल में अच्छे होने से नहीं रह सकते। जब तक लड़कियाँ लड़कों के साथ खेल साथी चुना जाना सकती हैं तब तक उनसे लड़के अपने खेल के साथी चुनते रहते हैं। अच्छे साथी सिद्ध होने पर लड़के दूसरे लड़कों द्वारा साथी के रूप में स्वीकार कर लिये जाते हैं और उनके चुनाव में लिंग, धर्म तथा आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता।

बच्चे का वातावरण प्रायः बड़ा सीमित होता है। अतः निकट के पड़ोस से ही उन्हें अपने साथियों का चुनाव करना होता है। यदि पड़ोस के बच्चों में उसकी रुचि का कोई साथी न मिला तो वह या तो अपने स्वभाव उम्र, घर का वातावरण में आवश्यकतानुसार परिवर्तन लाने का प्रयत्न करेगा तथा लिंग का प्रभाव जिससे वह पड़ोस के बच्चों के साथ खेल सके; अथवा वह एकदम अलग ही रहकर काल्पनिक साथियों का मन ही मन

सृजन कर उनके साथ कल्पना में अपनी इच्छानुसार खेलता है। पार्टन¹ ने अपने अध्ययन में देखा कि साथियों के चुनाव में बुद्धि-लब्धि उतना प्रभाव नहीं डालती जितना कि उम्र और घर के वातावरण का पड़ता है। हैगमैन² ने अपने अन्वेषण में देखा कि चार साल के बच्चे अपने साथियों के चुनाव में अपने ही लिंग के बच्चों को ओर अधिक भुक्तते हैं, परन्तु दो साल के बच्चों में इस प्रकार की कोई प्रवृत्ति न पाई गई। कोच³ ने अपने एक अन्वेषण में नर्सरी स्कूल के कुछ गोरे और नीग्रो बच्चों को लड़के और लड़कियों के जोड़े-जाड़े चित्र दिखलाकर अपने साथियों को चुनने के लिए उनसे पूछा। उसने देखा कि साथियों के चुनाव में बच्चे पहले लिंग (Sex factor) पर, तब वे इसके बाद जाति (Race factor) पर ध्यान देते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि बच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं उनमें अपने ही लिंग के साथियों को चुनने की प्रवृत्ति दृढ़ होती जाती है।

काल्पनिक साथी (Imaginary Companions)—कुछ कारणों वश जिन बच्चों के साथी नहीं होते वे मन ही मन कुछ साथियों की कल्पना कर लेते हैं। बच्चे के लिये ये काल्पनिक साथी वास्तविक होते हैं, क्योंकि वे बच्चों के लिये वास्तविक मन ही मन उनके शारीरिक लक्षणों तथा विविध कार्य करने के लिए गुणों की भी कल्पना कर लेते हैं। इन काल्पनिक साथियों के साथ खेलने में बच्चों को बड़ा आनन्द आता है। कुछ मनो-वैज्ञानिकों की धारणा है कि जिन बच्चों को अपने माता-पिता का समुचित प्यार नहीं मिलता वे भी काल्पनिक साथियों के साथ खेलते हैं। प्रतिभाशाली बच्चों की आवश्यकतायें अधिक होती हैं। अतः सुव्यवस्थित वातावरण पाने पर भी काल्पनिक साथियों के साथ मन ही मन खेलने की उनकी प्रवृत्ति होती है।

जो बच्चे काल्पनिक साथियों के साथ इस प्रकार मन ही मन खेलते हैं उन पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। काल्पनिक साथी आज्ञाकारी और दम्बू होता है। अतः बच्चे में प्रभुत्व दिखलाने की प्रवृत्ति आ जाती है। **काल्पनिक साथियों** के जब वह बाद में वास्तविक साथियों के साथ खेलता है, तो साथ खेलना अच्छा नहीं इस प्रवृत्ति के कारण उसे बड़ी अड़चन उठानी पड़ती है, क्योंकि अब वह देखता है कि परिस्थिति पर वह नियन्त्रण नहीं रख सकता, क्योंकि दूसरे बच्चे उसके प्रभुत्व को स्वीकार करने लिए तैयार नहीं

¹ Parten M. B.—Social play among Pre-school Children, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 28, 136-147, 1933.

² Hagman, E P.—The Companionships of Pre-school Children, *University of Iowa study of child welfare*. 7, No. 4, 1933.

³ Koch, H. L.—A study of some factors conditioning the social distance between the sexes, *Journal of Social Psychology*, 20, 107, 1944.

होते। फलतः वह समूह का एक अव्यवस्थित सदस्य हो जाता है। इसी स्थिति के कारण उसे अपने व्यवहार में परिवर्तन लाना होगा और इसमें असफल होने पर वह फिर अपने काल्पनिक साथियों की ओर वापस आ जाता है, क्योंकि उनके साथ खेलना उसके लिए अधिक सरल और आनन्ददायक होता है।

बच्चे के व्यक्तित्व विकास में काल्पनिक साथियों का एक महत्त्व जान पड़ता है, क्योंकि उनकी सहायता से बच्चा अपने को समाज में काल्पनिक साथियों व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। जब इन काल्पनिक का महत्त्व साथियों की उसे आवश्यकता नहीं होती तो वह उनका संग छोड़ देता है।

बच्चों के काल्पनिक साथियों के सम्बन्ध में कई मनोवैज्ञानिक अन्वेषण किए गए हैं। इनसे यह पता चलता है कि लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा काल्पनिक साथियों से अधिक खेलती हैं और उनके लिए ये काल्पनिक साथी पाँचवें या छठे वर्ष तक अधिक वास्तविक होते हैं। उत्कृष्ट बुद्धि के बच्चों, एकलौते इसकी प्रवृत्ति बच्चों तथा उन भाई-बहिनों में—जिनकी उम्र में बहुत अन्तर रहता है—काल्पनिक साथियों के साथ खेलने की अधिक प्रवृत्ति होती है। टरमन¹ ने अपने अध्ययन में देखा कि प्रतिभाशाली बच्चों के किसी न किसी समय काल्पनिक साथी अवश्य रहते हैं। तीन वर्ष की अवस्था के लगभग बच्चे काल्पनिक साथियों के साथ खेलना प्रारम्भ करते हैं; और पाँचवें या छठे वर्ष के हो जाने पर उनकी यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे चली जाती है, क्योंकि तब स्कूल जाने पर उन्हें वास्तविक साथी मिल जाते हैं।

काल्पनिक साथी प्रायः छोटे-छोटे लड़के और लड़कियों के ही रूप में होते हैं। बच्चे काल्पनिक साथियों में प्रौढ़ों, परियों तथा पशुओं को प्रायः स्थान नहीं देते। काल्पनिक साथी कभी-कभी बच्चे के ही लिंग के और कभी-भिन्न लिंगीय व्यक्तियों कभी भिन्न-लिंगीय भी होते हैं। बच्चा अपने काल्पनिक का चुनाव क्रम साथी का एक नाम रख देता है। उससे वह बातचीत करता है और जहाँ जाता है उसे वह अपने साथ लिए जाता है। बच्चा अपने काल्पनिक साथी के साथ इस प्रकार खेलता है, मानो वह वस्तुतः कोई दूसरा बच्चा ही है। जेरसिल्ड² ने अपने अन्वेषण के क्रम में ५ से १२ वर्ष के बच्चों से उनके काल्पनिक साथियों के सम्बन्ध में पूछा। बच्चों का प्रायः ३३ प्रतिशत

¹ Terman, L. M.—Genetic Studies of Genius, Stanford University, Stanford University Press, Vol. 1925.

² Jerseld and others—Children's fears, dreams, wishes, day-dreams, likes, dislikes, pleasant and unpleasant memories—*Child Development Monogram.*, No. 12, 1933.

ने अपने काल्पनिक साथियों के लक्षणों और गुणों का स्पष्टतः विवरण दिया। लड़कियों ने अपने काल्पनिक साथियों में बालकों का जितना नाम बतलाया उतना लड़कों ने लड़कियों के नाम नहीं बतलाये। परन्तु जेरसिल्ड ने प्रधानतः यही देखा कि काल्पनिक साथियों में भिन्न-लिंगीय व्यक्तियों का चुनाव कम किया जाता है।

बचपन के अन्तिम दिनों में साथियों का चुनाव—जब बच्चा स्कूल जाने लगता है तो साथियों के चुनाव में वह कुछ नई कसौटियों के अनुसार चलता है; परन्तु इन नई कसौटियों में उसकी कुछ पुरानी कसौटियाँ पड़ोस की निकटता भी मिली रहती हैं। साथियों के चुनाव में बच्चे सर्वप्रथम पड़ोस के निकट पर ध्यान देते हैं। इसके विपरीत किशोर अथवा प्रौढ़ लोग एक दूर स्थान से भी अपने साथी को चुन सकते हैं। अपने निकट के पड़ोस से अपने लिङ्ग, अपने ही आकार के तथा शारीरिक उन्न, मानसिक उन्न, सामाजिक प्रौढ़ता तथा रुचियों वाले बच्चे को साथी के रूप में वह चुनता है। इन सब बातों में मानसिक उन्न तथा सामाजिक प्रौढ़ता पर विशेष ध्यान देता है। बॉनी¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि अपने मित्रों के चुनाव में बच्चे बुद्धि तथा शैक्षिक सफलता को अधिक महत्त्व देते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बच्चे को उस स्कूल तथा पड़ोस में रखना चाहिए जहाँ उसे समान बुद्धि तथा शैक्षिक सफलता के अधिक से अधिक साथी मिल सकें।

बचपन के अन्तिम दिनों में प्रायः लड़कों में अपने भिन्न-लिंगीय व्यक्तियों अर्थात् लड़कियों से अरुचि होती है। अतः आश्चर्य नहीं जब बच्चे अपने ही लिङ्ग से व्यक्तियों को बहुधा अपना साथी चुनते हैं।

बचपन के अन्तिम दिनों में साथियों के चुनाव में बच्चे सामाजिक और आर्थिक भिन्नता पर विशेष ध्यान नहीं देते। जब तक कोई दबाव न डाला जाय बच्चे अपने मित्रों के चुनाव पर जाति और धर्म पर भी ध्यान नहीं देते। यदि बच्चे अपने साथियों के व्यवहार सन्तोषजनक पाते हैं तो दूसरे समूह से अरुचि जाति और धर्म का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं है। परन्तु अपने साथियों के चुनाव में दूसरे पड़ोस, दूसरे स्कूल तथा दूसरे समूह पर बच्चे अवश्य ध्यान देते हैं, क्योंकि इन दूसरे स्थानों के बच्चों को वे पराया समझते हैं।

बहुत मन्द अथवा अति प्रतिभाशाली लड़के प्रायः किसी समूह के सदस्य नहीं हो पाते। अतः उन्हें अपना समय अकेले ही बिताना पड़ता अति मन्द और अति है अथवा उनके कोटि के उन्हें बहुत ही कम साथी मिलते प्रतिभाशाली को कम हैं। मन्द बालक समूह के कार्यों में पर्याप्त भाग नहीं ले साथी पाता। अतः अन्य बालक उसका स्वागत नहीं करते। इसके

¹ Boney, M. E.—A sociometric study of the relationship of some factors to mutual friendships on the elementary, secondary and college levels. 9, *Sociometry* 21-47, 1946.

विपरीत अति प्रतिभाशाली बालक समूह की साधारण क्रियाशीलताओं से बड़ा शीघ्र ऊब जाता है और वापस चला आता है ।

नेतृत्व (Leadership)

बच्चों के किसी भी समूह में परस्पर का व्यवहार समानता का नहीं दिखलाई पड़ता, चाहे कितने ही छोटे बच्चों का समूह क्यों न हो ।
प्रत्येक समूह का एक नेता उनमें एक ऐसा अवश्य होता है जो दूसरों का नेतृत्व करता है । प्रसिद्धि और नेतृत्व दोनों साथ-साथ नहीं चलते । एक व्यक्ति प्रसिद्ध होते हुए भी नेता नहीं हो सकता । इसके विपरीत एक नेता सदा प्रसिद्ध होता है और समूह के अधिकांश लोग उसे मानते हैं ।

नेतृत्व का पहला चिह्न (The first sign of leadership)—किसी भी दो खेलते हुये बच्चों में से किसी एक में नेतृत्व के कुछ लक्षण देखे जा सकते हैं । जो बच्चा कुछ बली होता है अर्थात् जिसमें नेतृत्व करने के कुछ **प्रथम वर्ष में** गुण होते हैं वह अपनी इच्छानुसार खिलौने के ढेर से एक खिलौने को पहले उठा लेता है । यदि उसे पसन्द आया हुआ खिलौना किसी दूसरे बच्चे के पास है तो उसे छीनने के लिए वह उसे धक्का देता है, मारता है अथवा वकोटता है । दसवें या ग्यारहवें महीने की उम्र के लगभग बच्चे को इन सब कार्यों में अपनी सफलता का प्रायः ज्ञान हो जाता है, और किसी वस्तु को छीनने में सफलता पाने पर वह प्रसन्नता की एक मुद्रा दिखलाता है । जिस बच्चे से खिलौना छिन जाता है वह रोकर अपना दुःख प्रकट करता है । जब आठ-दस महीने के दो बच्चे एक साथ रख दिये जाते हैं तो वे एक दूसरे के सन्निकट आकर एक दूसरे की वस्तु को लेना चाहते हैं अथवा एक दूसरे को धक्का देते हैं । उनमें जो दूसरे से बली होता है वही दूसरे पर अपना रोब जमाता है ।

बचपन के प्रारम्भिक दिनों में नेतृत्व (Leadership During Early Childhood)—जिस बच्चे में नेतृत्व करने के गुण होते हैं वह अन्य बच्चों से स्वभावतः बुद्धि, आकार और उम्र में श्रेष्ठ होता है । बुद्धि, नेता, बुद्धि, आकार और आकार तथा उम्र में बड़े रहने से वह खेल के लिए अधिक **गुण में बड़ा** सुभाव दे सकता है । इसलिए दूसरे बच्चे उसका अनुसरण करने के लिये तैयार हो जाते हैं । तीसरी अथवा चौथी अवस्था तक नेता के चुनाव में बच्चे लिंग पर ध्यान नहीं देते । इस अवस्था में प्रायः लड़कियाँ लड़कों का अधिक नेतृत्व करती हैं । इस अवस्था में नेतृत्व के लिए शारीरिक सौन्दर्य, सामाजिक और आर्थिक स्थिति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं समझी जाती जितना कि बाद में समझा जाता है । ईमानदारी और समूह के प्रति उत्तर-दायित्व का निभाना नेतृत्व करने के लिए बच्चे में आवश्यक गुण माने जाते हैं ।

प्रारम्भ में बच्चा दूसरों पर अपना रोब जमाने के लिये उन्हीं साधनों को अपनाने का प्रयत्न करता है जिन्हें वह प्रौढ़ों के लिए अपनाता है; जैसे—चिल्लाना, रोना तथा मारना आदि। उसे जल्दी ही यह ज्ञात हो बच्चा-नेता में कड़ाई की जाता है कि इन विधियों से उसे सफलता न मिलेगी। अतः प्रवृत्ति इनमें वह परिवर्तन करने की चेष्टा करता है। इस काल के नेता में अपने समूह पर कड़ाई दिखलाने की प्रवृत्ति रहती है। बच्चा-नेता अपने समूह के अन्य व्यक्तियों को इच्छाओं और भावनाओं पर विशेष ध्यान नहीं देता। वह चाहता है कि समूह के अन्य बच्चे बिना कुछ विरोध किये उसकी इच्छा के अनुसार चलें। यदि वे उसका अनुसरण नहीं करते तो वह क्रोध दिखलाता है अथवा समूह से उन्हें निकालने का प्रयत्न करता है। यदि बच्चा-नेता अपने व्यवहार में बड़ा निरंकुश हो जाता है तो दूसरे उसे पदच्युत करके अपना दूसरा नेता चुन लेते हैं।

पार्टेन¹ ने नर्सरी स्कूल के बच्चों सम्बन्धी अपने अन्वेषण में दो प्रकार के नेताओं को पाया। एक प्रकार का बच्चा-नेता वह होता है जो बड़ी कुशलता और नोतिपूर्वक प्रयत्न रूप से अपने सुभावों के अनुसार दूसरों से कार्य करा लेता है; और दूसरे प्रकार का बच्चा-नेता वह है जो डाँट-डपट तथा मार-पीटकर अपने एक छोटे दल को अपने नियन्त्रण में करने का प्रयत्न करता रहता है।

बचपन के अन्तिम दिनों में नेतृत्व (Leadership during later childhood)— बचपन के अन्तिम दिनों में बच्चा नेता समूह के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता है। इस समय नेता होने के लिए बच्चे का एक कुशल खिलाड़ी बच्चा-नेता के गुण होना आवश्यक है। इस समय कुछ गुणों को हृदयङ्गम करने की बच्चों में उत्कट इच्छा होती है। ये गुण जिस बच्चे में सबसे अधिक पाये जाते हैं उसी को दूसरे अपना नेता स्वीकार करते हैं। समूह के बच्चे जिन गुणों की प्रशंसा करते हैं, यदि उन गुणों के विपरीत नेता आचरण दिखलाता है तो उसे पदच्युत कर दिया जाता है और उसके स्थान पर कोई दूसरा बच्चा-नेता चुन लिया जाता है। बच्चा-नेता के गुणों को पहचानने के लिए कई अन्वेषण किये गये हैं। इन गुणों में उम्र की श्रेष्ठता, कद में ऊँचाई, खेल में सर्वोत्तम, सबसे अच्छा लड़ने वाला, नेतृत्व करने की इच्छा, अच्छा स्वभाव, झगड़े में निर्णय करने का गुण, उदार हृदय, पढ़ने में अच्छा, स्फूर्तिवान तथा खेल का प्रारम्भ कर सकना आदि के उल्लेख किये जा सकते हैं।

¹ Parten, M. B.—Leadership among pre school children, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 27, 430-440, 1933.

सामाजिक प्रसिद्धि (Social Popularity)

अपने वातावरण में सुव्यवस्थापन के लिये सामाजिक प्रसिद्धि पाना बच्चे के लिए बड़ा आवश्यक है। सामाजिक प्रसिद्धि का तात्पर्य अपने समूह के दूसरे बच्चों द्वारा प्रशंसा और मान्यता पाने से है। जो बच्चा जितनी सुव्यवस्थापना के लिए प्रशंसा और मान्यता पाता है वह अपने को वातावरण में उतना ही अधिक सुव्यवस्थित कर पाता है।

वातावरण में सुव्यवस्थापन पर व्यक्तित्व का वांछित विकास सम्भव है। जो बच्चा अपने समूह में प्रसिद्ध होता है वह अच्छे सामाजिक गुणों का अपने में विकास करता है। जो बालक सामाजिक प्रसिद्धि नहीं पाता वह अपने को एक प्रकार से बहिष्कृत समझता है और उसका व्यक्तित्व विकास कुण्ठित हो जाता है।

प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक गुण विकास की अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि बचपन तक के लिए कुछ गुण उसी प्रकार स्थिर समझे जा सकते हैं, जैसे प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए गुण

कँशोर अथवा प्रौढ़ावस्था के लिए कुछ गुण स्थिर होते हैं। किसी बच्चे की समूह के लिए प्रसिद्धि उसके वास्तविक कार्यों पर निर्भर करती है। 'क्या वह नहीं करता'—इस पर उसकी प्रसिद्धि निर्भर नहीं। कुछ शारीरिक दोषों के होते हुए भी बच्चा यदि सामूहिक आदर्शों के अनुसार कुछ कार्यों को करने में सफल होता है तो दूसरे बच्चे उसकी प्रशंसा करेंगे और समूह के आदर का वह पात्र होगा। इसके विपरीत वह बच्चा जिसमें कोई शारीरिक दोष नहीं है, पर सामाजिक आदर्शों के अनुसार अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं कर सकता तो उसकी कोई प्रशंसा नहीं करेगा। स्फूर्तिवान बच्चे को समूह में तब तक स्वीकार किया जाता है जब तक उसकी गतियाँ दूसरों के लिए अरुचिकर नहीं होतीं। जो बच्चा संकोची और लज्जाशील होता है उस पर समूह में विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जो बच्चा स्फूर्तिवान् होता है और समूह की प्रत्येक क्रियाशीलता में भाग लेता है वह लोगों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित करता है। जो बच्चा सुव्यवस्थित होता है उसके बहुत मित्र होते हैं और जो कुव्यवस्थित होता है उसके बहुत ही कम मित्र होते हैं—अर्थात् समूह में वह प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर पाता।

जो बच्चा सामूहिक कार्यों में पूरा सहयोग देता है उसे समूह के अन्य बच्चे बहुत चाहते हैं। जो बिना दूसरे को विघ्न पहुँचाए समूह के कार्यों में अपने को शीघ्रातिशीघ्र व्यवस्थित कर लेता है उसकी बड़ी प्रशंसा की जाती है और इसके विपरीत गुण वाले बच्चे की बड़ी निन्दा की जाती है—अर्थात् वह सामाजिक प्रसिद्धि

नहीं प्राप्त कर पाता। कोच¹ के अनुसार वह बालक सबसे अधिक प्रसिद्धि अपने समूह में पाता है जो परिस्थिति को स्वीकार करके दूसरों की तरह काम में लग जाता है तथा विरोध नहीं करता और दूसरों की प्रार्थनाएँ स्वीकार करता है।

प्रसिद्धि पर प्रभाव डालने वाली बातें—जिन बातों का बच्चे की प्रसिद्धि पर प्रभाव पड़ता है उनका नीचे उल्लेख किया जा रहा है :

कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि नर्सरी स्कूल के बच्चों में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध होती हैं। लड़कियाँ कुछ सामाजिक कलाओं में लड़कों की अपेक्षा शीघ्रतर प्रवीण हो जाती हैं। लड़कियाँ लोगों से बातचीत करने में अधिक कुशल होती हैं। इसलिए स्वभावतः वे प्रसिद्ध हो जाती हैं। भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था कुछ भिन्न है। अतः यहाँ पर लड़कों और लड़कियों की हम इस प्रकार तुलना नहीं कर सकते, क्योंकि यहाँ लड़के और लड़कियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम आते हैं। स्पष्ट है कि अपने देश के बच्चों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि लड़कियाँ लड़कों से अधिक प्रसिद्ध होती हैं। परन्तु अपने यहाँ उन स्कूलों में जिनमें सहशिक्षा (Co-education) की व्यवस्था है लड़कियाँ अवश्य ही लड़कों से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करती होंगी।

मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है कि प्रतिभाशाली (Bright) सामान्य (Average) तथा मन्द (Below-average) बुद्धि बालकों में सबसे अधिक प्रसिद्धि कौन प्राप्त करता है। कोच² ने नर्सरी स्कूल के अपने अध्ययन में देखा कि प्रतिभाशाली बच्चे सामान्य बुद्धि वाले बच्चों से अधिक प्रसिद्ध होते हैं। ऐलेमेण्टरी स्कूल के बच्चों के अपने अध्ययन में हार्डी³ कोच के निष्कर्ष का समर्थन करता है। बाँनी ने अपने अन्वेषण में देखा कि अतिप्रतिभाशाली (Very bright) लड़के प्रसिद्ध नहीं हो पाते, क्योंकि समूह के अन्य लड़कों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती और समूह की रुचि के अनुसार अपने को व्यवस्थित करने का वे प्रयत्न नहीं करते। बाँनी ने यह भी

¹ Koch, H. L.—Popularity in pre-school children : some related factors and technique for its measurement, *Child Development*, 4, 164-175, 1933.

² Hardy, M. C.—Social Recognition at the Elementary School stage, *Journal of Social Psychology*, 8, 365-384, 1937.

³ Bonny M. E.—A Study of the relation of intelligence family size, and sex difference, with mutual friendships in the primary grades, *Child Development*, 13, 79-100, 1942.

देखा कि जो लड़के पढ़ने-लिखने में अच्छे होते हैं वे अपने समूह में सामाजिक प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं ।

बड़े आकार के कुटुम्ब वाले बच्चे स्वभावतः सामाजिक व्यवस्थापन की कुछ कलाएँ सीख लेते हैं, क्योंकि वे प्रारम्भ से ही अपने घर में कई प्रकार के स्वभाव के व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं । फलतः अपने समूह में भी वे शीघ्र ही व्यवस्थित हो जाते हैं । अतः ऐसे बच्चे दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । एकलौते बच्चे को घर के सभी लोग अपनी हथेली पर लिए रहते हैं । फलतः बच्चों के समूह में वह अपने को सरलता से व्यवस्थित नहीं कर पाता, क्योंकि वहाँ उसके हठ को मानने वाला कोई नहीं होता । स्पष्ट है कि एकलौते बच्चे बहुधा अपने समूह में प्रसिद्धि नहीं पाते ।

अच्छी सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक वातावरण से आये हुए बच्चे सामाजिक और आर्थिक अधिक सामाजिक प्रसिद्धि अपने समूह में प्राप्त करते हैं, स्थिति क्योंकि वे स्वभावतः बड़े व्यवहार-कुशल होते हैं ।

स्वस्थ बच्चे अपने को शीघ्रतर व्यवस्थित कर लेते हैं । अतः समूह के अन्य बालक उनका आदर करते हैं । स्वस्थ बच्चे स्कूल के विविध कार्यों तथा खेल के मैदान में बहुधा बड़े कुशल पाये जाते हैं । इसलिए अपने स्वास्थ्य समूह में वे प्रसिद्ध हो जाते हैं ।

अपने मित्रों और साथियों के चुनाव में बच्चे बाह्य सौन्दर्य पर भी ध्यान देते हैं । जो बच्चा देखने में सुन्दर नहीं जान पड़ता उससे बहुत कम लोग मित्रता करते हैं । हार्डी¹ ने अपने ऐलेमेण्टरी स्कूल के बच्चों के अध्ययन में देखा कि प्रसिद्ध लड़कों में लगभग ६६ प्रतिशत लड़के देखने में सुन्दर थे । छोटा या बड़ा कद प्रसिद्धि पर कम प्रभाव डालते हैं । अन्य गुणों के होने पर बच्चा अपने समूह में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेगा, चाहे वह छोटे कद का हो या बड़े का ।

बच्चों के अध्ययन में प्रायः यह देखा गया है कि जो बालक एक बार प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है वह प्रायः बहुत दिनों तक अपनी प्रसिद्धि स्थिर किये रहता है, क्योंकि समूह में अपनी स्थिति कायम रखने की उसे प्रसिद्धि की स्थिरता चिन्ता होती है । साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि जो बालक एक बार अपने व्यवहार से अपने समूह को अप्रसन्न कर देता है फिर से प्रसिद्धि प्राप्त करना उसके लिए बड़ा ही कठिन हो जाता है ।

¹ Ibid.

बहिष्कृत बच्चे (The Neglected Children)

प्रत्येक सामाजिक समूह में कुछ ऐसे सदस्य होते हैं जिन्हें लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उपेक्षित बालक बड़ा ही दुखी होता है और उसमें व्यक्तित्व संबंधी कुछ लक्षण आ जाते हैं जिनसे उसकी और भी अधिक निन्दा दबू और ऊधमी बालक की जाती है। बालक की अपनी प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अपने ही गुणों अथवा अवगुणों पर निर्भर करती है। जो बालक समूह के अन्य सदस्यों की तुलना में वृद्धि, व्यक्तित्व, सौन्दर्य, कौटुम्बिक पृष्ठभूमि तथा रुचि आदि में बहुत भिन्न होता है उसे लोग 'विचित्र' समझने लगते हैं और उसे लोग अपने समूह में रखने को तैयार नहीं होते। जो बच्चे इस प्रकार अपने समूह से बहिष्कृत किये जाते हैं उनका दो वर्ग किया जा सकता है। १—शान्त और दबू (Quiet or Reserved Children) तथा २—ऊधमी अथवा समस्या बालक (Aggressive or Problem Children)। शान्त और दबू बालक किसी विषम परिस्थिति से भागने की चिंता में रह सकता है, जैसे स्कूल से भाग जाना, अपने को प्रौढ़ व्यक्ति पर एक दम छोड़ देना, डर के मारे किसी ऊधमी लड़के से छिपा रहना, अकेले खेलना, अपने से छोटी उम्र के बच्चों का साथ खोजना तथा दूसरों की बातों को न मानना तथा किसी नियम के अनुसार न चलना आदि-आदि। ऊधमी बालक तुरन्त बिना सोचे-विचारे दूसरे बालक पर आक्रमण कर देता है, उसे पीटता है, बाल पकड़कर खींचता है, ढकेल देता है अथवा वस्तुएँ नष्ट कर देता है।

मूलप्रवृत्तियाँ और उनकी शिक्षा (INSTINCTS AND THEIR TRAINING)

मूलप्रवृत्तियों की कुछ प्रधान विशेषतायें (Some Principal Characteristics of Instincts)

मूलप्रवृत्तियों के स्वरूप के विषय में मनोवैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है। इस मतभेद की यहाँ व्याख्या करना हमारी सीमा के बाहर है। कुछ आधुनिक मनो-वैज्ञानिक तो मूलप्रवृत्तियों के अस्तित्व को स्वीकार करने प्रेरणायें और मूल-प्रवृत्तियाँ के लिये तैयार ही नहीं। इन मनोवैज्ञानिकों का दल विशेषतः अमेरिका में पाया जाता है। इनके सिद्धान्त की हम यहाँ व्याख्या नहीं दे सकते, क्योंकि हमें यहाँ केवल मूल-प्रवृत्तियों का ही विवेचन करना है। उनके मत के सम्बन्ध में हम यहाँ केवल इतना ही कहेंगे कि वे मूलप्रवृत्तियों को मानवीय व्यवहार का कारण नहीं मानते। मूल-प्रवृत्तियों के स्थान पर वे प्रेरणाओं और ईहाओं का प्रयोग करते हैं। इन प्रेरणाओं और ईहाओं में वे भूख, प्यास, काम (Sex) इत्यादि का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार प्राणी अपने विवृद्धि (Maturation) के क्रम में विभिन्न बातें स्वयं सीख लेता है। इसके विपरीत मूलप्रवृत्तियों के समर्थक मानवीय व्यवहार का प्रारम्भ मूलप्रवृत्तियों से ही मानते हैं। नीचे हम मूलप्रवृत्तियों के स्वरूप की ओर संक्षेप में संकेत करेंगे।

अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार मनोवैज्ञानिकों ने मूलप्रवृत्ति की विभिन्न तालिकायें दी हैं। अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ ने सहानुभूति नामक मूलप्रवृत्ति (Sympathetic Bases of Human Activities) को ही सारे मूलप्रवृत्तियों की संख्या मानवीय व्यापार का आधार माना है। ट्राटर^१ समूह मूलप्रवृत्ति (Gregarious or Social Instinct) को यह

^१ Trotter, W.—Instincts of the Herd in Peace and War.

श्रेय देना चाहता है। फ्रायड ने काम-मूलप्रवृत्ति (Freud : Sex Instinct) को ही मानवीय व्यवहार और क्रियाशीलता का प्रधान स्रोत माना है, यद्यपि बाद में उसने आत्मरक्षा (Self-preservation) तथा मृत्यु (Death Instinct) मूलप्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया है। जेम्स के अनुसार हमें ३२ मूलप्रवृत्तियों को स्वीकार करना चाहिए। थॉर्नडाइक ने पहले १०० मूलप्रवृत्तियों की चर्चा कर उन्हें बाद में ४० तक ही सीमित कर दिया। वारेन २६ मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। बर्नार्ड के अनुसार हमें ११० मूलप्रवृत्तियाँ माननी चाहिए। ड्रेवर के अनुसार हमें इच्छात्मक (Appetitive) और प्रतिकारात्मक (Reactive) नामक मूलप्रवृत्तियाँ माननी चाहिए। मैङ्गल मूलप्रवृत्तियों की संख्या चौदह तक ही बतलाते हैं। मूलप्रवृत्तियों के सिद्धान्त को मानने वाले मैङ्गल की ही तालिका की विशेष चर्चा करते हैं, क्योंकि इस तालिका के अन्तर्गत उनके अनुसार सभी मूलप्रवृत्तियाँ निहित हो जाती हैं। मैङ्गल प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक सम्बद्ध, संवेग की भी चर्चा करता है। नीचे सम्बद्ध संवेगों के साथ उसकी तालिका दी जा रही है :

मूलप्रवृत्ति

सम्बद्ध संवेग

१—युयुत्सा (Combat)	क्रोध (Anger)
२—निवृत्ति (Repulsion)	वृणा (Disgust)
३—कौतूहल, जिज्ञासा (Curiosity)	आश्चर्य (Wonder)
४—दैन्य (Submission)	आत्महीनता (Negative Self feeling)
५—भोजनान्वेषण (Food-seeking)	भूख, क्षुधा (Appetite)
६—कामप्रवृत्ति (Sex)	कामुकता (Lust)
७—शिशु रक्षण, पुत्र कामना (Parental)	वात्सल्य, स्नेह (Tender Emotion)
८—संघप्रवृत्ति (Gregariousness)	एकाकीपन (Loneliness)
९—पलायन (Escape)	भय (Fear)
१०—शरणागति (Appeal)	करुणा, दुःख (Distress)
११—आत्म-गौरव, आत्म-प्रकाशन (Self assertion or Self-dis- play)	आत्माभिमान (Positive self-feeling)
१२—विधायकता, रचनावृत्ति (Cons- tructiveness)	कृतिभाव, रचनाजातआनन्द (Feeling of creativeness)
१३—संग्रह-वृत्ति (Acquisitiveness)	प्रभुता, अधिकारभावना (Feeling of ownership.)
१४—हास (Laughter.)	आमोद (Amusement.)

मूलप्रवृत्ति प्रकृतिदत्त होती है। मानसिक संस्कारों के रूप में प्राणी उसे जन्म

से ही ले आता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी मूलप्रवृत्तियाँ बचपन में जागृत रहती हैं। प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के अत्यधिक विकास के लिये एक निश्चित समय होता है और यह प्राणी के विकासावस्थानुसार आया करता है। मूलप्रवृत्तियाँ व्यक्ति के मन में पड़ी रहती हैं। किसी उपयुक्त उद्दीपन के पाने पर वे प्राणी को किसी विशिष्ट पदार्थ की ओर आकर्षित करती हैं। इस पदार्थ की उपस्थिति में उसे एक विशेष प्रकार के संवेग की अनुभूति होती है। इस अनुभूति के कारण वह एक विशिष्ट कार्य की ओर प्रवृत्त होता है। यदि अन्धेरे में रस्सी को देखकर प्राणी को सर्प का भान होता है तो भयवश वह भागने का उपक्रम करता है। यहाँ पर उसकी पलायन की मूलप्रवृत्ति क्रियाशील हुई। भाग जाने की स्वाभाविक क्रिया जिस प्रवृत्ति से होती है उसे पलायन मूलप्रवृत्ति कहते हैं।

मूलप्रवृत्ति द्वारा संचालित क्रिया में व्यक्तिगत भेद नहीं होता। मूलप्रवृत्ति की यह दूसरी विशेषता है। इसका तात्पर्य यह है कि पलायन मूलप्रवृत्ति के जागृत होने पर सभी प्राणियों में भय संवेग उत्पन्न होगा और इस संवेग के फलस्वरूप वे एक ही प्रकार की क्रिया दिखलाने की ओर अभिप्रेरित होंगे।

मूलप्रवृत्तियाँ आदतों से भिन्न होती हैं। आदतों में वैयक्तिक भेद होता है; परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, मूलप्रवृत्तियों में वैयक्तिक भेद नहीं होता। वे किसी जाति-विशेष के सदस्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। इनकी यह तीसरी विशेषता है।

अभ्यास के न रहने पर आदत का लोप हो जाता है। पर मूलप्रवृत्तियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मूलप्रवृत्तियों का लोप नहीं होता। प्रत्येक मूलप्रवृत्ति की जागृति के लिए विकास की एक विशिष्ट अवस्था होती है। इस अवस्था के आ जाने पर मूलप्रवृत्ति का लोप नहीं होता। इस अवस्था के आने के पूर्व भी मूलप्रवृत्ति का विकास धीरे-धीरे प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि उसका विकास यकायक नहीं आरम्भ हो जाता। जैसे आदतों में परिवर्तन लाया जा सकता है उसी प्रकार मूलप्रवृत्तियों में भी कुछ हद तक परिवर्तन लाया जा सकता है। यह परिवर्तन समाज के कल्याण के हेतु शिक्षा द्वारा लाया जाता है। इस परिवर्तन के सम्भव न होने पर मनुष्य का जीवन पशुवत् होता है। इस परिवर्तन को मूलप्रवृत्तियों का शोधन (Sublimation of Instinct) कहते हैं। शोधन द्वारा मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन ला सकना मूलप्रवृत्ति की चौथी विशेषता है।

सप्रयोजनता (Purposiveness) मूलप्रवृत्ति की पाँचवीं विशेषता है। मूलप्रवृत्ति सदा किसी प्रयोजनवश ही क्रियाशील होती है। इसकी सप्रयोजनता की एक विशेषता यह है कि जब तक निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक उसकी क्रिया चलती रहती है। आत्मरक्षाई भोजनान्वेषण में लीन प्राणी भोजन खोजकर और खा

करके ही दम लेगा। मूलप्रवृत्ति की प्रत्येक क्रिया में कोई न कोई प्रयोजनता निहित रहती है। चिड़िया के घोंसला बनाने अर्थात् विधायकता की मूलप्रवृत्ति में शिशु-रक्षण की प्रयोजनता निहित है। इसी प्रकार प्रत्येक मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में कोई न कोई प्रयोजन पाया जा सकता है।

किसी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक तीनों अङ्गों का समावेश रहता है। मूलप्रवृत्ति की यह छठी विशेषता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति से सम्बद्ध एक ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक अंगों का समावेश संवेग होता है। इस संवेग की जागृति के लिए एक विशेष कुञ्जी की आवश्यकता होती है। यह कुञ्जी ही उसका ज्ञानात्मक अंग हुआ। उदाहरणार्थ, विधायकता की मूलप्रवृत्ति प्राणी के इच्छानुसार किसी उपयुक्त वस्तु के उपस्थित होने पर ही जागृत होगी। इसी प्रकार अन्य मूलप्रवृत्तियों के विषय में भी कहा जा सकता है। मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के क्रम में जिस भाव की अनुभूति होती है वह संवेगात्मक अङ्ग हुआ। मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया को क्रियात्मक अङ्ग कहा जायगा—जैसे 'भागना' पलायन का, 'वस्तु को बनाना' विधायकता का और 'लड़ना' युयुत्सा मूलप्रवृत्तियों के क्रियात्मक अंग हुए।

मूलप्रवृत्तियाँ मनुष्य तथा पशुओं दोनों में पाई जाती हैं। परन्तु दोनों में उनकी प्रकाशन-विधि में भेद पाया जाता है। पशुओं की मूलप्रवृत्तियों में किसी प्रकार का परिवर्तन लाना बड़ा ही कठिन होता है। वस्तुतः मनुष्य और पशु की मूलप्रवृत्तियों में भेद पशु और मनुष्य में भेद का प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों का शोधन किया जा सकता है और पशुओं में यह सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ, भूखा कुत्ता अपने से छोटे कुत्ते का भोजन बहुधा छीन ही लेता है और यह उसके लिये क्षम्य माना जाता है। परन्तु सामान्यतः भूखा मनुष्य यदि ऐसा व्यवहार दिखलाये तो उसकी निन्दा की जायगी।

इसके अतिरिक्त मनुष्य और पशु की मूलप्रवृत्तियों का विकास भिन्न-भिन्न रूप से होता है। पशु में मूलप्रवृत्तियों का विकास शीघ्र हो जाता है। मनुष्य में उनके विकास में देर लगती है। प्राणी जितनी उत्कृष्ट कोटि का होता है उसकी मूलप्रवृत्तियों के विकास में उतनी ही देर लगती है। मुर्गी का बच्चा शीघ्र ही अपने उदर के पालन में कूड़े में चोंच का मारना प्रारम्भ कर देता है और हिरण का बच्चा एक ही दिन में चौकड़ियाँ भरने लगता है। परन्तु मनुष्य के बच्चे की इन क्रियाओं में वर्षों लग जाते हैं, क्योंकि वह बहुत दिनों तक असहाय बना रहता है और उसकी मूलप्रवृत्तियों के विकास में देर लगती है। परन्तु यह देर एक वरदान है, क्योंकि इसी देर के कारण उसको शिक्षा देना तथा उसकी मूलप्रवृत्तियों का शोधन करना सम्भव होता है।

कुछ लोगों का यह मत भ्रमात्मक है कि मूलप्रवृत्तियों द्वारा अभिप्रेरित क्रिया चेतना से शून्य होती है और इसमें बुद्धि का अभाव होता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रयोजनता मूलप्रवृत्ति की एक विशेषता है। प्रयोजनता में बुद्धि का एक दम अभाव कैसे सम्भव है? मूलप्रवृत्तियों का शोधन यदि किया जा सकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें गत अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है। परन्तु यह क्षमता बिना चेतना के कैसे सम्भव हो सकती है?

मूलप्रवृत्तियों का स्वरूप¹—उपयुक्त विवेचन के आधार पर मूलप्रवृत्तियों के स्वरूप की ओर इस प्रकार संकेत किया जा सकता है :

- १—यह प्रकृतिदत्त होती है।
- २—किसी जाति के प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। इससे संचालित क्रिया में वैयक्तिक भेद नहीं पाया जाता।
- ३—यह आदतों से भिन्न होती है।
- ४—मूलप्रवृत्तियों में शोधन द्वारा परिवर्तन लाया जा सकता है।
- ५—मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में प्रयोजनता निहित रहती है।
- ६—इसकी क्रिया में ज्ञानात्मक, संवेगात्मक तथा क्रियात्मक अंगों का समावेश होता है।
- ७—मूलप्रवृत्तियों में अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है।
- ८—मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों में पशुओं की अपेक्षा अधिक परिवर्तन लाया जा सकता है।
- ९—मनुष्य में पशुओं की तुलना में इसका विकास देर से होता है।
- १०—इसकी क्रिया में बुद्धि और चेतना का एकदम अभाव नहीं रहता है।

मूलप्रवृत्ति की परिभाषा—अब तक जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर अब मूलप्रवृत्ति की एक साधारण परिभाषा दी जा सकती है। इसकी परिभाषा तो कई प्रकार से दी गई है। परन्तु सभी परिभाषाओं का समावेश मैगडूगल² के इस कथन में हो जाता है “मूलप्रवृत्ति एक प्रकृतिदत्त शक्ति है। इसके कारण प्राणी किसी वस्तु विशेष को देखकर उसकी ओर स्वभावतः आकर्षित होता है। इस आकर्षण के फलस्वरूप वह एक विशेष प्रकार के भावों और क्रियात्मक प्रवृत्ति का अनुभव करता है। इस अनुभूति के फलस्वरूप वह उपस्थित वस्तु से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार की क्रिया में संलग्न होता है।”

¹ लेखक की 'मनोविज्ञान और शिक्षा' पृ० २१५-२२४, आठवाँ सं०, प्रकाशक—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, १९६६, आगरा।

² Mc Dougall—An outline of psychology, p. 110.

मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन (Changes in Instincts)

मूलप्रवृत्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादकों की धारणा है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास मूलप्रवृत्तियों के परिवर्तन पर ही निर्भर करता है। यह परिवर्तन अधोलिखित चार विधियों द्वारा सम्भव होता है :

- १—अवदमन (Repression)
- २—विलयन (Inhibition)
- ३—मार्गान्तरिकरण (Redirection)
- ४—शोधन (Sublimation)

उपर्युक्त चार विधियों में हम सभी को स्वीकार नहीं कर सकते। नीचे उनके स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के कारणों की ओर संक्षेप में संकेत किया जा रहा है।

अवदमन—मूलप्रवृत्तियों को नष्ट करना असम्भव है, क्योंकि वे प्रकृतिदत्त होती हैं। विकास की किसी विशिष्ट अवस्था में उनके समुचित प्रकाशन के अभाव का तात्पर्य उनका लोप नहीं है। वस्तुतः अवसर पर वे फिर जाग्रत हो जाती हैं। अतः मूलप्रवृत्तियों का अवदमन करना नियन्त्रण को तोड़ भीषण व्यवहार दिखलाना व्यर्थ है, क्योंकि उनका अवदमन करना सम्भव ही नहीं। उनका अवदमन करना व्यर्थ ही नहीं वरन् घातक भी है। उनके अवदमन के कुपरिणाम पर मनोविश्लेषणवादियों (Psychoanalysts) ने भली-भाँति प्रकाश डाला है। मूलप्रवृत्तियों का अवदमन करना किसी घाटी के स्वाभाविक जलप्रवाह पर बाँध बाँधने के समान है। इस बाँध के तीन फल हो सकते हैं। पहली सम्भावना यह है कि बाँध के पास जल इकट्ठा होता जायगा, और बाँध यदि कमजोर हुआ तो पानी उसे बहा ले जायगा। मूलप्रवृत्तियों के अवदमन का भी पहला परिणाम यही हो सकता है। व्यक्ति समय-समय पर कड़े नियन्त्रण को तोड़कर अपना वास्तविक व्यवहार भीषण रूप में दिखलाता रहेगा। अतः मूलप्रवृत्तियों का अवदमन करना हानिकर है।

बाँध की दूसरी सम्भावना यह है कि उसके अधिक दृढ़ होने पर पानी चुपके-चुपके बाँध के नीचे से बह सकता है। इसी प्रकार मूलप्रवृत्तियों के कठिन अवदमन से व्यक्ति चोरी-चोरी से उनके प्रकाशन में रत हो सकता है। चोरी-चोरी से उनका प्रकाशन स्पष्टतः प्रकाशन से कहीं अधिक घातक है, क्योंकि व्यक्ति का इससे नैतिक पतन हो जाता है।

बाँध के अत्यधिक दृढ़ होने पर तीसरी सम्भावना यह होगी कि पानी का आगे जाना एकदम रुक जायगा और वह इधर-उधर बह जायगा और आगे का

मैदान एकदम सूख जायगा । इसी प्रकार यदि मूलप्रवृत्तियों का घोर अवदमन किया गया तो व्यक्ति का जीवन ही सूख जायगा और उसमें किसी प्रकार का आनन्द उसे न मिलेगा । उसके मस्तिष्क में कई प्रकार की उलझनें आ जायेंगी । इन उलझनों से पार पाना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो जायगा ।

जैसे जलप्रवाह में उसके उद्गम स्थान पर बड़ी सरलता से परिवर्तन लाया जा सकता है उसी प्रकार बचपन में मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन लाना बड़ा सरल है । फ्रॉयड तथा अन्य मनोविश्लेषकों ने शिक्षा की दृष्टि से बचपन के महत्त्व पर बड़ा जोर दिया है । कहना न होगा कि माता-पिता, अभिभावकों तथा अध्यापकों को बालकों के प्रति अपने व्यवहार में बड़ा मनोवैज्ञानिक होना चाहिए, जिससे उनकी मूलप्रवृत्तियों का अवदमन न हो ।

मूलप्रवृत्तियों का अवदमन न करने का अर्थ यह नहीं कि उनकी बागडोर एकदम ढीली कर दी जाय । ऊपर यह कहा जा चुका है कि मूलप्रवृत्तियों का यदि शोधन न हो तो मनुष्य पशुवत् हो जायगा । अतः स्पष्ट है कि मूलप्रवृत्तियों की प्रकाशन-विधि में परिवर्तन लाना बड़ा आवश्यक है । यह परिवर्तन यदि आत्म-संयम के आधार पर लाने का प्रयास किया जाय तो व्यक्तित्व के विकास में बाधा न पड़ेगी ।

विलयन—विलयन के दो अंग हैं—निरोध और विरोध । 'निरोध' का अर्थ मूलप्रवृत्ति को उत्तेजित होने के लिये अवसर ही न देने से है । यदि काम-प्रवृत्ति को दबाना है तो बालक का वातावरण ऐसा रखा जाय कि इसमें इस प्रवृत्ति का जागरण ही न हो । इस उपाय से मूल-प्रवृत्तियाँ कुछ निर्बल अवश्य हो सकती हैं; परन्तु उनमें वांछित सुधार की आशा नहीं की जा सकती ।

'विरोध' का तात्पर्य मूलप्रवृत्ति की कोई विरोधी प्रवृत्ति की जागृति कर देने से है । उदाहरणार्थ : काम-प्रवृत्ति को शान्त करने के लिये भय या क्रोध की प्रवृत्ति जागृत कर देना, अथवा युयुत्सा को शान्त करने के लिये सहानुभूति, स्नेह या खेल की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देना । 'विरोध' के उपाय से कुछ सामाजिक परिवर्तन अवश्य लाया जा सकता है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रभाव स्थायी होगा । परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह उपाय 'निरोध' से अच्छा है, क्योंकि इसमें मानसिक उलझनों के उत्पन्न होने का कम भय रहता है । कारण यह है कि 'विरोध' में मानसिक अतृप्ति उतनी नहीं रहती जितनी कि 'निरोध' में रहती है । परन्तु मूलप्रवृत्तियों में वांछित परिवर्तन लाने के लिये 'विलयन' का उपाय मान्य नहीं हो सकता ।

मार्गान्तीकरण—इस विधि में मूलप्रवृत्ति की प्रकाशन-विधि में परिवर्तन लाने की चेष्टा की जाती है। यदि यह परिवर्तन समाजोपयोगी कार्य की ओर नियोजित किया गया तो उसी को मूलप्रवृत्तियों का शोधन कहा जायगा। नीचे शोधन पर ही संक्षेप में ही प्रकाश डाला जायगा।

शोधन—शोधन-विधि में मूलप्रवृत्ति के स्वरूप और प्रकाशन-विधि दोनों में परिवर्तन लाने की चेष्टा की जाती है। यदि व्यक्ति की स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य से हटाकर मूलप्रवृत्ति की शक्ति सामाजिक हित की दृष्टि से उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर नियोजित की जाय तो उसे मूलप्रवृत्ति का शोधन कहा जायगा। उदाहरणार्थ युयुत्सा-मूलप्रवृत्ति का शोधन देश व जाति के रक्षार्थ आवश्यक कार्य करने की स्थायी प्रेरणा देने से, कामप्रवृत्ति का शोधन संगीत कला में प्रेम उत्पन्न करने से, पुत्र कामना का शोधन 'उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्' की मनोवृत्ति देने से किया जा सकता है। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; कामप्रवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिये फ्राँड ने शोधन-प्रणाली को बड़ा प्रोत्साहन दिया है। शोधन से मूलप्रवृत्तियों के प्रकाशन-पद्धति में एक परिवर्तन आ जाता है। प्रवृत्ति की असंस्कृतता बहुत हद तक दूर हो जाती है। यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का उद्देश्य मूलप्रवृत्तियों का शोधन ही करना है तो अत्युक्ति न होगी। पशुओं के सम्बन्ध में शोधन की समस्या नहीं उठती, क्योंकि उनमें शोधन सम्भव नहीं।

परन्तु हमें ध्यान रखना है कि शोधन की भी एक सीमा होती है, क्योंकि किसी मूलप्रवृत्ति का पूर्ण शोधन नहीं किया जा सकता। उसका कुछ न कुछ स्वाभाविक अंग अवश्य ही रह जायगा। टेन्सले महोदय इस शोधन की भी एक सीमा मत का समर्थन करते हुये कहते हैं कि "मूलप्रवृत्तियों का सम्पूर्णतः मार्गान्तीकरण करने से मन और चरित्र का एकाङ्गी विकास होता है। इसका जीवन में बड़ा भयानक परिणाम हो सकता है। उनके स्वाभाविक प्रभाव को रोककर हम मूलप्रवृत्तियों को दुर्बल भले ही कर सकते हैं, परन्तु उनका सर्वथा नाश सम्भव नहीं। मूलप्रवृत्तियों के शोधन की एक सीमा होती है। उस सीमा तक शोधन लाभकारी होता है। इस सीमा का अतिक्रमण व्यर्थ सिद्ध होता है। प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के दो अंग होते हैं। एक अंग का तो शोधन किया जा सकता है, परन्तु दूसरे का नहीं। यह दूसरा अंग अपने प्रकाशन का मार्ग ढूँढ़ ही लेता है। कदाचित् यही कारण है कि बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और महापुरुषों के मुँह से भी हम कभी-कभी अवांछित बातें सुनते हैं, अथवा वे कभी-कभी ऐसा कार्य करते हुये देखे जाते हैं जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। ऐसा होना एकदम स्वाभाविक माना जा सकता है, क्योंकि कोई पूर्ण नहीं हो सकता। कुछ न कुछ दोष तो सभी में पाये जाते हैं।

पर जिज्ञासा-प्रवृत्ति का शोधन होगा और बालक विज्ञान, कला, संगीत तथा विश्व की विभिन्न वस्तुओं के लिए जिज्ञासा हो जायगा। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास किया जा सकता है। यहाँ तक हमें जेम्स महोदय से विरोध नहीं। परन्तु जब वे कहते हैं कि एक निश्चित समय से मूलप्रवृत्तियों का लोप हो जाता है तो हम उनका समर्थन नहीं करते। ऊपर भी हम संकेत कर चुके हैं कि मूलप्रवृत्तियों का लोप नहीं होता। यह उनकी अधिकतम क्रियाशीलता का एक निश्चित काल अवश्य होता है। हम यह मानते हैं कि उस काल में उन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

पुनरावृत्ति का सिद्धान्त—प्राणी-विज्ञान वेत्ताओं का कहना है कि मनुष्य अपनी वर्तमान विकासावस्था पर यकायक नहीं पहुँच गया है, वरन् सभी जीवों की अवस्थाओं से गुजरते हुए वर्तमान अवस्था को वह पहुँचा पाठन-विधि अच्छी, है। अतएव गर्भ में भी अधिकांशतः उसे इन सभी अवस्थाओं परन्तु इसके अनुसार से गुजरना होता है। जन्म हो जाने के बाद भी शिशु को पाठ्य-वस्तु नहीं उन सभी अवस्थाओं से गुजरना होता है जिनसे मानव सभ्यता आज तक गुजरी है। अर्थात् इन सभी अवस्थाओं की बालक को पुनरावृत्ति करनी होती है। पुनरावृत्तिवादियों के अनुसार बालक की क्रियाओं के सूक्ष्मतम अध्ययन से इन सब बातों की पुष्टि होती है। जंगली मनुष्य तथा अर्द्ध-सभ्य अवस्थाओं को पार करने के बाद ही बालक सभ्य अवस्था पर आता है। प्रत्येक अवस्था में विशेषतः उस काल के अनुरूप क्रियाशीलता उसमें पाई जाती है। अतः उस काल में उस अवस्था में सम्बन्धित बातों को बालक सरलता से सीख सकता है। व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों की विभिन्न विकासावस्था को देखकर जान पड़ता है कि वे सभ्यता के विकास की विभिन्न अवस्थाओं की पुनरावृत्ति कर रही हैं। अतः प्राणि-विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार 'जिस क्रम और जिस रीति से मानव जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और रीति से बच्चों की शिक्षा होनी चाहिये।' इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हरबर्ट स्पेन्सर कहे जाते हैं और इसे 'संस्कृति-युग-सिद्धान्त' (Culture Epoch Theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार गलत नहीं जान पड़ता। मनुष्यों ने पहले वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण (Perception) से ज्ञान प्राप्त किया। पहले उन्होंने उनके रूप, रंग व गुण का ज्ञान प्राप्त किया। अतः बालकों को भी शिक्षा पहले वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से होनी चाहिए। जहाँ तक विधि का प्रश्न है हमारा इस सिद्धान्त से विरोध नहीं है। परन्तु पाठ्य-वस्तु के चुनाव में हम इस सिद्धान्त को नहीं मान सकते। पाठ्य-वस्तु के चुनाव पर हमें बालकों के वर्तमान समाज पर भी ध्यान देना है। आज का समाज आदिकाल के समाज से भिन्न है। स्पष्ट है कि बालक की शिक्षा पुनरावृत्ति सिद्धान्त पर पूर्णतः नहीं आधारित की जा सकती।

व्यक्तित्व के विकास में मूलप्रवृत्तियों का विशेष हाथ—गत पृष्ठों से स्पष्ट है

कि बालक के विकास में मूलप्रवृत्तियों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। उसके चरित्र का विकास मूलप्रवृत्तियों की क्रियाशीलता पर आधारित होता मनोवैज्ञानिक व्यवहार है। अतः बालक को मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता से यह आवश्यक अनुमान लगाया जा सकता है कि बालक किस धातु का बना है। बालक की कुछ क्रियाओं से यह जान पड़ता है कि वह अनैतिक होता है—जैसे सबसे पहले वह कोई वस्तु खाना चाहता है—अथवा अपनी इच्छा की पूर्ति के सामने दूसरों की इच्छाओं की अवहेलना करते वह देखा जाता है, वस्तुतः बालक अनैतिक नहीं होता। वह मूलप्रवृत्यात्मक जीव होने के कारण विनैतिक (Non-moral) होता है। नैतिकता का विकास उसमें धीरे-धीरे होता है, अथवा बचपन में उसे नैतिकता के पाठ पढ़ाने का तात्पर्य 'भैंस के सामने बीणा बजाने' के समान होगा। फ्रोबेल (Froebel), मान्तेसरी (Montessori) तथा डीवी (Dewey) द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणालियों से स्पष्ट है कि इन शिक्षा-विशेषज्ञों ने बालकों की शिक्षा में मूलप्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया है। बालकों में जिज्ञासा-प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। अपने किसी अभिभावक के साथ होने पर जिज्ञासा-प्रवृत्ति वश वह प्रश्नों की झड़ी लगा देता है। कुछ अभिभावक इससे ऊबकर बालक को चुप करने के लिए डाँट देते हैं। इस प्रकार डाँटना मानो उगते हुए कोपलों का विनाश करना है। इससे बालक के हृदय पर बड़ी ठेस लगती है। वह चुप हो जाता है। मानसिक उलझनें उसमें घर करने लगती हैं। हम यह भी देखते हैं कि किसी वस्तु के पाने पर बच्चा उसे नष्ट करने की चेष्टा में हो जाता है। वस्तुतः वह उसे नष्ट नहीं करता, वरन् उसे तो वह अपनी विधायकता की मूलप्रवृत्ति के अनुसार बनाना चाहता है। अतः उसकी इस क्रिया में विघ्न डालना अमनोवैज्ञानिक होगा। अतः हमें बालकों के साथ अपने व्यवहार में सचेष्ट होकर मनोवैज्ञानिक होना चाहिए।

मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षक—माता-पिता की तरह शिक्षक के भी अमनोवैज्ञानिक हो जाने का बड़ा डर है। अतः उसे भी उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना बड़ा ही आवश्यक है। मूलप्रवृत्तियों के शोधन में आवश्यक योग शिक्षक का कर्त्तव्य मूल-देना ही शिक्षक का प्रधान कर्त्तव्य है। यदि वह इस प्रवृत्तियों का शोधन कर्त्तव्य का पालन कर सका तो उसका शिक्षक होना सफल करना है। उसे यह समझना चाहिए कि किसी विषय को पढ़ाने के लिए बालक की किस मूलप्रवृत्ति को छेड़ना चाहिए। जैसे, कभी आत्मगौरव प्रवृत्ति को क्रियाशील कर बालक को आगे बढ़ जाने की शिक्षक प्रेरणा दे सकता है। किसी कार्य में बालक को हटते हुए देख शिक्षक उसमें युयुत्ता की मूलप्रवृत्ति जागृत कर उस कार्य में लगे रहने की उसे प्रेरणा दे सकता है। किसी वस्तु के बनाने के लिए बालक में विधायकता की मूलप्रवृत्ति का सहारा लिया जा सकता है। विज्ञान में रुचि उत्पन्न करने के लिए जिज्ञासा-मूलप्रवृत्ति को क्रियाशील किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षक को अपने कार्य में विभिन्न मूलप्रवृत्तियों का

सहारा लेना है। उसे समझना है कि किसी मूलप्रवृत्ति का शोधन किस प्रकार किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न मूलप्रवृत्तियों की क्रियाशीलता के स्पष्ट ज्ञान बिना शिक्षक अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता है। उसे यह ध्यान रखना है कि उसका प्रधान कर्तव्य मूलप्रवृत्तियों का शोधन ही करना है।

पाठ्य-वस्तु को कक्षा में रुचिकर बनाने के लिए भी शिक्षक को मूलप्रवृत्तियों का ज्ञान आवश्यक है। मूलप्रवृत्तियों की क्रियाशीलता के विविध स्वरूपों के ज्ञान से शिक्षक में बालमन को समझने की क्षमता आ जाती है।

मूलप्रवृत्तियों का आदतों इस क्षमता के बल पर ही यह समझा जा सकता है कि **पर प्रभाव** 'कब' 'कौन सा' विषय 'कैसे' पढ़ाना चाहिए। मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाशीलता के आधार पर ही बालकों में कुछ आदतें पड़ती हैं। अतः मूलप्रवृत्तियों का नियन्त्रण यदि मनोवैज्ञानिक न हुआ तो बालक में अच्छी आदतों का विकास न होगा। अवसर से अनुसार किसी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के कारण अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की आदतें बालक में आ सकती हैं। उदाहरणार्थ : युयुत्सा की मूलप्रवृत्ति के कारण बालक अपने से छोटों को सताना अथवा उनके लिए अन्यायियों से लड़ना सीख सकता है। अब यह शिक्षक पर बहुत हद तक निर्भर है कि बालक अच्छी या बुरी आदतें अपनाता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ और उनकी शिक्षा (THE SENSES AND THEIR TRAINING)

ज्ञानेन्द्रियाँ (Senses)

बाह्य जगत्-सम्बन्धी सारे ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के कारण ही हमें गन्ध, ध्वनि, प्रकाश, गर्मी, ठण्डक तथा स्पर्श आदि का ज्ञान होता है। “ज्ञानेन्द्रियाँ विभिन्न नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क को संवेदना और प्रत्यक्षी-सन्देश भेजा करती हैं। जब नाड़ीमण्डल के केन्द्र में ये करण का आधार विभिन्न सन्देश मिश्रित होते हैं और इस मिश्रण के फल-स्वरूप पूर्वज्ञान के आधार पर किसी नई बात का हमें सुसंगठित बोध होता है तो उसे प्रत्यक्षीकरण (Perception) कहा जाता है। परन्तु ये विभिन्न सन्देश अपने पृथक्-पृथक् अस्तित्व में संवेदना (Sensation) कहे जाते हैं।”¹ कहने का अर्थ यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ ही हमारी विभिन्न संवेदनाओं और प्रत्यक्षीकरणों का आधार होती हैं।

ज्ञानेन्द्रियों का वर्गीकरण (Classification of Senses)

वैज्ञानिकों ने ज्ञानेन्द्रियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

- १—दृष्टि सम्बन्धी—आँख ।
- २—श्रवण सम्बन्धी—कान ।
- ३—गन्ध-सम्बन्धी—नाक ।
- ४—स्पर्श-सम्बन्धी—त्वचा ।
- ५—स्वाद-सम्बन्धी—जिह्वा ।

¹ लेखक द्वारा रचित “मनोविज्ञान”, पृष्ठ ३६७, आगरा बुक स्टोर्स, आगरा १९६१ ।

नीचे हम प्रत्येक की बनावट और कार्य की ओर अति संक्षेप में संकेत करेंगे ।

आँख की बनावट¹—आँख की तुलना फोटो खींचने वाले कैमरा से की जा सकती है । जिस प्रकार कैमरा में एक अन्धेरा प्रकोष्ठ, सामने एक लेंस (Lens) और एक सूक्ष्मग्राही फिल्म होता है उसी प्रकार प्रकृति ने भी आँख की रचना की है । आँख के प्रकोष्ठ के सामने एक लेन्स होता है और इसके पीछे एक चित्रपट (Retina) होता है । लेन्स की सहायता द्वारा देखी हुई वस्तु का चित्र आँख के चित्रपट पर पड़ता है । आँख का प्रकोष्ठ कुछ गोलाकार होता है । यह प्रकोष्ठ एक विशेष प्रकार के तरल पदार्थ से भरा रहता है । इस तरल पदार्थ के कारण ही इसका गोलापन बना रहता है । प्रकोष्ठ वाले पदार्थ से भिन्न लेन्स में एक दूसरे प्रकार का पारदर्शक पदार्थ भरा रहता है । दूरबीन से यह देखा जा सकता है कि चित्रपट तन्तुकोषों (Nerve-cells) से बना होता है । चित्रपट की बनावट बड़ी ही जटिल होती है । इसकी रचना में कई प्रकार के कोषों का योग रहता है । परन्तु प्रकृति का ऐसा प्रबन्ध है कि बहुत सी प्रक्रियाओं (Processes) में चित्रपट एक इकाई में कार्य करता है । चित्रपट-सम्बन्धी विभिन्न कार्यों को अभी तक अच्छी प्रकार नहीं समझा जा सका है । अन्वेषण के आधार पर यह माना जाता है कि चित्रपटीय लम्ब (Retinal rod) भाग रात के समय और चित्रपटीय शंकु-भाग (Retinal cone) दिन के समय दृष्टि का काम करता है ।

दृष्टि (Vision) दो प्रकार की होती है पहला प्रकार रङ्ग-सम्बन्धी कहा जाता है । रङ्ग-सम्बन्धी दृष्टि के लिए अधिक प्रकाश की आवश्यकता होती है । यदि प्रकाश पर्याप्त न हुआ तो हमें रङ्ग की पहचान न होगी । लाल, हरे, पीले तथा नीले रङ्गों के सम्बन्ध में यह बात अधिक लागू होगी । दृष्टि के दूसरे प्रकार की श्रेणी में काले, भूरे और सफेद रङ्ग लिए जाते हैं । इन रङ्गों के लिए अनुपाततः कम उद्दीपन (Stimulation) की आवश्यकता होती है ।

कान की बनावट और उसका कार्य—आँख का सम्बन्ध प्रायः वस्तुओं से होता है, परन्तु कान का सम्बन्ध ध्वनियों से होता है । हमारा कान सभी प्रकार की ध्वनियों से आकर्षित होता है, चाहे वे जड़ से आवें या चेतन से । श्रवण-शक्ति दृष्टि-शक्ति से कम महत्त्वपूर्ण नहीं । कुछ लोगों के लिए तो श्रवण-शक्ति का ह्रास दृष्टि-शक्ति के ह्रास से अधिक दुखदायी जान पड़ता है । यह कभी-कभी देखा भी जाता है कि अन्धे आदमी की अपेक्षा बहरा आदमी वातावरण में अपने को कम व्यवस्थित कर पाता है । उसकी भावनाएँ और रुचियाँ पनपने के पहले ही कुण्ठित हो जाती हैं ।

¹ विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की बनावटों की विस्तृत व्याख्या के लिए लेखक द्वारा रचित "प्रयोगात्मक मनोविज्ञान" पृष्ठ ४०-८६ पढ़िए—प्रकाशक आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९६३ । बनावट सम्बन्धी नीचे के वर्णन इन्हीं पृष्ठों पर आधारित हैं ।

कान की संवेदनशीलता (Sensitiveness) आश्चर्यजनक है। एक ग्राम (तौल की एक इकाई) के ०००००३ हिस्से के भार के प्रति कान अपनी प्रतिक्रिया दिखला पाता है। हवा के साधारण से साधारण धक्के का पता कान के परदे को चल जाता है। परीक्षणों द्वारा देखा गया है कि निर्बलतम ध्वनि के सुनने के समय कर्णपट के अन्तस्तल की चाल एक इञ्च का ०००००००१वाँ भाग होती है। इसके विपरीत कान १०००००००० गुना भार के प्रति भी अपनी प्रतिक्रिया दिखला सकता है। परन्तु इससे इतनी तीव्र ध्वनि हो सकती है कि कान का परदा फट सकता है। स्पष्ट है कि कान की ग्राहकता का विस्तार बहुत ही बड़ा है। अति तीव्र ध्वनि से कान अपनी रक्षा कर लेता है। कान ध्वनियों को ग्रहण कर उन्हें मस्तिष्क को भेजता है; और उनकी विभिन्नताओं की परख में मस्तिष्क की वह सहायता करता है। इस प्रकार कान के दो काम हुए—१. ध्वनियों को पकड़कर उन्हें तंतु-संदेशों (Nerve Messages) के रूप में बदलना, और २. विभिन्न ध्वनियों के प्रति विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ दिखलाना जिससे उनका विश्लेषण और परख ठीक-ठीक की जा सके।

कान ध्वनि की तीव्रता अथवा ऊँचाई को कैसे पकड़ पाता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिये कान के कुछ अंगों के कार्य को हमें समझना होगा। कान के विभिन्न अंगों को समझना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि इसके आंतरिक अंग सिर की हड्डियों में स्थित हैं। कान के आंतरिक सूक्ष्म अंगों के विषय में शरीर-रचना विशेषज्ञों (Anatomists) में मत-भेद पाया जाता है। इस मत-भेद के दो कारण हो सकते हैं, १—या तो सिर की हड्डियों की चौर-फाड़ के क्रम में अनजान में उन्होंने कान के सूक्ष्म अंगों को घायल कर दिया, अथवा २—चौर-फाड़ के क्रम में ये सूक्ष्म अंग स्वयं छिन्न-भिन्न हो गये। फलतः कान के बारे में बहुत सी बातें अनुमान पर ही आधारित हैं। कान को तीन अंगों में बाँटा जा सकता है : १. बाह्य कान (Outer Ear); २. मध्य कान (Middle Ear) और ३. आंतरिक कान (Inner Ear)।

बाह्य कान—बाह्य कान का कार्य ध्वनि को ग्रहण करना है। इस अंग से ध्वनि के उद्गम-स्थान को समझने में सहायता मिलती है। बाह्य कान से लगी हुई एक कान नहर (Ear Canal) होती है जो ध्वनि के भार को ७-८ गुना बढ़ा देती है। कान नहर के अन्त में कान का पर्दा (Ear Drum) होता है। इस पर्दे का क्षेत्रफल बहुत ही छोटा होता है। ध्वनि-ग्रहण के समय इस परदे में कोई विशेष तनाव नहीं आता। इसकी संवेदनशीलता इतनी अधिक है कि फट जाने पर भी सुनने में यह सहायता करता है।

मध्य कान—मध्य कान हवा से भरी हुई एक ऐसी छोटी बिल है जो हड्डियों से घिरी रहती है। इसका सम्बन्ध नाक के पिछले भाग से होता है। इसका प्रधान कार्य आई हुई ध्वनि को आन्तरिक कान के बिन्दु पर अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाना है।

आन्तरिक कान—आन्तरिक कान में छोटे-छोटे बहुत से सूक्ष्मग्राही कोष होते हैं। ये कोष एक प्रकार के तरल पदार्थ में डूबे रहते हैं। इस तरल पदार्थ की गति

पर ही इन कोषों का उद्दीपन निर्भर करता है। कुछ दबाव पड़ने पर ही यह तरल पदार्थ गतिशील हो सकता है। कान के परदे पर जब हवा का दबाव पड़ता है तो इस तरह पदार्थ पर भी दबाव आ जाता है। आन्तरिक कान में 'घोंघे' की सूत का एक कोष्ठ (Cochlea) होता है। इस कोष्ठ में ही एक तरल पदार्थ विद्यमान रहता है। इस तरल पदार्थ के उद्दीपन पर ही ध्वनि की ऊँचाई और तीव्रता निर्भर करती है।

जिह्वा और नाक (Tongue and Nose)

जिह्वा और नाक से हम केवल बाह्य वातावरण का ही ज्ञान नहीं प्राप्त करते, वरन् शरीर के अन्दर होने वाली कुछ रासायनिक क्रियाओं का भी हमें ज्ञान हो जाता है। जिह्वा में स्वाद-संवेदना के ग्राहक स्वरूप छोटे-छोटे कोषों की 'स्वादकलियाँ' (Taste Buds) होती हैं। ये कोष जिह्वा की सतह तथा कण्ठ के आस-पास के स्थानों पर होते हैं।

गन्ध-संवेदना को ग्रहण करने के लिये नासिका-पथ (Nasal Passage) के ऊपरी भाग में सूत की तरह छोटे-छोटे कोष (Cell) होते हैं। गन्ध सम्बन्धी हवा नाक अथवा मुँह दोनों में जा सकती है और जाती है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि स्वास-सम्बन्धी हवा गन्ध सम्बन्धी ग्राहकों के पास न पहुँचे। परन्तु छींक से नाक का ऊपरी भाग प्रभावित हो जाता है। अतः छींक के समय गन्ध-संवेदना के ग्राहक भी उत्तेजित हो जाते हैं। सुगन्ध देने वाले बहुत से पदार्थ स्वाद-संवेदन को भी जागृत कर सकते हैं। यह कहा जाता है कि गन्ध की ज्ञानेन्द्रिय में स्वाद की ज्ञानेन्द्रिय की अपेक्षा अधिक संवेदनशीलता होती है। मुँह और नाक की श्लेष्मायुक्त झिल्लियों में ठण्डक, गर्मी, स्पर्श तथा दबाव-सम्बन्धी संवेदनशीलता की शक्ति होती है।

त्वचा—त्वचा अथवा स्पर्श की ज्ञानेन्द्रिय से हमें चार प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूति होती है :—भार (Pressure), दर्द (Pain), ठण्डक (Cold) और गर्मी (Warmth)। त्वचा में कई प्रकार के ग्राहक (Receptors) होते हैं। बाह्यरूप से त्वचा की बनावट कई प्रकार की दिखलाई पड़ती है। कहीं झुर्रीदार, कहीं तना हुआ, कहीं पतला, कहीं मोटा, कहीं लचोला, कहीं बाल-विहीन और कहीं अत्यधिक बालों से घिरा हुआ। त्वचा में लगे हुए तन्तुओं (Nerve Fibres) में भी बड़ा विभेद पाया जाता है। होंठ तथा अँगुलियों के अग्रभाग में बहुत सी तन्तुओं की समाप्तियाँ (Terminations) होती हैं, परन्तु पीठ में तन्तुएँ बहुत दूर-दूर पर पाई जाती हैं। अतः शरीर के विभिन्न स्थलों पर स्पर्श-संवेदनशीलता में भेद पाया जाता है। त्वचा की सतह पर स्थित तन्तुओं की सहायता से चर्म-सम्बन्धी संवेदनाओं का अनुभव होता है।

ज्ञानेन्द्रियों के उपर्युक्त विवेचन के बाद नीचे हम उनकी शिक्षा पर कुछ विचार करेंगे।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा¹ (Education of Senses)

ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ही हम विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का विकास धीरे-धीरे होता है। यही कारण है कि बालकों का अनुभव सीमित होता है। ज्यों-ज्यों उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों का विकास की संवेदनशीलता तीक्ष्ण होती जाती है उसकी अनुभूतियाँ एक क्रम में, शिक्षा बढ़ती जाती हैं। बालक को सबसे पहले स्पर्श-ज्ञान होता इसी क्रम के अनुसार है। सबसे पहले स्पर्श-ज्ञान द्वारा वह अपनी माँ को पहचानने में सफल होता है। स्पर्श-ज्ञान के बाद दृष्टि-ज्ञान का नाम लिया जा सकता है। दो-तीन महीने का शिशु प्रकाश से आकर्षित होने लगता है। कमरे में जलते हुए दीपक को वह एकटक देखता रहता है। दीपक के हटा लेने पर कभी-कभी वह रोने भी लगता है। पाँच-छः महीने का शिशु रंगीन खिलौने को देखकर उस ओर आकर्षित होता है। धीरे-धीरे दृष्टि-ज्ञान की दूरी बढ़ने लगती है और दूर से ही देखने पर शिशु अपनी माँ को पहचान जाता है। आठ-दस महीने का शिशु कुछ विशिष्ट ध्वनियों को पहचानने लगता है। माँ तथा परिचितों की आवाज सुनकर वह उनका आना पहचान जाता है। इसी समय से सुरीले शब्दों से भी वह आकर्षित होने लगता है। उदाहरणार्थ; सीटी की आवाज अथवा सितार या हारमोनियम ऐसे बाजों के स्वरों से वह मुदित होते दिखलाई पड़ता है और वह भी वैसा ही स्वर उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। स्वाद की पहचान बालक प्रायः एक वर्ष के बाद ही कर पाता है; यों तो अरुचिकर वस्तु मुँह में जाने पर वह उसे एक वर्ष की अवस्था के पूर्व की अवस्था के पूर्व भी उगल देने में समर्थ होता है। परन्तु स्वादों का नामकरण वह दो वर्ष की उम्र के बाद ही कर पाता है। गन्ध की पहचान कदाचित् उसे सबसे बाद में होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बालकों की ज्ञानेन्द्रियों का विकास एक क्रम में होता है। शिक्षा में इस क्रम पर ध्यान देना बड़ा आवश्यक है।

ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने के पूर्व उनके स्वास्थ्य की परीक्षा कर लेना बड़ा आवश्यक है। यदि बालक की आँख कमजोर हुई अथवा उसके कान में कुछ दोष हुआ तो शिक्षक का परिश्रम अपेक्षित फल न दे सकेगा। इस विषय में डाक्टर की सहायता आवश्यक होगी ज्ञानेन्द्रियों के स्वास्थ्य की परीक्षा और कक्षा-ज्ञानेन्द्रिय के दोष का पता लग जाने पर, शिक्षण के क्रम में शिक्षक को उचित है कि दोषयुक्त ज्ञानेन्द्रिय वाले बालकों को कक्षा में बैठने के लिए उचित स्थान निर्धारित करे।

¹ लेखक द्वारा रचित "मनोविज्ञान और शिक्षा" पृष्ठ ५३६-४२, आठवाँ सं० पर आधारित, प्रकाशक : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९६६।

उदाहरणार्थ, ऊँचा सुनने वाले विद्यार्थियों को आगे और कम देखने वाले छात्रों को आगे या बीच में आवश्यकतानुसार बैठाया जा सकता है।

प्रायः बालक बड़ा ही चंचल होता है। वह हर समय कुछ न कुछ करते ही रहना चाहता है। कदाचित् प्रकृति की ऐसी इच्छा भी है जिससे बालक इधर-उधर जाकर अपनी ज्ञानेन्द्रियों को अधिक से अधिक विकसित उचित खेल का आयोजन कर ले। अतः माता-पिता तथा अध्यापकों को उचित है कि वे बालकों की स्वाभाविक क्रियाशीलता में किसी प्रकार का विघ्न न डाले, अन्यथा बालकों के मनोविकास की गति रुक जायगी। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए समुचित वातावरण के आयोजन की आवश्यकता है। जो अभिभावक अपने बालकों के खेलों के लिए उपयुक्त आयोजन की चिन्ता करते हैं वे उनके विकास में बड़ा भारी योग देते हैं, क्योंकि खेल ज्ञानेन्द्रियों के विकास का बड़ा भारी साधन है। बालकों का वातावरण ऐसा हो कि वे चुप न बैठ सकें और हर समय किसी न किसी खेल अथवा कायं में वे क्रियाशील रहें।

फ्रोबेल और मान्तेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। इस विषय में मान्तेसरी फ्रोबेल से बढ़ जाती है। मान्तेसरी अपने शिक्षा-सिद्धान्तों के निर्माण में सिगमण्ड फ्राँयड की खोजों से बड़ी प्रभावित हुई हैं। फ्राँयड का कहना है कि मन्द-बुद्धि बालकों की शिक्षा का आधार ज्ञानेन्द्रियों को ही बनाना चाहिये, क्योंकि उन्हीं के विकास से उनमें बुद्धि और कल्पना का विकास कुछ हद तक हो सकता है।

मान्तेसरी का मत है कि ढाई से सात वर्ष की उम्र के बालकों को व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिये, क्योंकि इससे उनकी ज्ञानेन्द्रियों का अधिकतम विकास हो सकता है। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिये मान्तेसरी ने विभिन्न साधनों की ओर संकेत किया है। मान्तेसरी सबसे पहले बच्चों को रूप और आकार का ज्ञान देना चाहती हैं। इसके लिये बच्चों से कमरे में रखी हुयी कुर्सी, मेज तथा अन्य वस्तुयें ठीक से रखवानी चाहिए। इसके बाद दरवाजा लगाना, खोलना तथा फीता आदि बाँधना सिखलाया जाता है। लकड़ी के छोटे व बड़े टुकड़ों से उन्हें लम्बाई व चौड़ाई का ज्ञान दिया जाता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि-ज्ञानेन्द्रिय शिक्षित की जाती है। रंग का ज्ञान देने के लिये उनके सामने विभिन्न रंग के चौंसठ कार्ड रखे जाते हैं। रंग को पहचान कर वस्तु का नाम बतलाने के लिये उन्हें उत्साहित किया जाता है। कोमल, कठोर, ठण्डी तथा गर्म वस्तु के सहारे उनके स्पर्शेन्द्रिय को शिक्षित किया जाता है। मान्तेसरी का विश्वास है कि एक बार में एक ही ज्ञानेन्द्रिय को शिक्षा देने का प्रयास करना चाहिये क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ इससे अधिक प्रबल होती हैं। परन्तु ज्ञानेन्द्रियों को अलग-अलग शिक्षित करने के सिद्धान्त से हम सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हें अलग करना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानेन्द्रियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं होतीं, क्योंकि एक की क्रियाशीलता का दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है।

श्रवण ज्ञानेन्द्रिय की शिक्षा के लिये डिब्बों में बालू तथा अनाज के दाने बन्द करके बजाये जाते हैं। छोटी-छोटी टिकियों से उन्हें तोल का ज्ञान दिया जाता है। उपर्युक्त बातों से जान पड़ता है कि ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें मान्तेसरी से कुछ प्रेरणा लेनी ही होगी। मान्तेसरी प्रणाली में, जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ दोष अवश्य हैं। परन्तु बालकों की ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा में उसकी उपयोगिता को हम सर्वथा अस्वीकार नहीं कर सकते। मान्तेसरी स्कूलों से प्राप्त फल इसके ज्वलत प्रमाण हैं।

आदत और चरित्र (HABIT AND CHARACTER)

आदत और चरित्र में भेद (Distinction between Habit and Character)

आदत और चरित्र एक दूसरे से सम्बन्धित जान पड़ते हैं, क्योंकि एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है। इस धारणा के आधार पर कुछ लोगों ने चरित्र को आदतों का पुञ्ज और आदतों को व्यक्ति का दूसरा स्वभाव माना है। परन्तु इस धारणा से पूर्णरूपेण हम सहमत नहीं हो सकते; यद्यपि हम यह जानते हैं कि आदतों का व्यक्ति के चरित्र पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। आदत और चरित्र में बड़ा भेद है। आदतें यांत्रिक होती हैं। उन पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। अनुकूल परिस्थिति के अभाव में वे हमारी सहायता नहीं कर सकतीं। परन्तु चरित्र के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। चरित्र तो सदा हमारे साथ रहता है। हमारी प्रत्येक गति का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आदत से व्यक्ति को कोई ऐसी शक्ति नहीं प्राप्त होती जिससे उसके सारे कार्य निर्धारित होते रहें। परन्तु चरित्र तो व्यक्ति के सारे जीवन-सिद्धान्त का निचोड़ होता है और उसी के अनुसार वह अपने जीवन का विभिन्न व्यापार चलाता रहता है। विवेक के अनुसार जो कार्य किया जाता है उससे अच्छी आदतें पड़ने की सम्भावना रहती है; और तब ये अच्छी आदतें हमारे चरित्र के अंग हो सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र और आदतों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी वे एक दूसरे से भिन्न हैं। नीचे के विवरण से दोनों के स्वरूप और दोनों के भेद का स्पष्टीकरण स्वतः हो जायगा।

आदत (Habit)

मूलप्रवृत्ति (Instinct) और आदत की तुलना से आदत का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। अतः नीचे हम इसी तुलना पर लिख रहे हैं—

आदत और मूलप्रवृत्ति—व्यक्ति में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती हैं :—स्वाभाविक और अर्जित। मूलप्रवृत्तियाँ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं और आदतें

अर्जित । प्राणी मूलप्रवृत्तियाँ अपने जन्म के साथ लाता है, परन्तु आदतें वह जन्म के बाद सीखता है । मूलप्रवृत्तियों की तरह आदतें एक अर्जित और दूसरी भी पशु और मनुष्य दोनों में पाई जाती हैं । परन्तु अर्जित स्वाभाविक, दोनों से होने के कारण प्राणियों और व्यक्तियों की आदतों में भारी व्यक्ति अभिप्रेरित भेद पाया जाता है । जिस प्रकार मूलप्रवृत्तियों के वशीभूत हो प्राणी विभिन्न कार्य किया करता है ; उसी प्रकार आदतों के वश भी विभिन्न कार्यों की ओर वह अभिप्रेरित होता है । उदाहरणार्थ, अफीम और शराब सेवन के आदत के वशीभूत व्यक्ति निश्चित समय पर उसका सेवन करेगा ही । एक स्थान पर भूसा खाने वाला बैल छूटने पर भूसा खाने के लिये उसी स्थान पर आता है ।

आदत किसी मूलप्रवृत्ति की प्रेरणा-स्वरूप पड़ सकती है । अतः आदत पड़ने की कोई स्वतन्त्र प्रेरणा मानना कठिन है । परन्तु इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि आदत का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं । जैसा ऊपर आदतें भी हमारे मान- कहा गया है, आदत भी व्यक्ति को किसी विशिष्ट क्रिया-सिक संस्कार का अंग शीलता की ओर अभिप्रेरित करती है । मूलप्रवृत्ति की तरह आदत भी व्यक्ति के मानसिक संस्कार का एक अंग हो जाती है, क्योंकि आदतवश व्यक्ति एक निश्चित समय पर एक निश्चित क्रियाशीलता के लिये अभिप्रेरित होता ही है । जिसे सुबह अखबार पढ़ने की आदत है, वह सुबह बिना अखबार पढ़े चैन नहीं पा सकता । जिसे शाम को संगीत-चर्चा की आदत है, वह सुबह बिना अखबार पढ़े चैन नहीं पा सकता । जिसे शाम को संगीत-चर्चा की आदत है वह शाम को संगीत-चर्चा में लीन होगा ही ।

मनुष्य में आदतों का विकास अधिक सम्भव होता है, क्योंकि उसकी मूल-प्रवृत्तियों में पशुओं की अपेक्षा अधिक परिवर्तन लाया जा सकता है । किसी कार्य का प्रभाव हमारे मस्तिष्क के ज्ञात चेतना और अज्ञात अनुभवों पर निर्भर चेतना दोनों भागों पर पड़ता है । परन्तु यह प्रभाव जितनी ही दृढ़ता से अज्ञात चेतना पर पड़ता है उतनी ही दृढ़ता से आदत पड़ जाती है । इस प्रकार आदत का पड़ना व्यक्ति के विभिन्न प्रकार के अनुभवों पर निर्भर करता है ।

आदत की विलक्षणतायें (Characteristics of Habits)

आदतों की अधोलिखित चार विलक्षणताओं की ओर बहुधा संकेत किया जाता है :—

- १—एकरूपता (Uniformity)
- २—सुगमता (Facility)

३—रुझान (Propensity)

४—ध्यान स्वातन्त्र्य (Independence of attention)

(१) एकरूपता—आदतवश व्यक्ति जो काम करता है उसमें बहुधा एकरूपता होती है। आदतवश व्यक्ति एक विशिष्ट प्रकार से लिखता है, चलता है, बोलता है, अथवा बैठता है। अतः उसके इन सब कार्यों में एकरूपता पाई जाती है। 'लिखावट' अथवा 'चलना' आदि देखकर हम यह पहचान जाते हैं कि वह लिखावट अथवा चलना किसका है।

(२) सुगमता—आदतवश किये जाने वाले कार्य में व्यक्ति बड़ी सुगमता का अनुभव करता है। आदत डालने में तो अवश्य कठिनाई होती है, परन्तु आदत पड़ जाने पर कार्य बड़ा ही सुगम हो जाता है। उदाहरणार्थ; आदत के पड़ जाने पर तबला बजाना अथवा टाइप करना बड़ा सुगम हो जाता है।

(३) रुझान—आदत पड़ जाने पर किसी कार्य के लिये व्यक्ति की एक रुझान हो जाती है। समाचार-पत्र पढ़ने की आदत पड़ जाने पर व्यक्ति की उस ओर एक रुझान हो जाती है और उसके बिना उसे चैन नहीं मिलता। स्कूल जाने की आदत पड़ जाने पर स्कूल जाने के लिए बालक में एक रुझान आ जाती है। आदत पड़ने के पूर्व जो कार्य व्यर्थ और अरुचिकर लगता है वही आदत पड़ जाने पर रुचिकर हो जाता है और व्यक्ति में उसके लिए एक रुझान उत्पन्न हो जाती है।

(४) ध्यान-स्वातन्त्र्य—आदतवश किये जाने वाले कार्य में ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। स्त्रियाँ आदतवश स्वेटर बुनते समय बातचीत करती रहती हैं, क्योंकि स्वेटर बुनने में अब उन्हें ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

आदत का हमारे जीवन में महत्त्व

(Importance of Habit in our Life)

हमारे अनेक आचरण हमारी विभिन्न आदतों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। यदि कोई बुरी आदत पड़ गई तो उससे पिण्ड छुड़ाना बड़ा ही कठिन होता है। बीड़ी, सिगरेट तथा अन्य मादक वस्तुओं की आदत पड़ जाने पर उन्हें छोड़ना व्यक्ति के लिए बड़ा ही कठिन हो जाता है। पिंजड़े से छोड़ा हुआ शक्ति का संचय और तोता फिर पिंजड़े में ही आ बैठता है। अभ्यस्त घोड़ा स्वतः वृद्धि, आदत का दास स्वामी को घर पहुँचा देता है। जब पशु का जीवन आदतों नहीं से इतना प्रभावित होता है तो मानवीय जीवन का क्या कहना ? बहुत दिन तक जेल में रहने वाले कैदी मुक्त किये जाने पर फिर जेल में ही रहने की इच्छा प्रकट करने हैं। फ्रान्स की राजक्रान्ति में वर्षों बाद बेस्टील नामक कारागृह से मुक्त किये जाने पर कैदियों ने बेस्टील में ही जीवन बिता देने की इच्छा प्रकट की। ग्राम्य-जीवन से अभ्यस्त व्यक्ति शहरी जीवन से दूर रहना चाहता है। यदि प्रारम्भ में ही बालकों में कुछ अच्छी आदतें डाल दी जाती हैं तो वे उनमें स्थायी हो जाती हैं। बालक के मस्तिष्क में संस्कारों का प्रभाव

बड़े शीघ्र पड़ता है। अतः बचपन में आदतों का डालना बड़ा सरल होता है। इसी-लिए तो बच्चे पढ़ना-लिखना शीघ्रतर सीख लेते हैं, और प्रौढ़ों को सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। संगीत का थोड़ा-थोड़ा नित्य अभ्यास करते रहने से कोई व्यक्ति कभी बड़ा संगीतज्ञ हो सकता है। लिखने का अभ्यास करते रहने से एक दिन लेखक बन जाना सम्भव हो सकता है। अतः आदत से हम अपनी शक्तियों का संचय और वृद्धि कर सकते हैं। पर हमें आदत का कभी दास नहीं होना है। आदत का स्वामी बनना आवश्यक है। आदत का दास बन जाने पर व्यक्ति को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसा प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा।

आदत डालने के नियम (Rules for Forming Habits)

विलियम जेम्स ने आदत डालने के लिए चार नियमों का उल्लेख किया है। उन्हें यहाँ दे देना उपयुक्त दिखलाई पड़ता है :

१. संकल्प की दृढ़ता—आदत डालने में संकल्प की दृढ़ता का बड़ा भारी महत्त्व है। संकल्प करने से व्यक्ति अपने में क्या-क्या आदतें नहीं डाल सकता ? संकल्प कर लेने के बाद यह चेष्टा होनी चाहिए कि आदतें उपयोगिता समझाकर डालने का एक अवसर भी हाथ से न जाने पावे। अच्छा महापुरुषों के जीवन से होगा यदि बालक को किसी विशिष्ट आदत की जीवन में उदाहरण देना उपयोगिता समझा दी जाय। इस प्रकार का समझाना उपदेश के रूप में नहीं होना चाहिए। यदि इस सम्बन्ध में महापुरुषों के जीवन से दृष्टान्तों का सहारा लिया जाय तो बालकों में अच्छी आदतों के डालने की संकल्प-दृढ़ता आ जायगी।

२. कार्यशीलता—सामने आदर्श रख देने के बाद उसके कार्यान्वित करने के लिए बालक को समुचित प्रेरणा देना आवश्यक है। कोरे आदर्शों और सिद्धान्तों से काम नहीं चलता। उनके अनुसार कार्य करना आवश्यक है, अन्यथा वांछित आदत न पड़ सकेगी। कभी-कभी देखा जाता है कि कुछ अभिभावक और शिक्षक बालकों के समक्ष लम्बी-लम्बी बातें कर जायेंगे, परन्तु अपने सिद्धान्तों के अनुसार चलने में बड़े असमर्थ दिखलाई पड़ते हैं। ऐसे लोगों से बालक अच्छी आदत के बदले बुरी ही आदतें सीखता है। अतः अच्छी आदत डालने के लिए यह आवश्यक है कि किसी विशिष्ट आदर्श के प्रति अभिभावक स्वतः क्रियाशील रहते हुए बालकों को उसे अपनाने के लिए आवश्यक प्रेरणा दें।

३. संलग्नता—संलग्नता बिना आदत का पड़ना बड़ा कठिन है। कार्य प्रारम्भ कर देने के बाद उसमें संलग्न रहना तब तक आवश्यक है जब तक आदत पक्की न हो जाय। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि गुण के लिए कभी भी अवकाश नहीं है।

४. अभ्यास—आदत पड़ जाने पर उसका जारी रखना बड़ा आवश्यक है, अन्यथा आदत गायब हो सकती है। यह प्रायः प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा कि किसी कार्य का अभ्यास छूट जाने पर तत्सम्बन्धी आदत का लोप हो जाता है। संगीतज्ञ जब अभ्यास छोड़ देता है तो वह राग भूलने लगता है। अभ्यास के अभाव में टाइपिस्ट और स्टेनोग्राफर की गति बड़ी धीमी पड़ जाती है। स्पष्ट है कि आदत को पुष्ट रखने के लिए उसका अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

बुरी आदतें स्वतः क्यों आ जाती हैं ?

(Why are Bad Habits Formed ?)

मनोविश्लेषकों की खोज से उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर हमें मिलता है। कुछ लोगों में अनायास कुछ बुरी आदतें मिलती हैं। उन्होंने जान-बूझकर उन्हें अपनाने के लिए निरन्तर अभ्यास उस प्रकार नहीं किया है जैसे संगीतज्ञ या टाइपिस्ट करता है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि ये आदतें कुछ ऐसी मानसिक उलझनों (Complexes : भावना-ग्रन्थियाँ) के कारण पड़ती हैं जिनसे व्यक्ति अपनी चेतना (Consciousness) में अवगत नहीं रहता। इन मानसिक उलझनों के सुलभाव से ही उन बुरी आदतों से व्यक्ति का छुटकारा हो सकता है। मनोविश्लेषणवादी (Psychoanalysts) के अनुसार ऐसी आदतें अभ्यास के आधार पर नहीं बरन् किसी संवेग के आधार पर पड़ती हैं। किसी बालक में चोरी करने अथवा झूठ बोलने की आदत होती है। ऐसी आदत उसमें किसी विकृत संवेग के कारण आती है। इसी प्रकार अच्छी आदतें उसमें अच्छे संवेगों के कारण आती हैं। बुरी आदतों को दूर करने के लिए तत्सम्बन्धी विकृत संवेग का पता लगाकर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि विकृत संवेग नष्ट हुआ तो मानसिक उलझनों स्वतः सुलभ जायेंगी। मानसिक उलझनों के दूर होने का तात्पर्य बुरी आदतों का नष्ट होना है। हैडफील्ड¹ के अनुसार “मानसिक उलझनों के हटने पर आदतें वैसे ही भाग जाती हैं जैसे बिजली के प्रकाश से अन्धेरा गायब हो जाता है। यदि बुरी आदतें दूर न हुईं तो इसका अर्थ यह हुआ कि मानसिक उलझनों का अभी नाश नहीं हुआ है। संवेगात्मक जीवन में वाञ्छित परिवर्तन आ जाने से व्यक्ति का बुरी आदतों से स्वतः उद्धार हो जाता है। मानसिक उलझनों के सुलभाव में कई सप्ताह अथवा महीने लग सकते हैं, पर उनके सुलभाव से आदतें स्वतः भाग जाती हैं।” स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति की बुरी आदतों को दूर करने के लिए हमें तत्सम्बन्धी मानसिक उलझन का पता लगाना चाहिए।

¹ Hadfield, J. A.—Psychology and Morals, p. 49, Methuen & Co-Ltd., London, 1951.

कुछ आदतों को दूर करने के उपाय (Devices for Removing Some Habits)

चोरी करना—कुछ बालकों में साधारण से साधारण वस्तुयें चुराने की आदत पड़ जाती है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि चुराने की आदत काम-मूलप्रवृत्ति के अवदमन के कारण पड़ती है। चुराने में उसे अभिभावकों का अमनो-काम-भावना की तृप्ति के संवेग का अनुभव होता है। कुछ वैज्ञानिक व्यवहार इसका बालक अपने मित्रों की वस्तुओं को चुरा लेते हैं। मनो-कारण विश्लेषकों के अनुसार यह आदत किसी प्रकार मँथुन में क्रूर व्यवहार करने की उनकी प्रवृत्ति का द्योतक है। परन्तु प्रश्न यह है कि बालक घर की वस्तुओं को क्यों चुराता है, पिता के जेब से वह कैसे क्यों चुराता है? माँ के गहने चुराकर वह क्यों बेच आता है? वस्तुतः इस प्रकार की चोरी का प्रधान कारण अभिभावकों का अमनोवैज्ञानिक व्यवहार है। अभिभावकगण उपयुक्त अवसर पर बालकों पर समुचित नियन्त्रण रखने में असमर्थ होते हैं। वे कभी बहुत लाड़-प्यार दिखलाते हैं, और कभी अनायास उन्हें अपने क्रोध का भाजन बनाते हैं। किसी वस्तु के माँगने पर बालक को उसके विषय में झिड़क दिया जाता है अथवा झूठी बातें की जाती हैं। उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं की जाती है। फल यह होता है कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अथवा प्रतिशोध-भावनावश अभिभावकों को तंग करने के लिए वे घर की वस्तुतें चुराया करते हैं। फिर यह आदत बढ़ होकर अन्य परिस्थितियों में भी बालक को चोरी करने के लिए अभिप्रेरित करती है। अतः चोरी की आदत छुड़ाने के लिये बालकों की मानसिक उलझनों को समझ कर तदनुसार उसकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति करना है।

धूम्रपान—बालक धूम्रपान की आदत अपने से बड़ों के अनुकरण से अपनाता है। वह समझता है कि धूम्रपान करना बड़े लोगों का चिह्न है। अतः अपने को कुछ बड़ा दिखलाने के लिये भी कभी-कभी वह धूम्रपान का अभ्यस्त हो जाता है। मिल या फैंकटोरियों में काम करने वाले बालकों में बीड़ी अथवा सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है। यह अनुकरण का परिणाम होता है। बहूतों में धूम्रपान की आदत किशोरावस्था में पड़ती है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि यह उनकी वासना-प्रवृत्ति की सन्तुष्टि का सांकेतिक चिह्न है। कहना न होगा कि बालकों के सामने यदि धूम्रपान करने का बुरा उदाहरण न रक्खा जाय तो उनमें यह आदत न आयेगी। उनमें यह आदत आ जाने पर इसके बुरे परिणाम को उन्हें समझाया जाय और उनके सामने स्वयं धूम्रपान न किया जाय तो उनकी धूम्रपान की आदत जा सकती है।

चिढ़ाना—कुछ बालकों में दूसरों को चिढ़ाने अथवा तंग करने की आदत

आ जाती है। जिन्हें अपने अभिभावकों अथवा शिक्षकों का प्यार और आदर नहीं मिलता वे उन लड़कों को तंग किया करते हैं जिन्हें दूसरों का आत्म-प्रकाशन का प्यार और आदर मिलता है। दूसरों को सम्मानित होते देख अवसर देना उनमें ईर्ष्या-भावना जागृत हो जाती है वे भी चाहते हैं कि लोग उसकी योग्यता को समझें और उन्हें प्यार और आदर दें। परन्तु अपनी इस इच्छा की पूर्ति होते न देखकर वे चिढ़ जाते हैं, और ऊधम मचाना या दूसरों को चिढ़ाना वे प्रारम्भ कर देते हैं। यदि ऐसे बालकों को आत्म-प्रकाशन का समुचित अवसर दिया जाय तो उनकी यह बुरी आदत दूर हो सकती है, क्योंकि तब वे समझेंगे कि उन्हें भी आदर और प्यार दिया जा रहा है।

भूठ बोलना—बालक में भूठ बोलने की आदत के कई कारण हो सकते हैं। कभी-कभी यह देखा जाता है कि बालक किसी वस्तु का गलत वर्णन करता है। इसे भूठ बोलना नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वह यह वर्णन कल्पना की उड़ान के अपनी ऊँची कल्पना को उड़ान में करता है। बालक की कारण धारणा-शक्ति (Power of Retention) बहुत प्रबल नहीं होती। किसी वस्तु को देखने के बाद तत्सम्बन्धी बातें उसे अच्छी तरह याद नहीं रहतीं। उस वस्तु के वर्णन में वह भूठ न बोलकर गलती करता है। अतः ऐसे अवसर पर बालक पर भूठ बोलने का अपराध नहीं लगाना चाहिए। अच्छा होगा यदि सहानुभूतिपूर्वक उसे सारी बातें ठीक-ठीक समझा दी जायें।

कभी-कभी बालक दूसरों के अनुकरण से भी भूठ बोलना प्रारम्भ कर देता है और धीरे-धीरे उसकी भूठ बोलने की आदत हो जाती है। जिस घर के लोग बातचीत में अपने भूठे सम्मान की रक्षा के लिए भूठ बोला करते हैं उनका अनुकरण से उनके लड़कों में भूठ बोलने की आदत आ ही जाती है। अतः यह आवश्यक है कि बालकों के सामने गलत उदाहरण न रक्खा जाय।

दण्ड के भय से कुछ बालक भूठ बोलना सीख लेते हैं। जिन बालकों पर बात-बात में अभिभावकों की डाँट या मार पड़ा करती है वे उससे बचने के लिये भूठ बोल सकते हैं। उदाहरणार्थ, बाजार से कुछ खरीद करके बालक लौटा तो उससे पूछा गया कि अमुक वस्तु क्यों नहीं लाये तो दण्ड के भय से वह भूठ बोल सकता है कि वह वस्तु बाजार में है ही नहीं, यद्यपि उसके विषय में दुकानदार से पूछना ही वह क्यों न भूल गया हो।

बालक कभी-कभी आत्म-प्रकाशन के लिये मन-गढ़न्त बातें किया करता है। जब साधारणतः उसकी अवहेलना की जाती है और उसे अपेक्षित प्रशंसा नहीं मिलती

तो दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये वह झूठी बातें कर सकता है। माता-पिता के कठोर व्यवहार से जब बालक की स्वाभाविक इच्छाओं का दमन होता है तो वह आत्म-प्रकाशन के लिए झूठ बोलने का अम्यस्त हो सकता है। अतः बालकों की स्वाभाविक इच्छाओं का अवदमन करना बड़ा हानिकारक सिद्ध हो सकता है। इच्छाओं के अवदमन से आत्म-प्रकाशन की स्वाभाविक क्रियाशीलता रुक जाती है और बालक झूठ की आड़ में आत्म-प्रकाशन की चेष्टा करता है। बालक को झूठ की आदत छुड़ाने के लिए उसे दण्ड देना हानिकारक है। दण्ड से झूठ बोलने की आदत प्रायः बढ़ती है, क्योंकि दण्ड से उसके आत्म-प्रकाशन में और रुकावट पड़ती है। अतः झूठ बोलने की आदत छुड़ाने के लिए आत्म-प्रकाशन का अवसर देना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

कुछ अभिभावक स्वयम् अनजान में बालक में झूठ बोलने की आदत डालते हैं। पैसा रहते हुये भी जब वे कहते हैं कि पैसा नहीं है, अथवा घर में उपस्थित रहते हुए भी जब वे कहलवा भेजते हैं कि वे घर पर नहीं हैं तो बालक समझता है कि झूठ बोलना बुरा नहीं है और अपना काम निकालने के लिये इसका अवलम्बन लिया जा सकता है। फलतः बालक में झूठ बोलने की आदत आ जाती है।

रूसो का कहना है कि यदि बालक की सत्य बात पर भी विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो बालक तंग आकर झूठ बोलना स्वयम् छोड़ देगा। किसी अवसर-विशेष पर किसी झूठ के लिये दण्ड दिया जा सकता है, परन्तु इसका आधिक्य नहीं होना चाहिये। हमें यह याद रखना है कि बालक के प्रत्येक झूठ में कोई उसकी अतृप्त इच्छा छिपी हुई है। अतः झूठ की आदत निकालने के लिये हमें उस अतृप्त इच्छा को समझना है और उसके स्वाभाविक पूर्ति के लिए समुचित आयोजन करना है। यदि यह आयोजन हो सका तो झूठ बोलने की आदत बालक से स्वतः दूर हो जायेगी। झूठ न बोलने के लिये बार-बार उपदेश देने का परिणाम उलटा हो सकता है। जो स्वयम् झूठ बोला करते हैं और बालकों को झूठ न बोलने का उपदेश दिया करते हैं उनके उपदेश का बालकों पर उलटा प्रभाव पड़ता है और बालक से झूठ बोलने की आदत दूर नहीं होती। अतः उपदेश के स्थान पर यदि उनके सामने व्यक्तिगत व्यावहारिक उदाहरण रक्खा जाय तो अधिक लाभ होगा।

परन्तु हमें यह याद रखना है कि बालकों के जीवन से झूठ को हम एकदम अलग नहीं कर सकते। बालक कहानियों में बड़ी रुचि रखते हैं। परन्तु कहानियों में एक प्रकार से सब झूठ का ही जाल रहता है। ऐसी कहानियों के पढ़ने अथवा सुनने से बालकों में कल्पना-शक्ति का विकास होता है। इन कहानियों के झूठे आवरण के

झूठ की उपयोगिता

अन्तर्गत सत्यता कूट-कूटकर भरी रहती है। इस सत्यता का मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। तभी तो बालकों को वे बड़ी रुचिकर लगती हैं और उनसे उनकी कल्पना-शक्ति का विकास होता है। अतः इस प्रकार के भूट की बालकों के जीवन में उपयोगिता है, और इसे उसके अनुभव से अलग करना उसके स्वाभाविक विकास में रुकावट डालना होगा।

चरित्र (Character)

चरित्र और मूलप्रवृत्तियाँ—चरित्र अच्छा और बुरा दोनों होता है। पर नैतिक दृष्टि से चरित्र का तात्पर्य सदा अच्छे ही चरित्र से लिया जाता है। जब यह कहा जाता है कि वह चरित्रवान् है तो इसका अर्थ यही होता है कि वह अच्छे चरित्र का है। अतः 'चरित्र' शब्द का प्रयोग यहाँ अच्छे चरित्र के अर्थ में किया जा रहा है। चरित्रवान् व्यक्ति में सङ्कल्प-शक्ति और आत्म-गौरव का स्थायीभाव कूट-कूटकर भरा होता है। ऐसा व्यक्ति सदा अपने एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है। चरित्रवान् व्यक्ति किसी कार्य को अपना कर्तव्य समझ कर करता है। जो कुछ कम चरित्र के होते हैं वे किसी कार्य को पुरस्कार, प्रशंसा अथवा दण्ड के भय से कर सकते हैं। जो व्यक्ति पशुवत् होते हैं उनके कार्य बहुधा मूलप्रवृत्तियों द्वारा ही अभिप्रेरित होते हैं। मूलप्रवृत्तियाँ तो सभी व्यक्तियों में पाई जाती हैं। परन्तु उनकी प्रबलता में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। किसी में एक प्रवृत्ति प्रबल होती है तो दूसरी निर्बल। अपने-अपने विकास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्न मूलप्रवृत्तियों की प्रबलता भिन्न प्रकार की होती है। चरित्र की नौवें मूलप्रवृत्तियों में पाई जाती है, क्योंकि मूलप्रवृत्तियों के शोधन से ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है। चरित्र पर हमारे सभी अनुभवों और मूलप्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है। अतः आदर्श-चरित्र के लिये हमें बालकों के मूल-प्रवृत्त्यात्मक प्रकाशन तथा विभिन्न अनुभवों पर कड़ी मनो-वैज्ञानिक दृष्टि रखनी होगी।

चरित्र और संवेग—सचरित्र व्यक्ति अपने आदर्शों से अपना आत्मसात कर लेता है। फलतः अपने आदर्शों की रक्षा के लिए वह अपने सब कुछ की बाजी लगा सकता है। मानव व्यवहार कभी-कभी संवेगों द्वारा भी नियन्त्रित होता है, क्योंकि मनुष्य सदा विवेक के अनुसार ही नहीं चल सकता है, बड़े-बड़े विवेकी अवसर पर चुपचाप मार कर बैठे रहते हैं। वे क्रियाहीन दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि उनमें अवसरानुसार उपयुक्त संवेगों का अभाव रहता है। चरित्रवान् व्यक्ति का अवसरानुसार क्रियाशील होना आवश्यक है। अतः यह आवश्यक नहीं कि सिद्धान्त वाला व्यक्ति सचचरित्र होगा ही। इसीलिए तो कभी-कभी यह देखा जाता है कि बड़े-बड़े सिद्धान्त भाड़ने वाले अवसर पर बगलें झाँकने लगते हैं। सिद्धान्त को कार्यान्वित

करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है और यह शक्ति संवेग से ही आती है। अतः स्पष्ट है कि चरित्र और संवेग में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरित्र और संकल्प-शक्ति (Character and Will)—ऊपर हम कह चुके हैं कि चरित्रवान् व्यक्ति में संकल्प-शक्ति कूट-कूटकर भरी होती है। वस्तुतः चरित्र की प्रबलता तो संकल्प-शक्ति की प्रबलता पर ही निर्भर दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध करती है। चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य में आवेश और हठ नहीं होता। आवेश और हठ तो संकल्प-शक्तिहीनता का परिचायक होता है। अतः बालक को चरित्रवान् बनाने के लिए उसमें हमें दृढ़ संकल्प शक्ति डालनी चाहिए। चरित्र के विकास के लिए बालक को ऐसा वातावरण दिया जाय कि वह अपनी संकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव न करे। उसे ठीक पथ को स्वयं खोज निकालने की प्रेरणा देनी चाहिए। इससे उसकी संकल्प-शक्ति का विकास होगा और चरित्र-बल बढ़ेगा। उसे कठिनाइयों का प्रसन्नता से सामना करना सिखलाना चाहिए। उसके सामने विभिन्न समस्याएँ रखनी चाहिए, जिससे वह उलझन में पड़कर अपने विवेक और तर्क का विकास करते हुए उसका समाधान निकाले। संकल्प-शक्ति के विकास के लिए हमें सतत् प्रयत्न करते रहना है। बहुत से व्यक्ति अपने विवेक का सदुपयोग नहीं कर पाते। यह उनकी संकल्प-शक्तिहीनता होती है। जैसे व्यायाम से शरीर को पुष्ट बनाया जा सकता है उसी प्रकार अभ्यास से संकल्प-शक्ति को भी प्रबल बनाया जा सकता है जैसे बूँद-बूँद से सागर भरता है उसी प्रकार साधारण से साधारण बातों पर ध्यान देने से ही संकल्प-शक्ति अथवा चरित्र का विकास होता है। छोटी-छोटी बातों को अनावश्यक समझ उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने में चरित्र का विकास होता है। जो छोटी बातों पर ध्यान नहीं दे सकता वह बड़ी बातों पर भी ध्यान नहीं दे सकता। अभिभावकों और शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि संकल्प-शक्ति अर्थात् चरित्र के विकास के लिए एक अवसर भी उनके हाथ से न जाने पावे।

मूलप्रवृत्तियों की तरह संकल्प-शक्ति के तीन अंग माने जा सकते हैं :— ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक। अच्छे चरित्र के विकास के लिए हमें प्रत्येक अंग पर समुचित ध्यान देना है। ज्ञानात्मक अंग पर ध्यान देने का तात्पर्य बालक को आवश्यक ज्ञान देना है जिससे किसी काम में हाथ लगाने के पूर्व उसके परिणाम का वह कुछ अनुमान लगा सके, अन्यथा आवेशवश कार्य प्रारम्भ कर देने का परिणाम घातक हो सकता है। आवेश को दबाकर आत्म-संयम से काम लेना आवश्यक है। सच्ची संकल्प-शक्ति के अन्तर्गत आत्म-संयम की भावना निहित रहती है।

संकल्प-शक्ति के संवेगात्मक अंग पर ठीक से ध्यान देने से व्यक्ति में ऐसी भावुकता आ सकती है कि किसी कार्य के आरम्भ करने में वह हिचक सकता है, तब वह अपने व्यक्तिगत भावों में ही मग्न हो जाता है और वास्तविक कार्य की अव-

हेलना कर बैठता है। उदाहरणार्थ, देश-भक्ति की भावुकतावश व्यक्ति अपने ही भावों में डूबा रह सकता है और देश के लिए कुछ करने में असमर्थ हो सकता है। यही बात प्रेम की भावुकता के विषय में कही जा सकती है। स्पष्ट है कि संवेगात्मक अंग की यह प्रबलता संकल्प-शक्ति के उद्देश्य को नीचे गिरा देती है।

संकल्प-शक्ति के क्रियात्मक अंग पर ध्यान देने का तात्पर्य यह है कि बालक को नित्य कुछ ऐसे कार्य देने चाहिए जिससे वास्तविकता से उनका परिचय होता रहे। इस प्रकार संकल्प-शक्ति के ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक तीनों अंगों के सामंजस्यपूर्ण विकास से ही चरित्र का विकास सम्भव है।

चरित्र-विकास में नैतिक शिक्षा का स्थान (The Place of Moral Education in Character Development)—नैतिक शिक्षा का चरित्र-विकास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु नैतिक शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना बड़ा कठिन सिद्ध हुआ है। स्कूल के अन्य विषयों की शिक्षा के आयोजन में विशेष कठिनाई नहीं होती, क्योंकि उनके लिए शिक्षक मिल जाते हैं। परन्तु नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में यह समस्या बड़ी विकट हो जाती है। इसके लिये योग्य शिक्षकों का पाना अत्यन्त कठिन है। नैतिक उपदेश देने के पूर्व शिक्षकों को उन्हें स्वयं अपने व्यवहार में कार्यान्वित करके दिखलाना चाहिये, अन्यथा उनके उपदेश का उलटा परिणाम होगा। इसी अध्याय में हम कह चुके हैं कि उपदेश से उदाहरण अच्छा होता है। अतः नैतिक शिक्षा के लिए हमें उनके सामने अच्छे उदाहरणों को रखना है। तभी उनमें चरित्र का अच्छा विकास हो सकता है। उदाहरण के अतिरिक्त बालकों को साहित्य अथवा इतिहास की छोटी-छोटी मनोरंजक और उपदेशात्मक कहानियाँ सुनाई जा सकती हैं। उपदेश को स्वयं शिक्षक का स्पष्ट करना ठीक न होगा। सारी बातें शिक्षक कह दे। उससे किसी शिक्षा का निकालना और सीखना तो बालक का काम होना चाहिए।

चरित्र-विकास में निर्देश का स्थान (The Place of Suggestion in Character Development)—निर्देश की सहायता से चरित्र में भारी परिवर्तन लाया जा सकता है। यदि सदा बालक को यह निर्देश निर्देश का भारी प्रभाव मिलता रहे कि उसे एक दिन बड़ा आदमी होना है और जीवन में उसे कुछ कर दिखलाना है तो निश्चय वह एक दिन बड़ा आदमी होकर कुछ कर दिखाएगा। इसके विपरीत निर्देश पाने पर परिणाम एकदम उलटा होगा और बालक अधोगति के गर्त में गिर जायगा। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को चाहिए कि वे बालक को अच्छे-अच्छे निर्देश देते रहें। बालकों के लिए स्वस्थकर निर्देश के वातावरण का आयोजन कर देना उनके चरित्र को ऊँचा उठाना है। इतिहात इसका साक्षी है। कुछ अर्थ में बालक एक छोटे पौधे के समान है। जिस प्रकार जरा सी हवा बहने से छोटा पौधा प्रभावित हो

जाता है उसी प्रकार साधारण सी बात का भी बालकों पर असर पड़ जाता है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों के मुँह से केवल वही बात निकलनी चाहिए जिससे बालक किसी ऊँचे आदर्श की ओर अग्रसर होकर अपने उच्च-चरित्र के निर्माण में सफल हो सकें।

चरित्र-विकास में अनुकरण का स्थान (The Place of Imitation in Character Development) — गत पृष्ठों में हम कई बार कह चुके हैं कि बालक बड़ा अनुकरणशील होता है। अपने अभिभावकों और शिक्षकों की बातों को वह आदर्श मानकर उनके अनुकरण की वह चेष्टा करता है। अतः बालकों के सामने हमें बड़ी सतर्कता से रहना है। उनके सामने कोई ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जिससे वे कोई अवांछित बात सीख सकें। यदि उनके सामने अच्छी ही बातें रक्की गईं तो उनके चरित्र में अनुकरण के फलस्वरूप अच्छे ही गुण आयेंगे।

चरित्र-विकास में दण्ड का स्थान (The Place of Punishment in Character Development) — ममफोर्ड का कहना है कि “दण्ड यदि प्रभाव डाल सका तो वह केवल गलत कार्य के करने से व्यक्ति को रोक सकता है, परन्तु उचित भावना नहीं उत्पन्न कर सकता।” हम कह चुके हैं कि दण्ड का बालक पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इससे उसकी भावनाओं के अवदमित होने का डर रहता है। तथापि इतना तो कहना ही पड़ेगा कि दण्ड को एकदम वहिष्कृत नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो दण्ड देने की आवश्यकता मालूम ही पड़ती है। डम्ब्रिल² का कथन है कि “कभी केवल दण्ड ही ऐसा साधन दिखलाई पड़ता है जिससे कोई अवांछित आचरण रोका जा सकता है। परन्तु दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिए जब अन्य साधन असफल हो जायँ।” दण्ड का उद्देश्य बदला लेना न होकर सुधार करना होना चाहिए। यदि आवश्यक जान पड़े तो चरित्र के निर्माण में दण्ड देना हानिकर नहीं। ऐसे ही अवसरों पर पेस्टालॉजी दण्ड देने का समर्थन करता है। वह कहता है “यदि स्कूल एक घर है तो उसमें दण्ड दिया जा सकता है, क्योंकि माता-पिता भी तो दण्ड दिया ही करते हैं। माता-पिता के दण्ड देने पर बालक को ग्लानि नहीं होती, क्योंकि उसे उनसे अभिप्राय में कभी सन्देह नहीं होता। शिक्षक का व्यवहार ऐसा ही हो कि दण्ड देने पर बालक उनके आशय में सन्देह न कर सके। बहुत अच्छा होता यदि दण्ड की आवश्यकता ही न उठती, क्योंकि दण्ड का प्रभाव देने और पाने वाले दोनों पर बुरा पड़ता है। अतः जहाँ तक संभव हो इसे दूर ही करने की चेष्टा करनी चाहिए।”³

¹ Mumford—The Dawn of Character, p. 114.

² Dumville—Fundamentals of Child Psychology. p. 242.

³ लेखक द्वारा रचित “पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास” (तृतीय संस्करण), पृ० ३२३, प्रकाशक—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५६।

चरित्र-विकास में लाड़-प्यार का स्थान (The Place of Affection in Character Development)—बालक के वांछित चरित्र-विकास के लिए यह आवश्यक है कि अभिभावक और शिक्षक यह समझें कि अवसर की उपयुक्तता उन्हें कब लाड़-प्यार दिया जाय। उसकी प्रत्येक इच्छा की और मनोवैज्ञानिकता पूर्ति करना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे वह हठी हो जाता है और उसका सामाजिक विकास वांछित दिशा की ओर नहीं चल पाता। जिस बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति की चेष्टा बिना समझ-बूझे की जाती है वह अपने आगे दूसरे बच्चों को कुछ समझता ही नहीं। इस प्रकार की प्रवृत्ति कुछ समय तक घर में तो चल सकती है, पर बाहर इसका चलना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि बाहर सब लोग उसे माता-पिता जैसा प्यार नहीं दे सकते। छोटे बच्चों को लाड़-प्यार अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इससे उन्हें बड़ा संतोष मिलता है और उनकी आत्म-प्रकाशन सम्बन्धी मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती है। समुचित लाड़-प्यार न पाने वाला बालक अपने को अवहेलित समझने लगता है और उसमें आत्महीनता आने लगती है। अतः यह स्पष्ट है कि चरित्र-विकास में लाड़-प्यार का विशेष स्थान है। इस सम्बन्ध में अवसर की उपयुक्तता तथा मनोवैज्ञानिकता अत्यन्त आवश्यक है।

चरित्र का विकास

(DEVELOPMENT OF CHARACTER)

व्यक्तित्व के विकास में चरित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चरित्र के मूल्यांकन के सम्बन्ध में एक विद्वान का कथन है कि यदि धन नष्ट हो गया तो कुछ भी हानि नहीं हुई और स्वास्थ्य नष्ट होने पर कुछ हानि हुई, परन्तु चरित्र के नष्ट हो जाने पर सब कुछ नष्ट हुआ मानना चाहिए। इसी तथ्य को कवि रहीम ने—

‘रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून;
पानी गये न ऊबरै, मोती मानस चून।’

कहकर स्पष्ट किया है। अतएव बच्चों के सर्वाङ्गीण विकास में चरित्र के विकास को सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त होना चाहिए और मनोवैज्ञानिक ढंग से शिशुओं के चरित्र-निर्माण एवं विकास का प्रयत्न करना केवल समाज और राष्ट्र के हित के लिए ही नहीं अपितु मानवता के दृष्टिकोण से भी परमावश्यक है। इस अध्याय में हम शिशुओं के चरित्र-निर्माण और उनके विकास की गति से परिचित होने का प्रयास करेंगे।

चरित्र का अर्थ और उसका प्रयोग

(The Meaning of Character and Its Use)

चरित्र का निर्धारण प्रायः समाज की मूल्यांकन सम्बन्धी विचारधाराओं पर आधारित है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपने कृत्यों द्वारा समाज के अधिकाधिक लोगों को लाभान्वित करके अपने व्यवहारों से बाह्य एवं आन्तरिक पक्ष उन्हें प्रसन्न कर सके। सामान्यतया चरित्र का रूप बड़ा व्यापक है, परन्तु इसे ग्राह्य बनाने हेतु आन्तरिक एवं बाह्य रूपों में विभक्त किया जा सकता है। चरित्र के आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध आकांक्षा, उद्देश्य अथवा अभिलाषा से और बाह्य पक्ष का प्रवीणता, आचरण अथवा कृत्य से है। जो व्यक्ति समाज के आदर्शों एवं मान्यताओं के अनुकूल आचरण द्वारा समाज के अधिक सदस्यों को प्रसन्न करने की क्षमता रखता है उसे समाज द्वारा सम्मान और आदर प्राप्त होता है।

'चरित्र-विकास के सिद्धान्त (Principles of Character Development)

चरित्र के निर्माण का आधार प्रायः स्वभाव, लक्षण तथा इसी प्रकार के अन्य कारकों अथवा व्यक्तित्व के विकास को माना जाता है। परन्तु गुणों एवं लक्षणों का विकास पूर्णतया सामाजिक वातावरण पर आधारित होता है। अतएव इनके मूल्यांकन हेतु वातावरण पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। किसी समाज में जिस कार्य की प्रशंसा की जाती है सम्भव है दूसरा समाज उसे निन्द्य समझता हो। ऐसी स्थिति में लक्षणों अथवा गुणों को ही चरित्र के मापदण्ड का आधार मान लेना उपयुक्त न होगा।

कुछ विद्वानों के मतानुसार चरित्र का तात्पर्य व्यक्ति की उस स्वसंचालित क्षमता से है जिसके द्वारा वह स्वनिर्धारित लक्ष्य को प्राप्ति करता है। अतएव चरित्र के विकास का अनुमान हम बालकों के उन व्यवहारों से लगा सकते हैं जो वे विभिन्न परिस्थितियों में अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु करते हैं। इस प्रकार चरित्र वह क्षमता है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति परिवर्तनशील वातावरण में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपने व्यवहारों का समायोजन (Adjustment) करते हैं।

कुछ विद्वानों ने चरित्र को नीति-शास्त्रीय मर्यादा का आवरण पहिनाने की चेष्टा की है। परन्तु हार्टशॉर्न (Hartshorne) के मतानुसार इस कथन को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि नीति-शास्त्रीय मर्यादा में चरित्र को बाँधने के फलस्वरूप एतद् सम्बन्धी शिक्षा का रूप उपदेशात्मक एवं चेतावनीपूर्ण हो जाता है और चारित्रिक शिक्षा का उद्देश्य बालकों में ऐसे भावों की उत्पत्ति करना हो जाता है जिसके अनुसार वे मान्यता-प्राप्त व्यवहारों का पालन करते रहें। इस प्रकार चारित्रिक विकास की शिक्षा का क्षेत्र सीमित हो जाता है तथा रचनात्मक ज्ञान की वृद्धि का उपयुक्त अवसर नहीं मिल पाता।

चरित्र-विकास का यह सिद्धान्त पूर्व प्रचलित स्वभावगत नीतियों के पालन से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ, समाज के किसी सम्मानित व्यक्ति के स्वभावों का अनुकरण करके चरित्र का विकास किया जा सकता है। परन्तु जातिगत स्वभाव चरित्र यह सिद्धान्त भी तर्कयुक्त प्रतीत नहीं होता। आज का समाज जिस स्वभाव को मान्य अथवा श्रेयस्कर समझता है कल अपनी परिवर्तित स्थिति में उसे अमान्य घोषित कर देता है। प्रत्येक समाज में परिवर्तन द्रुत गति से होता जा रहा है। अतएव इस परिवर्तन को दृष्टिगत रखते हुए समाज की मान्यताओं के अनुकूल अपनाये गये स्वभाव को ही आदर प्राप्त हो सकता

है। पूर्व सम्मानित स्वभावगत व्यवहारों का अनुकरण केवल स्थिर समाज के लिए ही हितकर हो सकता है। अतएव चरित्र-विकास हेतु हमें समाज के परिवर्तन की गति और उसकी परिवर्तित मान्यताओं को देखते हुए बालकों के व्यवहारों एवं स्वभावों को उस अंश तक परिवर्तित करना चाहिए जिसका समाज आदर करे।

कुछ विचारकों ने चरित्र को प्रवीणता के रूप में देखा है। इसी आधार पर चरित्र और समाज के आदर्श में एकरूपता की स्थापना की गई है। परन्तु चरित्र समाज के आदर्श के समकक्ष ही नहीं, अपितु उससे भी कुछ उच्च श्रेणी का होता है। यही कारण है कि समाज में चरित्रवानों की गणना असाधारण विभूतियों में की जाती है।

चरित्र-विकास में मनुष्य की नियंत्रण-शक्ति को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। चरित्र के वांछित विकास हेतु आवश्यक है कि सामाजिक वातावरण और परिस्थितियों को देखते हुए अपने व्यवहारों को नियंत्रित और आदर्श के अनुकूल बनाने हेतु विभिन्न प्रकरणों एवं अवस्थाओं में नकारात्मक उत्तरों का सहारा लिया जाय। इस प्रकार व्यक्ति को चारित्रिक बल तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु चारित्रिक विकास का यह सिद्धान्त केवल स्थिर समाज में ही सफल हो सकता है जिसके मूल्य एवं मान्यतायें सुनिश्चित हों। इसके अतिरिक्त चरित्र-निर्माण के इस सिद्धान्त द्वारा क्रियात्मक ज्ञान की अवहेलना भी होती है।

मानव सामाजिक प्राणी है और समाज सामाजिक व्यवहारों का ताना-बाना। अतएव मनुष्य का मूल्यांकन अथवा उसके चरित्र का परीक्षण उसके सामाजिक व्यवहारों के स्तर और प्रकार द्वारा किया जाता है। विकसित सामाजिक सम्बन्धों में चरित्र का व्यक्ति अपने समाज की रीतियों और मान्यताओं के अनुरूप रहकर समाज के हितकारी एवं समुचित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु दृढ़तापूर्वक सचेष्ट रहता है। आवश्यकतानुसार विचारपूर्वक विकल्पों को निर्धारण करके अपने व्यवहारों में वह समाज के अनुरूप अपने व्यवहारों को परिवर्तित करके सदैव समाज की रक्षा और सेवा में रत रहता है। समाज के मौलिक आदर्शों, मूल्यों एवं मान्यताओं के पालन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार चरित्र वास्तविक रूप में ऐसा प्रभावपूर्ण कारक है जो प्रत्येक सामाजिक सम्बन्धों में आदर्शात्मक रूप में उपस्थित रहता है।

चरित्र के विकास सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों से हमें उन मौलिक नियमों और आधार का ज्ञान होता है जिन पर चारित्रिक शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्मित किया जा सकता है। चरित्र के विकास के निमित्त बालकों में आदर्शात्मक स्तर के सामाजिक व्यवहारों की प्रतिष्ठा करने हेतु उन्हें समाज के अन्य व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा और आदर करने की शिक्षा प्रदान करना आवश्यक

चारित्रिक शिक्षा का रूप

है। इसी प्रकार नीति-शास्त्रीय आचरण के निर्माण हेतु ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र को आधार बनाना आवश्यक है, जिससे वे उचित और औचित्य पर निष्पक्ष निर्णय प्राप्त करके विकल्पों का समुचित रूप में निर्धारण कर सकें। उनकी निर्णयात्मक प्रवृत्ति को विकसित किया जाय जिससे वे अनुकूल अथवा विपरीत प्रकार की परिस्थितियों में दृढ़तापूर्वक अडिग रहकर कठिनाइयों का सामना करने में सफल हो सकें। उनमें व्यवहारों के अनुशीलन और सत्यासत्य के परखने की क्षमता उत्पन्न करके उनके शारीरिक विकास के अनुरूप भावात्मक तथा मानसिक विचारों में परिपक्वता लाना आवश्यक है।

चरित्र की प्रवृत्ति (The Tendency of Character)

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के मूल्यांकन हेतु उसके व्यवहारों से परिचित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में व्यवहार ही उसके व्यक्तित्व तथा चरित्र के स्तर के निर्धारण के आधार हैं। चरित्रवान् व्यक्ति अपने व्यवहारों से सदैव दूसरों को लाभान्वित एवं संतुष्ट करने की चेष्टा करता है। वह अपने आदर्शात्मक व्यवहारों से केवल अपने ही जीवन-स्तर को उच्च नहीं करता, अपितु दूसरों को भी इसकी प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करता है। वह प्रत्येक स्थिति में अपने सभी कृत्यों को यथासम्भव सर्वोत्तम रूप में सम्पादित करने की चेष्टा करता है। उत्तम चरित्र वाले व्यक्ति की यह प्रवृत्ति अपने उत्तरोत्तर चारित्रिक विकास के साथ-साथ समाज के नैतिक स्तर को उच्च करने में सहायक सिद्ध होती है।

चरित्र निर्धारण के प्रमुख कारक

(The Principal Determinants of Character)

चरित्र निर्धारण सम्बन्धी कारकों के अध्ययन के साथ-साथ हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि कोई एक कारक ही इस प्रक्रिया में नहीं कार्य करता, अपितु विभिन्न कारकों के संयुक्त प्रयास से चरित्र का निर्धारण एवं विकास होता है। वंशानुगत गुण तथा सामाजिक परिवारण चरित्र निर्धारण के प्रमुख कारक हैं। बच्चा आचरण एवं व्यवहार की शिक्षा का श्री गणेश सर्वप्रथम अपने घर में करता है। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उसका सम्बन्ध पास-पड़ोस के व्यक्तियों, वंशानुगत गुण एवं घरों, स्कूलों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं से होता जाता है वह उन संस्थाओं की मर्यादा के पालन हेतु उनके द्वारा निर्धारित नियमों और मान्यताओं के पालन करने का प्रयत्न करता है। इन्हीं प्रयत्नों द्वारा उसके आचार और व्यवहार के प्रकार का अनुमान लगाया जा सकता है। विभिन्न संस्थाओं के सम्पर्क में आने पर उनकी मान्यताओं में विभिन्नता होने के कारण पूर्व निर्धारित व्यवहारों में प्रायः परिवर्तन एवं संशोधन

भो करना पड़ता है और इसी प्रकार व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है। जल-वायु और भौगोलिक स्थितियाँ भी चरित्र के विकास और निर्माण के ऐसे कारक हैं जिनका प्रभाव चरित्र निर्धारण पर पड़ता है।

व्यक्ति में कुछ जन्मजात मूलप्रवृत्तियाँ, यथा भूख लगने पर रोना तथा भय से भयभीत होना आदि होती हैं। विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हाव-भाव एवं व्यवहारों द्वारा अपने मन्तव्यों को व्यक्त करने की क्षमता और रीति वह समाज में अन्य सामाजिक व्यक्तियों के अनुकरण एवं अनुसरण द्वारा सीखता है। इस प्रकार अनुकरण द्वारा प्राप्त ज्ञान पर ही उसकी व्यवहार-पटुता आधारित होती है। जिसकी ज्ञानराशि की मात्रा जितनी ही अधिक होती है वह उतना ही अधिक व्यवहारपटु होता है। उसे इन संचित अनुभवों द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में अपने व्यवहारों के औचित्य के परीक्षण का समुचित अवसर मिलता है। अनुभव के आधार पर कृत्याकृत्य के निर्धारण और निर्माण की सुविधा उसके चरित्र को परिपक्व बनाने में सहायक सिद्ध होती है। अपने अनुभवों के आधार पर समाज में हितों का अधिकाधिक पालन किया जा सकता है और व्यक्ति में कर्तव्य निर्धारण की क्षमता आती है जो कि चरित्र-निर्धारण और निर्माण की प्रमुख विशेषता है।

चरित्र-निर्माण एवं निर्धारण में स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और उत्तम विचार निवास करते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपराधों के कारणों की खोज में यह सिद्ध कर दिया है कि अनैतिक कार्य करने वाले व्यक्तियों के शरीर की रचना और स्वास्थ्य में विलक्षणता पायी जाती है। ऐसे व्यक्तियों में ग्रन्थियाँ होती हैं जो उन्हें अपराध करने हेतु बाध्य करती हैं। इसी प्रकार दुर्बल और अस्वस्थ व्यक्ति प्रायः चिड़चिड़े और उतावले स्वभाव के होते हैं। गम्भीरतापूर्वक किसी समस्या पर विचार करके निर्णय प्राप्त करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। स्वास्थ्य प्रायः पौष्टिक खाद्य पदार्थों के सेवन पर आधारित होता है। जिसके लिए उचित आर्थिक व्यवस्था आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सामाजिक वातावरण का भी स्वास्थ्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अतएव चरित्र-निर्धारण और संगठन में आर्थिक और सामाजिक स्तर का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चरित्र का विकास (Development of Character)

जन्मजात मूलप्रवृत्तियाँ (Native Instincts)—विकास की क्षमता प्रत्येक

मानव की जन्मजात मूलप्रवृत्ति होती है। परिपक्वता एवं अनुभव के अनुसार विकास की क्षमता की गति निर्धारित की जाती है। चरित्र के विकास की गति एवं समुचित विकास हेतु परिपक्वता को महत्त्व प्रदान करना परिपक्वता का सामंजस्य अत्यन्त आवश्यक है। परिपक्वता को दृष्टिगत करते हुए दिया गया ज्ञान अथवा अनुभव ही बच्चों के लिए हितकर हो सकता है। उनके विकास की गति प्रायः धीमी होती है और अभिभावकों की प्रबल इच्छा होती है कि उनका बच्चा शीघ्रातिशीघ्र विकास के उच्च स्तर पर पहुँच जाये। फलतः वे परिपक्वता को कोई स्थान नहीं दे पाते और बच्चे के विकास की गति से असंतुष्ट हो जाया करते हैं जिसका प्रभाव बच्चों के चारित्रिक विकास पर बुरा पड़ता है।

अपनी मूलप्रवृत्तियों के आधार पर प्रत्येक बालक अपने को वर्तमान सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाने की चेष्टा में आत्मनिरूपण करता है। इसके आधार पर उसके अभिभावक प्रायः भ्रान्तिपूर्ण निर्णय के विकास-स्तर एवं कार्य-कलाप में सामंजस्य अनुसार उसे परिपक्व समझकर विकास के उचित स्तर का निर्धारण नहीं कर पाते। उन्हें विकास की गति अति तीव्र प्रतीत होती है। परन्तु यह वास्तविकता से परे है। इस भ्रान्तिपूर्ण निर्णय के आधार पर कोमल एवं अपरिपक्व मति वाले बच्चों से असम्भावित व्यवहारों की आशा करना उनके चारित्रिक विकास की सामान्य गति में अवरोध उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अभिभावकों एवं अध्यापकों के लिए आवश्यक है कि वे बच्चे की आयु और परिपक्वता के अनुकूल ही उसके निरूपण हेतु वातावरण उपस्थित करें और विकास के स्तर एवं कार्य-कलापों में सामंजस्य स्थापित करें। आयु-विकास के स्तर और परिपक्वता तथा तदनुसार बच्चों के व्यवहारों में निम्नलिखित उदाहरणों से स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

आयु के साथ-साथ ज्यों-ज्यों बच्चों को विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों एवं कार्यों का अनुभव प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों उनके व्यवहारों में परिवर्तन आता-जाता है। आठ वर्ष की आयु का बालक यदि दूसरे की अनुभव एवं आयु के अनुसार व्यवहार कोई खोई हुई वस्तु पाता है, तो सर्वप्रथम वह सोचता है कि इसे अपने पास ही क्यों न रक्खा जाय। परन्तु पूर्व अर्जित अनुभव उसे इस निर्णय पर पहुँचने में बाधा उत्पन्न करता है और अध्यापक अथवा अभिभावकों द्वारा प्राप्त निर्देशों के अनुसार वह इस तरह की प्राप्त वस्तु को उसके वास्तविक अधिकारी को प्रदान करने की चेष्टा करता है। इस स्थिति में इससे कम आयु का बालक जिसे अधिकार निर्धारण की यह क्षमता बड़ों के निर्देशों अथवा अनुभवों द्वारा नहीं प्राप्त होती वह सम्भवतः इस प्रकार की पाई हुई वस्तु पर अपना ही अधिकार समझ बैठेगा। उससे भी अपरिपक्व बालक इसे खिलौने के रूप में प्रयोग करेगा।

बच्चों को अपने खिलौनों से अधिक प्रेम होता है। कोई दूसरा बच्चा जब उन्हें लेने की चेष्टा करता है तो प्रायः वे आपस में झगड़ा करने लगते हैं। एक बार एक बच्चे के घर दूसरे बच्चे खेलने आये। उनमें से प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा एक ने किसी खिलौने पर अपना अधिकार जमाना चाहा। आचार निर्धारण इससे आपस में झगड़ा हुआ और दूसरे घर वाले बच्चे चले गये। साथियों के चले जाने के कारण इस बच्चे का खेल समाप्त हो गया। फलतः उसे बड़ा कष्ट हुआ और उसने अपनी माँ को इस तथ्य से अवगत कराया। माँ को प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया और उसने कहा कि यदि तुम अपने खिलौने से उन बच्चों को भी खेलने दिए होते तो वे कदापि न जाते। इस अनुभव के आधार पर बच्चे ने दूसरे दिन से वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव ने उसके आचरण में बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया।

अनुभव एवं परिपक्वता का सामंजस्य (Harmony between Experience and Maturity)—बच्चों के ज्ञान में अभिवृद्धि करते समय उस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि उनमें उस स्तर के ज्ञान को ग्रहण करने की वांछित शक्ति है अथवा नहीं। प्रायः देखा जाता है कि अभिभावक ५-६ वर्ष अनुभव की उपयोगिता के बालकों को संस्कृत अथवा अंग्रेजी के नीति तथा धर्म-परिपक्वता के स्तरानुसार सम्बन्धी श्लोकों और कविताओं को कण्ठाग्र कराकर प्रसन्न होते हैं कि उनका बालक कुशाग्र बुद्धि वाला है। वास्तविकता यह है कि पद्य होने के कारण बालक उसे कण्ठाग्र तो कर लेता है, परन्तु उसके अर्थ और भावों से प्रायः अनभिज्ञ ही रहता है। ऐसी स्थिति में यह क्रिया केवल निरर्थक ही नहीं होती, अपितु अभिभावकों को बालकों की परिपक्वता के स्तर को निश्चित करने में हुई भ्रान्ति सर्वथा के लिए बालक के विकास में बाधक सिद्ध होती है। अतएव यह आवश्यक है कि अनुभव और बालक की परिपक्वता के स्तर में सदैव सामंजस्य स्थापित रहे।

चरित्र के लिए शिक्षा (Education for Character)

चरित्र की शिक्षा के रूप-निर्धारण में अनुभव तथा परिपक्वता के स्तर में सामंजस्य स्थापित करने के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ समुचित विकास की ऐसे कारक भी हैं, जिन पर ध्यान देना अत्यन्त प्रेरणा से सम्बद्ध आवश्यक है।

प्रत्येक समाज की कुछ अपनी मान्यतायें होती हैं जिनका पालन उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। इनके पालन में शिथिलता आने पर सामाजिक संस्थायें नियमानुसार उनके समुचित पालन हेतु हमें बाध्य करती हैं।

अतएव दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये सामाजिक संस्थायें यथा परिवार, विद्यालय, पंचायतें आदि ही समाज का नियन्त्रण करती हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उनके नियंत्रण में आकर अपने को समाज के अनुरूप बनाना आवश्यक हो जाता है। अतएव बच्चों के चरित्र की शिक्षा में सामाजिक नियमों और मान्यताओं के पालन पर ध्यान देना आवश्यक है जिससे वे अपने को समाज के अनुरूप बनाकर सफल नागरिक बन सकें।

बच्चों में कुछ ऐसी सम्भाव्यतायें होती हैं जो उपयुक्त अवसर पाकर कुछ काल पश्चात् प्रकाश में आती हैं। अतएव चरित्र की शिक्षा के निर्धारण में बच्चों के सम्पूर्ण जीवन और परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक है।

कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जो प्रारम्भिक अवस्था में सामाजिक मान्यताओं को उपेक्षा भी दृष्टि से देखते हैं। उनके लिए चरित्र की शिक्षा में ऐसे प्रेरक तत्वों का समावेश करना चाहिए जिससे वे अपने को सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप बनाने में सफल हो सकें। इस प्रकार चरित्र की शिक्षा का ऐसा रूप होना चाहिए जो प्रत्येक बालक के समुचित विकास सम्बन्धी प्रेरक तत्वों से परिपूर्ण हो।

चरित्र की शिक्षा का गतिमान रूप

(The Dynamic Nature of Education for Character)

चारित्रिक-शिक्षा का तात्पर्य केवल बालकों के चरित्र के विकास से ही नहीं है, अपितु इसके द्वारा बालक में वह क्षमता उत्पन्न करनी चाहिए जिसके आधार पर वह जीवन-पर्यन्त आदर्श आचरण का पालन कर सकें। चरित्र की शिक्षा में अतएव इसके अन्तर्गत हमें उन तथ्यों की भी खोज करनी सम्पूर्ण जीवन का स्थान है जो किशोर अपराधी को प्रेरणा देते हैं अथवा अधिक आयु में उनमें उदासीनता आ जाती है। उनकी इच्छायें मर जाती हैं। इसके अध्ययन हेतु हमें सम्पूर्ण जीवन के आयु-स्तरों को चरित्र की शिक्षा में स्थान देकर उसे गतिमान रूप प्रदान करना आवश्यक है।

समस्त प्रकार की शिक्षा द्वारा चरित्र का विकास—गणित अथवा भाषा या भूगोल आदि विषयों की भाँति चरित्र की शिक्षा को न तो एक सीमित विषय का रूप दिया जा सकता है और न इसका कोई निश्चित पाठ्यक्रम ही बनाया जा है। वास्तविक रूप में चरित्र-विकास की समुचित सामग्री हमें सभी विषयों के पाठ्यक्रम में प्राप्त होती है और विद्यालय अथवा विद्यालय के बाहर के सभी कार्यक्रमों में चरित्र-विकास का उपयुक्त अवसर मिलता है। जैसा कि पहिले भी हम कह चुके हैं, अपने एवं दूसरों के अनुभवों से लाभान्वित हो करके तथा समुचित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु समाज का सहयोग प्राप्त करके ही चरित्र का विकास किया जा सकता है। इस प्रकार चरित्र की शिक्षा का क्षेत्र अद्यन्त विस्तृत

और विशाल है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि समस्त विषयों और कार्यक्रमों के चयन तथा आयोजन में चरित्र की शिक्षा प्रदान करने की समुचित व्यवस्था अनिवार्य रूप में की जाय। अगले पृष्ठों में हम विचार करेंगे कि चरित्र की शिक्षा में विस्तृत क्षेत्र यथा परिवार या घर, विद्यालय तथा अन्य सामाजिक संस्थाएँ अथवा उनके प्रभावों द्वारा किस रूप में चरित्र का विकास होता है।

परिवार का चरित्र-विकास पर प्रभाव—मानव को सामाजिक प्राणी बनाने का श्रेय समाज और उसकी संस्थाओं को प्राप्त है। परिवार वह प्राथमिक सामाजिक संस्था है जहाँ से बच्चे सर्वप्रथम अपने सर्वाङ्गीण विकास की शिक्षा पाते हैं। इसमें उनके चरित्र का विकास केवल घर के वातावरण के अनुसार चरित्र-विकास निहित ही नहीं रहता अपितु उसका रूप प्रमुख होता है। प्रायः हम देखते हैं कि बच्चों के बातचीत करने, हँसने अथवा क्रोधित होने का ढंग तथा उस समय की उनकी मुद्रा और मुखाकृति का वही रूप होता है जो कि उन स्थितियों में उनके अभिभावकों का जो परिवार समुचित रूप में समायोजित (Adjust) नहीं होता उसका वातावरण कलहपूर्ण होता है। ऐसे परिवार के बच्चों का चरित्र-विकास होना तो दूर रहा, उनमें चरित्र-हीनता प्रविष्ट कर जाती है। इसके विपरीत पूर्णरूपेण समायोजित परिवार के बच्चों का व्यक्तित्व और चरित्र अभिभावकों के अनुकरण से समुचित परिस्थितियों में उचित दिशा और रूप में विकसित होता है। परिवार बच्चों के चरित्र निर्माण की आधार-शिला है। यदि दीवाल की प्रथम ईंट टेढ़ी लग गई तो पूरी दीवाल टेढ़ी हो जायेगी अतएव बच्चों के समुचित चरित्र-विकास हेतु आवश्यक है कि परिवार—जो बच्चों के चरित्र-विकास का प्रथम सोपान है—पूर्णतया समुचित रूप में समायोजित हो।

विद्यालय का चरित्र-विकास पर प्रभाव—द्वितीय सामाजिक संस्थाओं (Secondary Social Institutions) में विद्यालय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिशु-गृहों और शिशु-विद्यालयों की स्थापना के फलस्वरूप बच्चों के विकास में विद्यालयों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। अब बच्चों में विद्यालय चरित्र-विकास विकास के प्रारम्भिक काल का अधिकांश समय विद्यालयों की महत्त्वपूर्ण संस्था में ही बीतने लगा है। इस प्रकार बच्चों के चारित्रिक विकास के प्रति विद्यालयों का उत्तरदायित्व दिन-प्रतिदिन महान् से महान्तम् होता जा रहा है।

चरित्र-विकास में अध्यापक का स्थान—चरित्र-विकास प्रायः अनुभवों एवं अनुकरण पर आधारित होता है। जिस प्रकार परिवार में बच्चे माता-पिता का अनुकरण करके अपनी नैतिकता को विकसित करते हैं उसी प्रकार विद्यालय में वे अध्यापकों का अनुकरण करते हैं। अतएव चरित्र की शिक्षा हेतु अध्यापक का आदर्शात्मक समुन्नत व्यक्तित्व के चरित्रवान अध्यापक का होना अनिवार्य रूप में होना है। विद्यार्थियों के चरित्र-विकास हेतु उसमें अपने को उनके

सम्मुख आदर्शात्मक रूप में उपस्थित करने की क्षमता हो। अध्यापक केवल विद्यार्थियों के चरित्र-विकास हेतु ही न व्यग्र हो, अपितु वह अपने नैतिक विकास हेतु भी सतत् प्रयत्नशील हो। अध्यापक इस योग्य हों कि अपने आदर्श चरित्र के द्वारा विद्यार्थियों को प्रभावित कर सकें।

चरित्र-शिक्षा-विधि का निर्धारण (Determining the Method of Character Education)—चरित्र की शिक्षा-विधि के मूल उद्देश्य से बच्चों को अवगत करते समय इस बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि नैतिकता उस नियम अथवा स्तर को कहते हैं जिसके पालन द्वारा समुचित वास्तविक नैतिक स्थितियों का व्यावहारिक ज्ञान बना रूप में जीवन-यापन किया जाता है। इसकी शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रायः कुछ अध्यापकों का मत है कि नैतिक शिक्षा नामक एक अतिरिक्त विषय निर्धारित करके यह सीधे नैतिक निर्देशों के रूप में प्रदान की जाय। इस प्रकार इसका एक निश्चित पाठ्यक्रम होगा और शिक्षा-विधि में स्थिरता आयेगी। इस प्रकार की शिक्षा-विधि द्वारा शिक्षकों एवं विद्यालयों के उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यों में निश्चितता आ जाती है और वे अपने-अपने कर्तव्य पालन हेतु प्रोत्साहित होते हैं। कभी-कभी नैतिक शिक्षा वाद-विवाद के रूप में प्रदान करना भी लाभकारी होती है। इसके द्वारा उन वास्तविक परिस्थितियों का ज्ञान सुविधापूर्वक हो जाता है जिसमें नैतिकता का विशेष प्रयोजन रहता है।

प्रत्यक्ष नैतिक निर्देशों की विधि (The Direct Moral Suggestion Method)—विद्यालय की बालचर समिति, सेवादल, रेडक्रास सोसाइटी, प्रदेशीय शिक्षा दल एवं नेशनल कैंडिड कोर आदि संगठनों द्वारा बच्चों को नैतिक शिक्षा स्पष्टतया निर्देशों के रूप में प्रदान की जा सकती है। इन संगठनों में नैतिक शिक्षा संगठनों का प्रमुख उद्देश्य ही बच्चों का समुचित रूप में की सीधे विधि शारीरिक एवं नैतिक विकास करना है। अतएव आचार-सम्बन्धी आदर्शात्मक कार्यक्रमों द्वारा इन्हें नैतिक विकास हेतु उत्साहित किया जाता है। संगठन के रूप में होने के कारण कभी-कभी व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से विमुख होने की भावना का उन्नयन उनमें अवश्य हो सकता है। परन्तु यदि संगठन के नियमों को दृढ़तापूर्वक पालन पर ध्यान दिया जाय तो ऐसी सम्भावनायें ही न उत्पन्न होंगी।

नैतिक शिक्षा की अप्रत्यक्ष विधि (The Indirect Method of Moral Education)—विद्यालय के प्रायः सभी कार्यक्रमों द्वारा, चाहे वह विभिन्न विषयों की शिक्षा का हो अथवा खेलकूद या पाठ्येत्तर विषयों का, विद्यार्थियों को अप्रत्यक्ष रूप में नैतिक शिक्षा प्राप्त होती रहती है। यहाँ तक कि विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा विद्यालयों के खेलकूद की-प्रतियोगिताओं और वार्षिक अप्रत्यक्ष नैतिक शिक्षा समारोहों और उत्सवों में भी नैतिक शिक्षा का उद्देश्य निहित रहता है। परन्तु इन कार्यक्रमों में नैतिक शिक्षा का

रूप गौण रहता है। फलतः उद्देश्यों के अप्रत्यक्ष होने के कारण अध्यापकों को सुनिश्चित रूप में नैतिक शिक्षा प्रदान करने में सफलता नहीं मिल पाती।

नैतिक शिक्षा में सार्वलौकिकता का महत्त्व (The Importance of Universality in Moral Education)—नैतिक शिक्षा विधि के निर्धारण में इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कहीं वह अपनी सार्वलौकिकता न खो बैठे। प्रायः आदर्शात्मक पद्धति में, जिसके अनुसार किसी सद्चरित्र के अनुकरण की प्रेरणा बच्चों को दी जाती है, इस बात पर आवरण पड़ जाता है। नैतिक विकास में बच्चों परन्तु प्रत्येक बच्चे को अपने आचरण के स्तर और की स्वतन्त्रता व्यवहारों के मान-निर्धारण का अवसर प्रदान करना उसके समुचित नैतिक विकास हेतु आवश्यक है। इस कार्य में उन्हें शिक्षकों का पथ-प्रदर्शन और आवश्यक संदर्शन ही अभीष्ट है।

धार्मिक संस्थाओं का नैतिक विकास पर प्रभाव (The Influence of Religious Bodies on Moral Development)—विद्यालयों की भाँति मन्दिर, मस्जिद, चर्च अथवा गिरजाघर भी समाज की कुछ संस्थायें (Institutions) हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य समाज को धर्मनिष्ठ बनाना है। प्रत्येक धर्म में नैतिकता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतएव धार्मिक एवं नैतिक धार्मिक संस्थाओं द्वारा शिक्षा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जहाँ तक इन संस्थाओं द्वारा शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था का प्रश्न है प्रायः सभी देश की शिक्षा की जननी उसकी धार्मिक संस्थायें रही हैं। यूरोप के देशों की शिक्षा-व्यवस्था का जन्म यदि चर्चों की गोद में हुआ तो भारतीय शिक्षा का श्रीगणेश ऋषि के आश्रमों में। वर्तमान काल में यद्यपि शिक्षा-व्यवस्था का भार विद्यालयों पर है, परन्तु धार्मिक संस्थाओं द्वारा अब भी इस दिशा में सराहनीय योग प्राप्त हो रहा है। इन संस्थाओं द्वारा सामान्य विद्यालयों की अपेक्षाकृत नैतिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। इनके द्वारा नैतिक शिक्षा प्रदान करने की प्रत्यक्ष प्रणाली का प्रयोग किया जाता है जो अधिक प्रभावकारी सिद्ध होती है।

धार्मिक संस्थाओं में नैतिक शिक्षा प्रायः उपदेशों एवं प्रवचनों द्वारा प्रदान की जाती है। उपदेशों और कथनों की पुष्टि दृष्टान्तों से की जाती है। फलतः इनको जनता देव-वाणी के रूप में ग्रहण करके अपने व्यावहारिक उपदेशात्मक प्रणाली जीवन में उन्हें ज्यों का त्यों उतारने की चेष्टा करती है। द्वारा नैतिक शिक्षा इन संस्थानों में यदा-कदा बच्चों के नैतिक विकास पर विचार करने हेतु बड़े-बूढ़ों और विद्वानों की विचार-गोष्ठियाँ भी होती रहती हैं।

प्रत्येक धर्म का प्रमुख उद्देश्य समाजोत्थान होता है। जिसके लिए धार्मिक

ग्रन्थों में सदाचार और नैतिक विकास सम्बन्धी उपदेशों और दृष्टान्तों का समावेश रहता है। वस्तुतः ये ग्रन्थ आचार-पुस्तकें होती हैं। बाइ-
धार्मिक ग्रन्थों द्वारा बिल, कुरानशरीफ, वेद और पुराण आदि सभी इसी कोटि
नैतिक शिक्षा के ग्रन्थ हैं। मनुस्मृति पूर्णतया नीति और नैतिक नियमों
 का विश्लेषण ही है। यह अवश्य है कि इनके चयन में
 बाल मनोविज्ञान को यथेष्ट स्थान नहीं दिया गया है, परन्तु अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति
 हेतु धार्मिक संस्थानों द्वारा इस कमी का अनुभव किया जाने लगा है।

विभिन्न देशों में धार्मिक-शिक्षा-व्यवस्था का विभिन्न रूप है। भारत में गुरु-
 कुलों, मुनियों के आश्रमों तथा संस्कृत-पाठशालाओं और विद्यालयों में इसकी व्यवस्था
 है तो पश्चिमी देशों में चर्चों द्वारा संचालित विद्यालय
धार्मिक शिक्षा-व्यवस्था (Church Schools) इस मन्तव्य की पूर्ति में कार्यरत हैं।
एवं नैतिक विकास पश्चिम के ये विद्यालय प्रायः ग्रीष्मावकाश के उपलक्ष में जब
 सभी शैक्षिक-संस्थायें बन्द रहती हैं तब खुलते हैं। इस
 प्रकार विद्यार्थियों के अवकाश के समय में उन्हें धार्मिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा जिसका
 प्रमुख अंग है—प्रदान करने की व्यवस्था इनके द्वारा की जाती है। ऐसी स्थिति में
 आवश्यक है कि चर्च कार्यकर्ताओं को बाल मनोविज्ञान का पूरा ज्ञान हो जिससे वे
 अपने इस अंशकालीन विद्यालयों की शिक्षा का सामंजस्य, अन्य विद्यालयों से जिनके
 विद्यार्थी अवकाश-काल में चर्च के विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं, बनाने में सफल
 हो सकें। इस प्रकार विद्यार्थियों के नैतिक विकास में ये विद्यालय अभूतपूर्व सफलता
 प्राप्त कर सकते हैं। यही बात भारतीय धार्मिक शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं
 के लिए भी लागू हो सकती है। धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा प्रदान करते समय
 अध्यापकों को चाहिए कि बाल मनोविज्ञान को दृष्टिगत करते हुए नैतिक शिक्षा के
 स्तर का वे निर्धारण करें।

पश्चिमी देशों में चर्चों द्वारा संचालित विद्यालयों में उपर्युक्त तथ्यों की ओर
 पर्याप्त ध्यान दिया गया है और वे नैतिक शिक्षा में क्रियात्मक कार्यक्रमों की मनो-
 वैज्ञानिकता से भलीभाँति परिचित हो चुके हैं तथा नैतिक शिक्षा के स्तर निर्धारण
 में बाल मनोविज्ञान को उनके द्वारा यथेष्ट स्थान प्रदान किया जा रहा है। विद्या-
 र्थियों के विकास-स्तर और नैतिक शिक्षा की सामग्री में उनके द्वारा अच्छा सामंजस्य
 स्थापित किया जा चुका है।

चरित्र विकास पर अन्य सामुदायिक प्रभाव—चरित्र-विकास पर प्रभाव
 डालने वालो विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे सामुदायिक संगठन
 यथा—बालचर संस्था-स्काउट, प्रदेशीय शिक्षादल तथा
विभिन्न दलों का चरित्र- नेशनल कैंडेट कोर, तथा युवक-मंगल दल आदि हैं जिनके
विकास में योग द्वारा चरित्र के विकास में महान् योग प्राप्त होता है।
 परन्तु इन संगठनों के कार्यकलापों पर अध्यापकों एवं अभि-
 भावकों को कड़ी दृष्टि रखने की आवश्यकता है। उन्हें यह देखना चाहिए कि इनके

उद्देश्यों को पूर्ति समुचित रूप में हो रही है अथवा नहीं। ऐसा न होने पर बालकों के नैतिक विकास के कुण्ठित होने का भी भय है। छः विश्वविद्यालयों की छात्र यूनियन के विकृत रूपों और उनके अनुचित कार्यों के परिणाम जिनसे प्रायः सभी परिचित हैं, इसके साक्षी हैं।

बालकों के चरित्र-निर्माण एवं विकास में चलचित्रों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। चलचित्रों में उन्हें विभिन्न पात्रों के चरित्रों के अवलोकन एवं समीक्षा करने का अवसर प्राप्त होता है। इन पात्रों द्वारा विभिन्न स्थितियों में लिए गये निर्णयों एवं तदनुसार किए गये कार्यों का कलात्मक रूप में प्रस्तुत उदाहरणों से बालकों को अनुकरण करके अनुभव प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु उपर्युक्त लाभ केवल उत्तम प्रकार के चलचित्रों से प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत अनैतिक चलचित्र बालकों के चरित्र निर्माण एवं नैतिक विकास हेतु हानिकारक भी सिद्ध हो सकते हैं। अतएव अभिभावकों और अध्यापकों को चाहिए कि बच्चों को उन्हीं चलचित्रों को देखने की अनुमति दें, जो उच्च कोटि के हों और जिनसे उनके नैतिक विकास की सम्भावना हो। दृश्य एवं श्रव्य उपकरणों के महत्त्व को दृष्टिगत करते हुए उत्तर प्रदेशीय सरकार ने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत चलचित्रों के प्रदर्शन की व्यवस्था भी की है जिससे बालकों का समुचित रूप में चारित्रिक विकास हो सके। समुचित चलचित्रों के निर्वाचन की व्यवस्था के साथ-साथ उनसे अध्यापकों एवं अभिभावकों को अवगत कराने की व्यवस्था पत्र-पत्रिकाओं द्वारा की जानी भी आवश्यक है जिससे वे बच्चों को उचित परामर्श दे सकें। चलचित्रों के निर्वाचन का दूसरा उपयोगी रूप बच्चों का वाद-विवाद है। बच्चे आपस में वाद-विवाद द्वारा चलचित्रों के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान देते हुए उनका उचित निर्वाचन कर सकते हैं।

दृश्य उपकरणों की भाँति श्रव्य उपकरण भी चरित्र-निर्माण और विकास के लिए अधिक उपयोगी हैं। इन उपकरणों में सर्वप्रमुख स्थान रेडियो का है। रेडियो के अधिकांश कार्यक्रम ऐसे होते हैं जिनसे बच्चों को चरित्र रेडियो का चरित्र-निर्माण की उपयोगी शिक्षा प्राप्त होती है। इतना अवश्य है कि सभी कार्यक्रम बच्चों के लिए उपयोगी ही नहीं हैं, अपितु कुछ ऐसे भी होते हैं जो हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में कार्यक्रमों का निर्वाचन परमावश्यक है। चलचित्रों के निर्वाचन की प्रणाली इसमें भी प्रयुक्त की जा सकती है। निर्वाचन का बहुत कुछ भार बच्चों पर छोड़ देना अधिक मनोवैज्ञानिक होगा। वे आपस में वाद-विवाद द्वारा जिस कार्यक्रम को अनुचित समझ लेंगे उससे उन्हें घृणा हो जायेगी और उनको सुनने की कभी भी उनमें इच्छा नहीं होगी। इसके विपरीत अभिभावकों

और अध्यापकों द्वारा उन्हें न सुनने के निर्देश देने पर भी उनमें उन कार्यक्रमों के प्रति घृणा उत्पन्न नहीं हो सकती ।

चरित्र मूल्यांकन (Evaluation of Character)

चरित्र-परीक्षण की सामान्यतया निम्नलिखित तीन चरित्र-परीक्षण विधियाँ प्रचलित हैं :

१—प्रथम विधि के अनुसार समान स्तर के कई बालकों को समान परिस्थिति में रखकर उनके कार्यों का निरीक्षण किया जाता है । इस प्रकार प्राप्त आँकड़ों के अनुसार विभिन्न बालकों के चरित्र के प्रकार और स्तर की जानकारी प्राप्त की जाती है ।

२—चरित्र-परीक्षण की दूसरी विधि लिखित परीक्षा की भाँति है । इसके द्वारा कागज पेन्सिल के प्रयोग से उनके चारित्रिक विकास के स्तर का पता लगाया जाता है ।

३—तीसरी विधि के अन्तर्गत बालकों से कुछ प्रश्नमालाओं के उत्तर प्राप्त किए जाते हैं । इस माला में उन्हीं प्रश्नों का चयन किया जाता है जिनके उत्तर चरित्र और नैतिकता के विकास के ज्ञान की सीमा को प्रकाश में लाने में समर्थ होते हैं । प्रश्नों के उत्तर के साथ उनकी व्याख्या और उत्तर के प्रकार पर भी विशेष बल दिया जाता है ।

इनके अतिरिक्त बच्चों की दैनन्दिनी, उनसे सम्बन्धित विद्यालय-अभिलेख या इस प्रकार की अन्य सूचनाओं द्वारा चरित्र-परीक्षण समुचित रूप से किया जा सकता है । वास्तविक रूप में बच्चों के चरित्र का मूल्यांकन उस समय भली-भाँति होता है जब हम उनके द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में किए जाने वाले व्यवहारों की समुचित रूप में व्याख्या करते हैं । कौन बालक परिस्थितियों का सामना किस में करता है इसका निर्धारण उसकी नैतिक शक्ति के अनुसार होता है । किसी भी मामले में वह किस प्रकार और किस रूप में निर्णय प्राप्त करता है यह उसके चारित्रिक बल पर आधारित होता है ।

परीक्षणों की सीमा—प्रायः सभी परीक्षणों का मन्तव्य विभिन्न परिस्थितियों में बच्चों के व्यवहारों के प्रकारों के अंकन द्वारा उनके चारित्रिक बल का ज्ञान प्राप्त करना ही है । परन्तु परीक्षण हेतु निर्मित और जीवन में स्वतः आने वाली वास्तविक परिस्थितियों में महान् परीक्षणों की उपयुक्तता अन्तर है । एक कोरी कल्पना है, तो दूसरी प्रत्यक्ष वास्तविकता । अतएव कल्पना पर आधारित परीक्षण कहाँ तक उपयुक्त होगा इसका अनुभव पाठक स्वयं लगा सकते हैं । परन्तु अन्य साधनों की अनुपस्थिति से और इन परीक्षणों के लाभों को दृष्टिगत करते हुये इन्हें अनुपयुक्त भी नहीं कहा सकता ।

व्यक्तित्व का विकास

(PERSONALITY DEVELOPMENT)

व्यक्तित्व व्यवहार-विधि का दर्पण

(Personality a Mirror of the Behaviour Pattern)

व्यक्ति क्या है, वह क्या सोचता और अनुभव करता है, उसमें कौन-कौन से गुण अथवा अवगुण हैं—यह सब उसके व्यवहार और वाणी से स्पष्ट हो जाता है। 'व्यक्तित्व' व्यक्ति का कोई एक विशिष्ट लक्षण (Trait), व गुण (Quality) नहीं है। व्यक्ति के पूरे व्यवहार की प्रणाली अथवा विधि उसके व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके पूरे संगठित (Organised behaviours pattern) व्यवहार-विधि का दर्पण है।

प्रत्येक का अपना एक व्यक्तित्व

(Each has his own Personality)

व्यक्ति का व्यक्तित्व, व्यवहार के कुछ विशिष्ट गुणों से निर्मित होता है। व्यक्तित्व केवल कुछ गुणों का योग ही नहीं होता। व्यक्तित्व कुछ गुणों का एक ऐसा सुसंगठित और समन्वित योग होता है कि वैसे योग किसी बालक को एक साँचे में और व्यक्ति में नहीं मिलता। इसीलिए किन्हीं दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व एक दूसरे से किसी न किसी अर्थ में भिन्न अवश्य होते हैं। इस भिन्नता के कारण विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तित्व का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता अर्थात् एक विशिष्ट वर्ग में कुछ व्यक्तियों को नहीं रक्खा जा सकता। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अपना एक विशिष्ट प्रकार होता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि बच्चे का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है उसे किसी एक पूर्व निश्चित साँचे के अनुसार नहीं ढाला जा सकता। अतः अपनी कुछ आकांक्षाओं के अनुसार बालकों को ढालने की माता-पिता की चेष्टा एकदम व्यर्थ है।

व्यक्तित्व के गुण

(Attributes of Personality)

व्यक्तित्व के चार प्रधान गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१—सर्व व्यापकता (All pervasiveness) इसमें शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक सभी गुण आ जाते हैं;

२—एक संगठित इकाई (An organized unit of pattern)—जिसमें विभिन्न गुण और प्रतिक्रियायें इस प्रकार गुँथ जाती हैं कि व्यक्ति का एक विशिष्ट व्यक्तित्व निखर उठता है और उसकी पहचान की जा सकती है।

३—स्थायित्व (Permanence) अर्थात् व्यक्ति का व्यक्तित्व एक ऐसा स्थायी रूप ले लेता है कि उसके आधार पर व्यक्ति की भावी राय तथा प्रतिक्रियाओं का कभी भी अनुमान किया जा सकता है और,

४—परिवर्तन की सम्भावना (Possibility of change)—अर्थात् शारीरिक अथवा वातावरण-सम्बन्धी परिवर्तनों के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिवर्तन आ जाने की क्षमता।

व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण

(Heredity and Environment in the Development of Personality)

व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण में सबसे अधिक किसका प्रभाव पड़ता है? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। पहले यह विश्वास किया जाता था

कि व्यक्तित्व पर वंशानुक्रम का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः

दोनों का प्रभाव व्यक्ति जन्म के साथ ही अपने व्यक्तित्व को लेकर आता है।

इस धारणा के अनुसार यह विश्वास किया जाता था कि

शिक्षा से व्यक्तित्व में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। परन्तु मनो-

विश्लेषकों के सिद्धान्तों के अनुसार यह विश्वास किया जाने लगा कि व्यक्तित्व के

निर्माण में वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अब व्यक्तित्व के विकास में वंशानु-

क्रम और वातावरण दोनों के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है। साधारणतः यह

माना जाता है कि व्यक्तित्व को नींव वंशानुक्रमीय गुणों की विवृद्धि (Maturation of

hereditary trait) से पड़ती है। परन्तु यह नींव व्यक्ति के सामाजिक सम्पर्क अर्थात्

वातावरण द्वारा बड़ी प्रभावित होती है। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व-विकास में वंशानुक्रम

और वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। अपने अन्वेषण के आधार पर शर्ली¹

का मत है कि शिक्षा से व्यक्तित्व में परिवर्तन लाया जा सकता है, परन्तु व्यक्तित्व

के प्रबल गुणों को शिक्षा द्वारा बदलना अत्यन्त कठिन है। माता-पिता तथा उनकी

सन्तानों के व्यक्तित्व सम्बन्धी कुछ गुणों में जो समानता दिखलाई पड़ती है वह वंशा-

नुक्रमीय ही होती है। इन गुणों पर वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ता है। परन्तु इस

¹ Shirley, M. M.—The First Two Years, Vol. III. Personality Manifestations, Minneapolis, Univ. Minnesota Press, 1933.

प्रभाव के कारण निहित समानता सदैव पहचानी जा सकती है। ब्रैकेनरिज और विन्सेन्ट¹ का कहना है कि व्यक्तित्व के कुछ गुण शीघ्र परिवर्तित हो जाते हैं और कुछ के परिवर्तन में देर लगती है। इस परिवर्तन का स्वरूप वातावरण-सम्बन्धी अनुभवों पर ही निर्भर करता है। व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ गुण परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, साधारणतः यह देखा जाता है कि कोई व्यक्ति एक परिस्थिति में तो दबू दिखलाई पड़ता है और दूसरे में दबंग।

व्यवहार पर व्यक्तित्व का प्रभाव (Impact of Personality on Behaviour)

रुचियों के अर्जन पर व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है, और रुचियों से व्यवहार अनुशासित होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व का व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। फ्रांकीर ने अपने अन्वेषण में देखा कि दबंग लड़के प्रतियोगिता वाले खेलों को पसन्द करते हैं, क्योंकि इनसे उनकी प्रभुत्व-प्रवृत्ति की पुष्टि होती है। इसके विपरीत दबू लड़के व्यक्तिगत खेलों में भाग लेना अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि इनमें उन्हें अपने से बली लड़कों का सामना नहीं करना होता। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को जिस प्रकार व्यवस्थित कर पाता है, उसका उसके व्यवहार और रुचि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिन बच्चों का व्यवस्थापन अच्छा नहीं रहता उनकी रुचियाँ बहुत ही कम होती हैं और वे प्रायः स्व-केन्द्रित होते हैं। जो बच्चे वातावरण में अच्छी तरह व्यवस्थित रहते हैं उनके पास प्रबल रुचियाँ होती हैं और वे विभिन्न सामाजिक कार्यों में बहुधा भाग लिया करते हैं।²

व्यक्तित्व के कुछ प्रारम्भिक स्वरूप (Some Early Forms of Personality)

जैची³ का कहना है कि जन्मते ही बच्चे का संवेगात्मक और सामाजिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। जन्म के समय बच्चे का व्यक्तित्व विकसित नहीं रहता, परन्तु उसमें उसके व्यक्तित्व के गुण वर्तमान रहते हैं।
जन्म के समय व्यक्तित्व वर्तमान उसका व्यक्तित्व आगे चलकर कैसा होगा, यह उसकी विवृद्धि तथा वातावरण के प्रभावों पर निर्भर करेगा। जैची का कहना है कि प्रथम दस दिनों में विभिन्न बालकों के विविध व्यवहारों में विभिन्नताएँ पाई जा सकती हैं। दूध पीते अथवा हँसते समय ये

¹ Breckenridge, M. M., Vincent, E. K.—Child Development, Philadelphia Saundeys, 1943.

² Banister, H. and Rayden, M.—The Environment and the Child, *British Journal of Psychology*, 34, 60-65, 1944.

³ Zachry, C. B.—Emotion and Conduct of Adolescence, Appleton Century Crofts, New York, 1940.

विभिन्नतायें सरलता से समझी जा सकती हैं। वस्तुतः ये विभिन्नताएँ ही उसके व्यक्तित्व की विभिन्नतायें होती हैं। स्टैगनर¹ की धारणा है कि जन्म के समय भी प्रत्येक शिशु का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। दो वर्ष के पच्चीस बच्चों के अध्ययन के आधार पर शर्ली² का मत है कि व्यक्तित्व के कुछ गुण इस प्रकार स्थिर जान पड़ते हैं कि विश्वास किया जा सकता है कि जन्म के समय व्यक्तित्व के बीज उपस्थित रहते हैं। बाद में ये बीज वातावरण के अनुसार अंकुरित होते रहते हैं।

प्रारम्भिक परिवर्तन—कुछ प्रथम महीनों में विकास के अनुसार शिशु में व्यक्तित्व-सम्बन्धी परिवर्तन आते हैं। इस समय वातावरण उतना प्रभाव नहीं डालता जितना कि बाद में। इस समय व्यक्तित्व-सम्बन्धी परिवर्तन विवृद्धि के कारण आते हैं। जब तीन या चार महीने का शिशु मुस्कराने, तथा किलकिलाने लगता है तो यह कहा जा सकता है कि जन्म के समय की बहुत सी बातों से अब वह बहुत आगे बढ़ गया है और उसके व्यक्तित्व में स्पष्ट परिवर्तन हो चला है।

वैयक्तिक वैभिन्न्य—व्यक्तित्व के वैयक्तिक वैभिन्न्य बहुत प्रारम्भ से ही वर्तमान रहते हैं। अपने अध्ययन के आधार पर रैण्ड, स्वीनी और विनसेण्ट³ की धारणा है कि शिशु के व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुणों की स्थिरता **प्रारम्भ से ही वर्तमान** (Stability) अथवा अस्थिरता (Instability) बहुत प्रारम्भ से ही मालूम हो जाती है। जिस शिशु में दबंग होने की स्थिरता देखी जाती है वह सरलता से नहीं रोता, वह आत्म-विश्वास से स्तन-पान करता है, खूब सोता है और भोजन और तापक्रम में परिवर्तन से ही शीघ्र ही अव्यवस्थित नहीं हो जाता। फलतः उसका विकास एक स्थिर, व्यवस्थित और सुखी शिशु के रूप में होता है और अस्थिर शिशु का विकास इसके विपरीत में होता है।

बच्चे ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं त्यों-त्यों वंशानुक्रम और वातावरण के कारण उनके व्यक्तित्व की विभिन्नतायें बढ़ती जाती हैं। व्यूहलर⁴ का कथन है कि स्कूल जाने के समय से ही व्यक्तित्व-सम्बन्धी विभिन्न भिन्नताओं को बालक में समझा जा सकता है। कुछ बच्चे दूसरों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित करते हैं, कुछ दूसरों को अधिक सुभाव देते हुए उनका नेतृत्व कर सकते हैं। इसके विपरीत कुछ बच्चे ऐसे

¹ Stagner, R.—Psychology of Personality, 2nd Edition, Mc-Graw Hill, New York, 1948.

² Ibid.

³ Rand, W., Sweeny, M. E. and Vincent, E. L.—Growth and Development of Young Child, Saunders Philadelphia, 1942.

⁴ Buhler, C.—From Birth to Maturity, Kegan Paul, London, 1935.

होते हैं कि उन्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। कुछ बच्चे दूसरों की सेवा करने में आनन्द का अनुभव करते हैं। कुछ दूसरों को तंग करते अथवा चिढ़ाते हैं। इस प्रकार बचपन में व्यक्तित्व-सम्बन्धी वैयक्तिक वैभिन्य स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्तित्व के गुणों की स्थिरता (Consistency of personality traits)— यह स्वाभाविक प्रश्न है कि व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण विकास के साथ बदलते रहते हैं अथवा स्थिर रहते हैं। अच्छे गुण यदि न बदले तो अच्छा है; परन्तु बुरे गुण, जैसे कायरता, कटुता तथा बेईमानी आदि का बदल जाना ही व्यक्तित्व के हित में अच्छा होगा। व्यक्तित्व के गुण कहां तक बदलते हैं, यह समझने के लिए वर्षों तक कुछ व्यक्तियों का विकासात्मक अध्ययन किया जाता है और तब विभिन्न गुणों के माप की तुलना उनके पहले मापों से की जाती है।

व्यक्तित्व के गुणों की स्थिरता का यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन नहीं आता। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि कुछ गुण ऐसे होते हैं जो विभिन्न सामाजिक प्रभावों के अन्तर्गत होते हुए भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्यम्भावी अन्य गुणों की अपेक्षा कम बदलते हैं—यद्यपि उन पर भी वातावरण का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है। एक बालक जो कि शैशव में चिड़चिड़ापन दिखलाता है, वह सम्भवतः बड़े होने पर भी चिड़चिड़ापन दिखलायेगा—यद्यपि उसकी कटुता में कुछ सुधार देखा जा सकता है। इसी प्रकार एक हँसमुख बालक कठिनाइयों के बीच भी हँसमुख दिखलाई पड़ेगा।

समतोलन केन्द्र (Centre of Gravity)—ब्रौकेनरिज और विन्सेन्ट¹ का कथन है कि अनुभव के आधार पर व्यक्तित्व-सम्बन्धी प्रत्येक गुण में कुछ परिवर्तन आता है; परन्तु प्रत्येक गुण का एक 'समतोलन केन्द्र' अथवा केन्द्रीय स्थिरता होती है जो नहीं बदलती। इसलिए व्यक्तित्व में एक स्थिरता और सन्तुलन-शक्ति आ जाती है। समतोलन-केन्द्र में व्यक्ति की वे आदतें और मनोवृत्तियाँ होती हैं जो जीवन के आरम्भ में ही बैठ जाती हैं। ये आदतें और मनोवृत्तियाँ जल्दी नहीं बदलतीं। उदाहरणार्थ; जिस व्यक्ति में बचपन में ही आत्महीनता की भावना ग्रन्थि जम जाती है, उसमें यह ग्रन्थि प्रायः सदा के लिए आ जाती है। व्यक्ति में आत्मविश्वास लाने के लिए बहुत प्रयत्न करने पर ही इस भावना-ग्रन्थि को गहनता में कुछ कमी हो सकती है। गहन मनोविश्लेषण के सहारे ही व्यक्ति के व्यवस्थापन में कुछ सुधार लाया जा सकता है, तथापि इस भावना-ग्रन्थि का प्रभाव उनके व्यवहारों में कभी न कभी अवश्य ही स्पष्ट होता रहेगा।

¹ Breckenridge, M. E. and Vincent, E. L.—Child Development, Saunders, Philadelphia, 1943.

छोटे बच्चों में व्यक्तित्व का समतोलन-केन्द्र अच्छी तरह नहीं स्थापित रहता। इसलिए व्यक्तित्व के पूरे संगठन को छिन्न-भिन्न किये बिना ही उनमें परिवर्तन लाया जा सकता है। ब्रैकेनरिज और विन्सेण्ट का कहना है कि बच्चों में समतोलन विकास के साथ 'समतोलन-केन्द्र' दृढ़ होता जाता है और केन्द्र दृढ़ नहीं व्यक्तित्व में स्थिरता आती जाती है, क्योंकि आदतें और मनोवृत्तियाँ तब जड़ बाँध लेती हैं। जड़ बाँध लेने के बाद परिवर्तन लाया जा सकता है; परन्तु इसके लिए बड़े परिश्रम और दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है।

व्यक्तित्व के गुणों का विकास (Development of Personality Traits)

शिशुओं में व्यक्तित्व के गुणों का निकालना (Emerging of personality traits in infants)—व्यक्तित्व के गुणों का विकास वातावरण में रहने वाले लोगों के प्रति बच्चे की प्रतिक्रियाओं (Responses) तथा उसकी सांस्कृतिक (Cultural demands) आवश्यकताओं के फलस्वरूप होता है। लर्नर और मर्फी¹ का कथन है कि बच्चे के व्यक्तित्व पर माता-पिता के व्यक्तित्वों के विभिन्न अनुभवों और विविध मनोवृत्तियों का सीधा प्रभाव पड़ता है। बच्चा आगे चलकर दृढ़-निश्चयी, हँससुख, रचनात्मक प्रवृत्ति का अथवा चिड़चिड़ा, चिन्तित या नीरस होगा—यह सब उसके स्कूल जाने के पहले प्राप्त अनुभवों पर निर्भर करता है। बॉनहैम और सारजेण्ट² ने अपने अन्वेषणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि शिशु जन्म के बाद जो विविध स्वभाव-सम्बन्धी विविध प्रतिक्रियायें दिखलाते हैं, वे वंशानुक्रमीय न होकर वातावरण के फलस्वरूप होते हैं।

उन बच्चों में विरोध की भावना जागृत हो जाती है जिनकी स्वाभाविक इच्छाओं की अवहेलना की जाती है। इस प्रकार के अवदमन से उनमें आत्महीनता की भावना आ जाती है। बहुत से अन्वेषणों से यह भग्नाशा और अत्यधिक फन निकाला गया है कि बालक के व्यक्तित्व-विकास पर माता-पिता के सामाजिक और आर्थिक स्थिति, मनोरंजन के लिए सुविधाओं, माता-पिता की वृद्धि तथा पिता के धंधे

¹ Lerner, E. and Murphy, L. B.—Methods for the study of personality in young children, *Monographs of the Society or Research in Child Development*, Vol. 6., No. 4, pp. 38, 1951.

² Bonham, M. and Sargent, M.K.—A Study of the Development of Personality Traits in Infants. 18 to 24 months of Age, Catholic Unity of America, 1928.

का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। संवेगात्मक दृष्टि में अव्यवस्थित बच्चों का सांस्कृतिक वातावरण उतना ही अच्छा हो सकता है जितना कि व्यवस्थित बच्चों का होता है। वस्तुतः बच्चे के व्यक्तित्व के कुव्यवस्थापन में भग्नाशा अथवा माता-पिता का अत्यधिक लाड़-प्यार हो सकता है। बच्चे के व्यक्तित्व पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव माता-पिता की मनोवृत्तियों और क्रियाशीलताओं द्वारा पड़ता है। जिस शिशु की साधारण सी रोने की आवाज पर घर के सभी लोग नाचने के लिए तैयार रहते हैं, वह बच्चा बड़े ही चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है और वह अपनी किसी इच्छा की जरा भी अवहेलना होते हुए समझता है तो धैर्य खोकर बड़ा उपद्रव करता है। वह अपने मन में इतना गहन तनाव लाने की आदत बना सकता है जिससे उसकी नींद तथा पाचन-क्रिया आदि पर बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है और इससे उसका व्यक्तित्व बड़ा कुव्यवस्थित हो सकता है।

वांछित सामाजिक गुणों के विकास के लिये प्रायः बच्चों को विभिन्न बातें समझाई जाती हैं और उनके व्यवहार के कुछ चुने हुए नियम रखे जाते हैं। बच्चों को साधारणतः ईमानदारी, सहानुभूति, उदारता तथा आज्ञाकारिता का पाठ सिखलाया जाता है। कुछ बच्चे इन आदर्शों को अपने वास्तविक परिस्थिति आचरण-क्रम में अपनाने की भी चेष्टा करते हैं। चार्टर्स¹ में स्वाभाविक और का कहना है कि इन सब आदर्शों का बच्चों पर विशेष सन्तोषप्रद प्रतिक्रियायें प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इन आदर्शों से सम्बन्धित उपयुक्त उदाहरण बच्चों के सामने सदा नहीं रखा जाता। अतः किसी गुण के विकास के लिये बच्चों के सामने हमें ऐसी वास्तविक परिस्थितियाँ रखनी हैं, जिनमें उन्हें अपनी प्रतिक्रियायें स्वाभाविक और सन्तोषप्रद जान पड़ें; तभी वह उन्हें अपने साधारण व्यवहार-क्रम में अपना सकेगा। उदाहरणार्थ; सहानुभूति के गुण के विकास के लिये सर्वप्रथम हमें बच्चे के सामने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ रखनी हैं, जिनमें बालक सहानुभूति दिखलाना उपयुक्त और वांछित समझ सके। इसके बाद उसे कुछ ऐसे व्यवहार दिखलाने के लिये अभिप्रेरित करना चाहिये जिन्हें सहानुभूति-पूर्ण कहा जा सके। परन्तु किसी भी गुण-विकास के पूर्व हमें यह ध्यान रखना है कि बालक का कौटुम्बिक जीवन सन्तोषप्रद हो अर्थात् घर के वातावरण से उसे किसी प्रकार का दुःख न मिले, उसे सभी लोग स्वीकार करें और उसकी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन न करें और उसे विभिन्न प्रकार के सुखद सामाजिक अनुभव मिला करें।

¹ Charters, W. W.—The Teaching of Ideals, pp. 105-106, Macmillan, New York, 1928.

व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन (Changes in Personality Traits)

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि व्यक्तित्व के गुण प्रायः स्थिर रहते हैं। परन्तु उनमें परिवर्तन आने के भी प्रमाण मिले हैं। ये परिवर्तन छोटे बच्चों में बड़े बच्चों की अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। ये परिवर्तन प्रायः सामाजिक वातावरण के प्रभाव स्वरूप आते हैं। बेलो¹ ने अपने अध्ययन में देखा कि जिस बच्चे पर एक परिस्थिति में नियन्त्रण पाना सम्भव नहीं है, उस पर किसी दूसरी परिस्थिति में नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। एक सुखी बालक कुछ दिन बाद दुखी बालक में परिवर्तित हो सकता है। बेली की धारणा है कि बच्चे ज्यों-ज्यों प्रौढ़ता प्राप्त करते हैं, उनके व्यक्तित्व में कुछ परिवर्तन आ जाते हैं।

परिवर्तन आने के कारण—किसी सामान्य बालक के व्यक्तित्व में परिवर्तन आने के कई कारण हो सकते हैं। फेण्टन² के अनुसार इन कारणों का निम्नलिखित तीन वर्गों में वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(१) शारीरिक या आवयविक बातें, (Organic Factors), जैसे भोजन, मादक वस्तुएँ तथा किसी अवयव का कोई विशिष्ट दोष।

(२) सांस्कृतिक तथा सामाजिक वातावरण-सम्बन्धी बातें, जैसे शिक्षा, मनोरंजन के साधन तथा सामाजिक कार्यों में भाग आदि।

(३) स्वयं व्यक्ति से सम्बन्धित बातें, जैसे किसी प्रकार का संवेगात्मक दबाव, दूसरों का अनुकरण, अथवा दूसरों की कठिनाइयों और आवश्यकताओं से अपना आत्मसात् कर लेना।

छोटे बच्चों-सम्बन्धी अन्वेषणों से यह विदित हुआ है कि आवश्यक नियन्त्रण से व्यक्तित्व में वांछित परिवर्तन लाये जा सकते हैं। जैक³ ने अपने परीक्षण में देखा कि आवश्यक शिक्षण पाने पर दबू बच्चे दबंग हो जाते हैं। पेज⁴ भी अपने अन्वेषण से जैक के निष्कर्ष का समर्थन करता है।

¹ Bayley, N.—Studies in the Development of Young Children, Berkeley Univ., California, 1940.

² Fenton, N.—Mental Hygiene and School Practice, Stanford Univ., California, 1943.

³ Jack, L. M.—An experimental study of ascendant behaviour in pre-school children, *University of Iowa Study of Child Welfare*, 9. No. 3, 1934.

⁴ Page, M. L.—The modification of ascendant behaviour in pre-school children, *University of Iowa Study of Child Welfare*, 12, No. 3, 1936.

बच्चे को किसी साँचे में ढालने का प्रयत्न न करना—व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन लाने के सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि केवल उन्हीं गुणों में परिवर्तन लाया जा सकता है, जो कि बच्चे में खूब दृढ़ता से नहीं बैठे रहते। व्यक्तित्व में लाये हुए परिवर्तनों के सम्बन्ध में अभी तक यह नहीं बतलाया जा सका है कि ये परिवर्तन कितने दिनों तक टिके रहे—अर्थात् ये स्थायी हो गए; अथवा कुछ दिन के बाद विलीन हो गये। दूसरी बात यह याद रखनी है कि प्रौढ़ व्यक्ति के किसी सिद्धान्त के अनुसार बच्चे को किसी साँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अन्यथा बच्चे के विरोध से इसका फल एकदम उलटा हो सकता है।

व्यक्तित्व के कुछ प्रशंसित गुण (Some Admired Traits of Personality)

विकास की प्रत्येक अवस्था के अनुसार—विकास की प्रत्येक अवस्था के लिए व्यक्तित्व के कुछ ऐसे गुण होते हैं, जिनकी प्रशंसा की जाती है और कुछ ऐसे होते हैं जिनकी निन्दा। प्रशंसा के लिए कोई स्थिर माप नहीं है। जिसके लिए बचपन में प्रशंसा की जाती है कैंशोर में उसकी निन्दा यह कह करके की जा सकती है कि वह बचपन के लिए है। कभी-कभी यह कहा भी जा सकता है कि वह बच्चों की तरह व्यवहार करता है।

समय-समय पर बदलना—स्कूल जाने से पहले की अवस्था में बच्चों को प्रौढ़ व्यक्तियों से प्रशंसा पाने की अधिक चिन्ता रहती है। अतः वे वही कार्य करने की चेष्टा करते हैं, जिससे वे प्रौढ़ों से प्रशंसा पा सकें। इस समय अपनी उम्र के अन्य बालकों से प्रशंसा या निन्दा पाने की उन्हें चिन्ता नहीं होती। परन्तु जब वे स्कूल जाने लगते हैं तो यह मनोवृत्ति बदल जाती है। तब उन्हें अपनी उम्र के अन्य बालकों से प्रशंसा पाने की अधिक चिन्ता रहती है, तब वे प्रौढ़ों की आलोचना पर विशेष ध्यान नहीं देते। अतः इस समय वे व्यक्तित्व के उन गुणों को अपनाने की चेष्टा करते हैं जिनकी उनके साथी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत व्यक्तित्व के गुणों का मान समय-समय पर बदला करता है।

प्रौढ़ों के अनुसार व्यक्तित्व के प्रशंसित गुण—थोर्प¹ के अनुसार वांछित व्यक्तित्व का तात्पर्य संवेगात्मक स्थिरता (Emotional stability), सामाजिक, प्रौढ़ता, और आत्मविश्वास से किसी समस्या को सुलभाने की मनोवृत्ति से है। यह एक ऊँचा आदर्श है जिसे प्रौढ़ लोग भी सरलता से नहीं अपना सकते तो बच्चों का क्या कहना। थोर्प ने प्रौढ़ों के अनुसार बच्चों के लिए व्यक्तित्व के वांछित गुणों का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

¹ Thorpe, L. P.—Child Psychology and Development, pp. 665,-666, The Ronold, New York, 1946.

(१) स्वास्थ्यप्रद शारीरिक कार्यों में भाग ले सकता ।

(२) अच्छा स्वास्थ्य, पर्याप्त शक्ति तथा नियमित नींद ।

(३) सहकारी कार्यों में भाग लेते रहना, न कि अकेले बैठकर किताबें पढ़ते रहना या रेडियो सुनते रहना ।

(४) चरित्र-निर्माण में सहायक संगठनों में भाग लेना, जैसे बालचर संघ तथा सेवा समिति आदि ।

(५) अपने साथियों का आदर करना तथा उनके साथ ऐसा व्यवहार करना जिससे वे प्रसन्न हों । अनावश्यक आलोचना न करना और दूसरों की भावनाओं का ध्यान रखना ।

(६) भिन्न लिङ्गीय व्यक्तियों के साथ स्वाभाविक सम्पर्क रखना और उनसे घृणा न करना ।

(७) विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने के लिए तैयार रहना, अर्थात् शारीरिक परिश्रम के मूल्य को समझना । धन का अपव्यय न करना ।

(८) श्रेय को छोड़ प्रेय पर ध्यान न देना ।

जैकसन^१ ने भी इसी प्रकार के निम्नलिखित वांछित व्यक्तित्व के गुणों का उल्लेख किया है :—

(१) दूसरे व्यक्तियों को ठीक-ठीक समझने की योग्यता और उनके कार्यों की प्रशंसा कर सकता ।

(२) दूसरों के अहंभाव को समुचित महत्त्व देना ।

(३) दूसरों की सुविधाओं का समुचित ध्यान रखना ।

(४) परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार अपने को व्यवस्थित कर सकता ।

(५) अपने व्यक्तिगत रूप पर समुचित ध्यान देना ।

(६) अच्छे शिष्टाचार को प्रदर्शित करना ।

(७) कम से कम सामान्य बुद्धि रखना ।

(८) सामान्य संवेगात्मक प्रौढ़ता रखना ।

(९) समूह की अभियाचना के अनुसार उसका नेतृत्व कर सकता ।

(१०) सुधार की प्रवृत्ति तथा धर्मात्मा की अवांछित प्रवृत्ति न दिखलाते हुये ऊँचा चरित्र रखना ।

(११) समूह के अन्य सदस्यों से कुछ गुणों में समानता रखना ।

कहना न होगा कि उपर्युक्त १९ गुण ऐसे हैं जो कि साधारण बच्चों की पहुँच के बाहर हो सकते हैं । ये गुण प्रौढ़ों के दृष्टिकोण के अनुसार हैं और कँशोर में पहुँचने पर भी बच्चे उन्हें पूर्णतः अपने व्यक्तित्व में अपनाने में कदाचित् समर्थ न

^१ Jackson, V. D.—The measurement of social proficiency, *Journal of Experimental Education*, 8, pp. 422-474, 1940.

हां। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रौढ़ लोग बच्चों में अपने आदर्शानुसार गुणों की अपेक्षा करते हैं और जब बच्चे इस अपेक्षा तक नहीं पहुँच पाते तो प्रौढ़ों को निराशा होती है। फलतः बच्चों के सामान्य व्यवहार को भी वे कभी-कभी समस्या व्यवहार मान बैठते हैं।

बच्चों के अनुसार व्यक्तित्व के प्रशंसित गुण—प्रौढ़ों के आदर्शों के विपरीत बच्चों के अपने अलग आदर्श होते हैं और वे जानते हैं कि उन्हें क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा। जब बच्चे के पास व्यक्तित्व के कुछ वांछित गुण होते हैं तो वह अपने समूह में प्रसिद्ध हो जाता है। कुछ वांछित गुणों के रखते हुये भी यदि उसमें कुछ अवांछित गुण रहते हैं तो समूह के अन्य सदस्य उसका सामाजिक बहिष्कार कर देते हैं। बॉनी¹ का कथन है कि बच्चे कुछ गुणों अथवा अवगुणों के कारण प्रशंसित अथवा निन्दित नहीं होते। एक व्यक्ति के रूप में वे दूसरों पर सम्पूर्ण रूप से क्या प्रभाव डालते हैं, इसी पर उनकी प्रशंसा अथवा निन्दा निर्भर करती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कुछ वांछित गुणों को रखते हुए भी कोई बालक अप्रसिद्ध हो सकता है और दूसरे कुछ अवांछित गुण वाले बालक प्रसिद्ध हो सकते हैं। व्यक्तित्व के अन्य गुणों के संदर्भ में वांछित या अवांछित—कौन गुण अधिक व्यक्त जान पड़ता है; इसी पर व्यक्ति की निन्दा या प्रशंसा निर्भर करती है।

प्रशंसित गुणों में लिङ्ग-वैभिन्य—जब बच्चे अपने ही लिङ्ग के व्यक्तियों के साथ खेलने लगते हैं तब वे समझने लगते हैं कि एक लड़के अथवा लड़की को किस प्रकार का होना चाहिए। जिन गुणों की लड़कों में अपेक्षा लड़के और लड़कियों की जाती है यदि वे लड़कियों में पाये जाते हैं तो लड़कियों के लिए विभिन्न गुण की निन्दा की जाती है; इसी प्रकार लड़कियों वाले गुण यदि लड़कों में पाये जाते हैं तो लड़कों की निन्दा की जाती है। बॉनी² ने चौथी कक्षा के बच्चों के व्यक्तित्व-परीक्षण में देखा कि लड़के लड़कियों की अपेक्षा दूसरे लड़कों से लड़ने के लिए अधिक जल्दी तैयार हो जाया करते थे। यह बात प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों प्रकार के बालकों में पाई गई। इसके विपरीत लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा देखने में अधिक सुन्दर, स्वच्छ और प्रौढ़ समझी जाती थीं। सामाजिक कौशल में भी लड़कियाँ लड़कों से अधिक निपुण बतलाई गईं।

उम्र के साथ परिवर्तन—उम्र के बढ़ने से अनुभवों में परिवर्तन के अनुसार बच्चों के आदर्शों में परिवर्तन आना एकदम स्वाभाविक है। जिन गुणों की पहले प्रशंसा की जाती थी उन्हीं गुणों को उम्र के बढ़ने पर 'बचपन' की संज्ञा दी जाती है।

¹ Bonney, M. E.—A study of social status on the second grade level, *Journal of Genetic Psychology*, 60, pp. 271-305, 1942.

² Bonney, M. E.—Sex differences in social success and personality traits, *Child Development*, 15, pp. 63-79, 1944.

जब अपनी ही उम्र के अन्य बालकों के साथ बालक खेलने लगता है तब उसका शान्त और दबबू होना एक अवगुण माना जाता है। अब उसमें कुछ ऐसे गुणों का होना आवश्यक है जिनसे वह अन्य साथियों के साथ आगे बढ़ सके।

तरुणावस्था (Puberty) के आते पर बच्चों में बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आते हैं। तब उनमें व्यक्तित्व के कुछ नये गुणों की अपेक्षा की जाती है। इस अपेक्षा तक न पहुँचने पर बच्चों की साथियों में निन्दा होती है। प्रायः तरुणावस्था यह देखा जाता है कि बारह वर्ष की लड़कियों में यदि प्रौढ़ों के आदर्शानुसार कुछ गुण आ जाते हैं तो उनकी प्रशंसा की जाती है। बारह वर्ष के उस लड़के की प्रायः प्रशंसा की जाती है जोकि खेल में नेतृत्व करने के लिए तैयार रहते हैं और साहसी और निर्भय होते हैं, और समूह के हित में प्रौढ़ लोगों की आज्ञा की अवहेलना कर सकते हैं।

व्यक्तित्व पर प्रभाव डालने वाली कुछ बातें

(Some Factors affecting the Development of Personality)

१. आत्मभावना (Self Concept)

विभिन्न बातों का बालक के व्यक्तित्व-विकास पर क्या प्रभाव पड़ेगा? यह उन बातों को बालक की अपने सम्बन्ध में समझने की योग्यता पर निर्भर करता है।

बालक की अपनी आत्मभावना (Conception of the अपनी आत्मभावना self) उसके प्रति दूसरों के विचारों के अनुसार निर्मित होती है। यदि दूसरे उसे अच्छा समझते हैं तो वह अपने आत्म को अच्छा समझेगा और यदि दूसरे उसे बुरा समझते हैं तो वह अपने को बुरा समझेगा। उदाहरणार्थ; यदि दूसरे उसके रूप (Form) और आकार (Size) की प्रशंसा करते हैं तो उसके रूप और आकार का उसके व्यक्तित्व-विकास पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ेगा और यदि दूसरे उसके रूप और आकार को इतना बुरा समझते हैं कि उसे एक उपनाम—जैसे 'अष्टाबक' या 'भौंदूमल'—दे रखा है तो इसका उसके व्यक्तित्व-विकास पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

नीचे हम कुछ उन बातों का उल्लेख करेंगे जिनका व्यक्तित्व के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

२. शरीर (Physique)

बच्चे के रूप और आकार की लोग प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं। इस प्रशंसा अथवा निन्दा का प्रभाव उसके व्यवहार पर पड़ता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास पर शरीर के रूप और आकार का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।

बहुत छोटी ही अवस्था में बच्चे को यह अनुमान हो जाता है कि उसके सामा-

जिक सम्बन्धों पर उसके शारीरिक सौन्दर्य अथवा भद्दापन का प्रभाव पड़ रहा है। जो बच्चा ऊँचाई में लम्बा होता है उसके साथ दूसरे बच्चे अपना सामाजिक सम्बन्ध अधिक स्थापित करते हैं, क्योंकि वे अधिक कुशल और उपयुक्त ऊँचाई और छोटा कद समझे जाते हैं। छोटे कद वाले बच्चों को अन्य बच्चे उम्र में छोटा समझते हैं। अतः उन्हें समूह से वे प्रायः निकाल देते हैं। यदि बच्चा बहुत लम्बा न हो तो उसके लिए लम्बाई लाभप्रद होती है, क्योंकि अन्य बच्चे लम्बाई का अर्थ उम्र और बल की श्रेष्ठता से समझते हैं।

बहुत मोटा या बहुत दुबला होना सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के हित में अच्छा नहीं। बहुत मोटे अथवा बहुत दुबले बच्चों की अन्य बच्चे बड़ी आलोचना करते हैं या चिढ़ाते हैं। साधारणतः यह समझा जाता है कि मोटे बच्चे प्रसन्न रहते हैं और उनके साथ लोगों की खूब बनती है और उनका मोटा या बहुत दुबला जीवन सुखी रहता है। परन्तु अन्वेषणों से पता चला है कि मोटे बच्चे दुखी रहते हैं और कुव्यवस्थित होते हैं। वे डरपोक, सुस्त तथा देखने में भद्दे होते हैं। वे अपनी रक्षा के लिए दूसरों पर निर्भर रहते हैं। मोटे होने के कारण दूसरों के साथ खेल में बहुधा भाग लेना उनके लिए कठिन होता है। अतः वे धीरे-धीरे असामाजिक होते जाते हैं। मोटे बच्चों के अपने अध्ययन में ब्रुश¹ ने देखा कि वे अपनी माँ पर बहुत सी बातों के लिए उम्र बढ़ जाने पर भी निर्भर रहते हैं और उनमें अप्रौढ़ता के स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं। इससे ब्रुश ने यह निष्कर्ष निकाला कि मोटे बच्चों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की प्रौढ़ता अवरोधित हो जाती है। जब ब्रुश ने मोटे बच्चों के कौटुम्बिक वातावरण का अन्वेषण किया तो पता चला कि ऐसे बच्चों के पिता बड़े ही निर्बल और आकांक्षाहीन व्यक्ति थे। अतः वे बच्चों का उचित पथ-प्रदर्शन नहीं कर सके। ऐसी अवस्था में साधारणतः कुटुम्ब पर माता का आधिपत्य होता है। अपने कुव्यवस्थित व्यक्तित्व के कारण माँ बच्चों की आवश्यकता से अधिक देख-रेख करती है और उन्हें खिलाने-पिलाने पर बड़ा बल देती है।

३. स्वास्थ्य (Health)

स्वास्थ्य का बच्चे के व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस बच्चे का स्वास्थ्य बुरा रहता है वह घर और बाहर दूसरों से रियायत की अपेक्षा करता है। घर में तो यह रियायत किसी तरह मिल जाती है, परन्तु बाहर ऐसा सम्भव नहीं होता। अतः उसके स्वभाव में एक ऐसा दबबूपन आ जाता है जो कि उसके सभी व्यवहार से

¹ Bruch, H.—Obesity in Childhood and Personality Development, *American Journal of Orthopsychiatry*, 11, pp. 467-475, 1941.

व्यक्त होता है। यह दबूपन उसमें इस भावना से आता है कि वह दूसरों से कमजोर है और वह दूसरों की तरह विभिन्न कार्यों में भाग नहीं ले सकता। इस दबूपन के कारण वह दूसरे बच्चों का संग छोड़ अपना अधिक समय घर के अन्दर ही बिताता है।

अच्छे स्वास्थ्य का व्यक्तित्व पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ बालक में भय नहीं रहता और वह धड़ले से विभिन्न कार्यों में भाग लेता है। कमजोर बालकों से वह अपने को श्रेष्ठ समझता है। कुटुम्ब के अच्छा स्वास्थ्य सभी लोगों का उसके प्रति अच्छा रख रहता है। इन सबका उसके व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। मैकफरलेन¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि जिन बच्चों को कोई रोग होता है वे बड़े चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं।

४. अन्तरासर्गी ग्रन्थियाँ (Endocrine glands)

अन्तरासर्गी ग्रन्थियों का व्यक्तित्व के विकास पर प्रभाव पड़ता है। अंतरासर्गी ग्रन्थियों से अत्यधिक स्राव के होने से बच्चे में स्नायविक दुर्बलता आ जाती है।

कभी-कभी वह अशांत तथा आवश्यकता से अधिक क्रिया-व्यक्तित्व से घनिष्ठ शील जान पड़ता है। इसके विपरीत यदि अंतरासर्गी सम्बन्ध ग्रन्थियों से स्राव कम हुआ तो बच्चा सुस्त रहता है।

वह एक प्रकार से दबा रहता है और दूसरों का प्रायः अविश्वास करता है। विभिन्न ग्रन्थियों का व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है इस विषय में अभी तक बहुत बातें नहीं जानी जा सकी हैं। परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि उनका व्यक्तित्व-विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

५. पहनावे (Dresses)

पहनावे का बच्चे के व्यक्तित्व-विकास पर सीधा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि बच्चा सदा यह ध्यान रखता है कि उसके पहनावे के सम्बन्ध में लोग क्या आलोचना दे रहे हैं अथवा क्या कह रहे हैं। बच्चे का यह प्रयत्न रहता अच्छा और बुरा पहनावा है कि उसके कपड़े अन्य बच्चों की तरह हों—उनसे अच्छे ही हों, पर बुरे न हों। जब दूसरे बच्चे उसके पहनावे की प्रशंसा करते हैं तो वह अपने को बड़ा गौरवान्वित अनुभव करता है। जिन बच्चों के कपड़े दूसरे बच्चों के कपड़ों की तुलना में बुरे होते हैं उनमें आत्महीनता की भावनाग्रन्थि आ जाती है।

¹ Macfarlane, I. W.—The relation of environmental pressures to the development of the child's personality and habit patterning. *J Pediat* 15, pp. 142-154, 1939.

कैशोर के पहले बहुत कम लड़के यह समझ पाते हैं कि कपड़ों की सहायता से कुछ शारीरिक दोषों को ढका जा सकता है। जब उसका ध्यान इसकी ओर किया जाता है तो अपने पहनावे के बारे में वह और अधिक सतर्क कैशोर और उसके पूर्व रहा करता है। कैशोर में आने पर पहनावे के सम्बन्ध में बच्चों की कुछ नई रुचियाँ भी विकसित होती हैं।

६. बच्चे का नाम (The Child Name)

बच्चा जिस नाम से पुकारा जाता है उसका उसके व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ता है। जब बच्चा अपने साथियों के साथ खेलने लगता है, तो उसे अपने नाम का महत्त्व जान पड़ता है। जिन बच्चों के नामों को सरलता से उच्चारित नहीं किया जा सकता, जिनके नामों को लोग बिगाड़कर उच्चारित करते हैं अथवा जिनके नामों का दूसरे बच्चे उपहास करते हैं उन बच्चों के मन में एक प्रकार की ग्लानि की भावना आती है। जिस बच्चे के नाम की प्रशंसा की जाती है वह अपने को महत्त्वपूर्ण समझता है। एलेन^१ ने कुछ अन्वेषणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि निम्नलिखित वर्ग के नाम से व्यक्ति के मन में एक प्रकार की आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि आ जाती है :—

१—वे नाम जो किसी बुरे शारीरिक अथवा चारित्रिक गुण की ओर संकेत करते हैं, जैसे लूले, कल्लू, पागल आदि-आदि।

२—वे नाम जिनके साथ कुछ अरुचिकर भावनायें सम्बन्धित रहती हैं, जैसे, बेचन, मँहगी, फेंकने, भिखारी आदि।

३—वे नाम जो कुल नाम के साथ पुकारे जाने पर अरुचिकर लगते हैं, जैसे गरीबसिंह तथा विपद चतुर्वेदी आदि।

बहुत से बच्चे अपने उपनाम से दूसरे बच्चों द्वारा पुकारे जाने पर बड़े चिढ़ते हैं, जब कि वे जानते हैं कि उनका उपनाम उपहासात्मक है। यदि साथी उसके उपनाम से उसे चिढ़ाते हैं तो उसमें आत्महीनता की भावना आ जायेगी और वह समूह से अलग रहने ही लगेगा। इसका उसके व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ेगा ही।

७. संस्कृति (Culture)

व्यक्तित्व-विकास पर संस्कृति तथा रीति-रिवाज का प्रभाव कम नहीं

^१ Allen, L. and others—The relation of first name preferences to their frequency in the culture, *Journal of Social Psychology*, 14, pp. 279-293, 1941.

पड़ता । प्रत्येक संस्कृति में लड़के और लड़कियों से एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है । जन्म से माता-पिता का यह प्रयत्न होता है कि बच्चे समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार को ही सीखें । उदाहरणार्थ: यह आशा की जाती है कि लड़के बहादुर हों और लड़कियाँ इतनी दृढ़ हों कि वे अपनी रक्षा स्वयं कर सकें । ईमानदार, परिश्रमी, उदार तथा सहयोगी होना लड़के और लड़कियों दोनों के लिए अच्छा समझा जाता है । माता-पिता का यह प्रयत्न रहता है कि उनके बच्चे ऐसे गुणों को अपनायें, जिनसे उनका व्यक्तित्व-विकास ऐसा हो कि दूसरे उनकी प्रशंसा करें । जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं जो उन्हें भी अपने सांस्कृतिक मापदण्डों का कुछ ज्ञान हो जाता है और उन्हीं के अनुसार वे अपने को ढालना चाहते हैं । कौशर में व्यक्तित्व पर सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट दिखाई पड़ता है ।

८. रुचियाँ (Interests)

जिस बच्चे के पास बहुत रुचियाँ होती हैं वह बहिर्मुखी (Extrovert) होता है और जिसकी रुचियाँ बहुत कम होती हैं वह अन्तर्मुखी (Introvert) होकर अपना ध्यान बहुधा अपने 'आत्म' पर ही केन्द्रित करता है । इस बात की महत्ता को अब शिक्षक और माता-पिता अधिक समझने लगे हैं । एक प्रधान रुचि का इसलिये बच्चे के सर्वाङ्गीण विकास के लिये वे उसमें होना आवश्यक बहुत सी रुचियों का विकास करना चाहते हैं । व्यायन्टन¹ ने अपने अन्वेषण में देखा कि रुचियों का व्यक्तित्व-विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है । किसी प्रधान रुचि के अभाव में व्यक्तित्व का विकास वांछित सुख नहीं ले पाता । किसी प्रधान रुचि के होने से व्यक्ति में एक प्रकार का मानसिक सन्तोष रहता है । यह सन्तोष व्यक्ति के व्यवस्थापन में बड़ी सहायता करता है ।

९. बुद्धि (Intelligence)

सामान्य बुद्धि के होने पर बालक अपने को वातावरण में किसी प्रकार व्यवस्थित कर लेता है, परन्तु अति प्रतिभाशाली अथवा अति मन्द बुद्धि बालक को अपने व्यवस्थापन में कठिनाई का सामना करना पड़ता है । स्पष्ट है कि बुद्धि का व्यक्तित्व-विकास से सीधा सम्बन्ध है ।

जिस बच्चे की बुद्धि समूह के अन्य बालकों से कम होती है उसे उपेक्षा की

¹ Boynton, P. L.—The relationship of hobbies to personality characteristics of school children, *Journal of Experimental Education*, 8. pp. 363-367, 1940.

दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि न पढ़ने और खेलने में ही वह अन्य बालकों की तरह अपने को दिखला सकता है। अतः उसमें शीघ्र ही आत्महीनता की भावना आ जाती है और वह अपने को अन्य बच्चों से अलग रखने लगता है।

कम बुद्धि वाला

फलतः वह व्यक्तित्व के कुछ ऐसे गुणों को अपनाता है, जिन पर आत्महीनता की भावना की छाप रहती है।

हॉलिंगवर्थ¹ ने अपने अन्वेषण के आधार पर प्रतिभाशाली बच्चों के व्यक्तित्व सम्बन्धी कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है। हॉलिंगवर्थ के अनुसार प्रतिभाशाली बच्चों में 'अधिकारवाद' के विरोध की भावना रहती है, क्योंकि वे दूसरों द्वारा किये हुये निर्णय को अविवेकपूर्ण समझते हैं; वे सामान्य बुद्धि वालों के प्रति कुछ असहिष्णु होते हैं। अनुपयुक्त वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के क्रम में प्रतिभाशाली बच्चों में छल-कपट की कुछ आदतें आ जाती हैं। ऐसे बच्चे एकान्तसेवी होने लगते हैं, अथवा अपने से अधिक उम्र वाले व्यक्तियों के संग में रहने लगते हैं, वह अपने को सभी दृष्टि से पूर्ण समझने लगते हैं और किसी परिस्थिति पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं।

१०. विशिष्ट झुकाव (Special Aptitudes)

जो बच्चे किसी विशिष्ट झुकाव, जैसे संगीत, कला लेखन तथा नाट्यकला आदि में विशेष योग्यता रखते हैं उन्हें भी अति प्रतिभाशाली बच्चों की तरह अपने व्यवस्थापन में उसी प्रकार कठिनाई का सामना करना पड़ता है। समूह के अन्य बालकों से भिन्न होने से उस पर दूसरों का ध्यान तुरन्त आ जाता है। इससे कुछ बच्चे तो लज्जान्वान स्वभाव के हो जाते हैं, परन्तु अधिकतर इससे उनमें एक प्रकार की अहं-भावना आ जाती है। इस अहं-भावना के कारण वे अधिक स्वकेन्द्रित और स्वार्थी हो जाते हैं।

११. प्रारम्भिक अनुभव (Early Experiences)

प्रारम्भिक अनुभवों का व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अमिट प्रभाव पड़ता है। जिस बच्चे के प्रारम्भिक अनुभव सुखद होते हैं उसका जीवन-दृष्टिकोण उस बच्चे से भिन्न होता है जिसे प्रारम्भ में सवेगात्मक तनाव, भगड़े तथा निरन्तर दुख का सामना करना होता है। वातावरण में कुछ वांछित सुधार आ जाने पर भी बचपन के इन अनुभवों की छाप सदा व्यक्तित्व पर वर्तमान रहती है।

¹ Hollingworth, L. S.—Personality and adjustment as determiners and correlates of intelligence. Yearb, nat Soc. Stud, Educ, 39, pp. 271-275, 1940

१२. अल्पसंख्यक वर्ग अथवा किसी विशिष्ट जाति में जन्म (Being born in a minority group or in some special caste)

अल्प संख्यक वर्ग, जैसे भारत में मुसलमान, ईसाई, अथवा सिख आदि वर्ग में जन्म लेने से बच्चे के व्यक्तित्व पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। अल्पसंख्यक वर्ग में जन्म लेने से अन्य बहुमत वर्ग के बच्चे उन्हें हेय की दृष्टि से देख सकते हैं अथवा उनसे सामाजिक अलगाव का बर्ताव रख सकते हैं। इसका व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

हमारे देश में विशेषकर हिन्दू वर्ग में जाति-व्यवस्था का प्रचलन है। जाति-व्यवस्था का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, चमार जाति के बालक को ब्राह्मण या क्षत्रिय जाति का बालक प्रायः हेय दृष्टि से देखता है। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय जाति का बालक अपने को अन्य जातियों के बालकों से श्रेष्ठ समझता है। इस भावना का चमार तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि जाति के बालकों के व्यक्तित्व पर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। हमारा यह अनुभव भी है कि एक विशिष्ट जाति के व्यक्ति का व्यक्तित्व एक विशिष्ट प्रकार का दिखलाई पड़ता है। इस क्षेत्र में कुछ अन्वेषण और परीक्षण किये जायँ तो निश्चित ही बहुत सी मनोरंजक बातों का पता चलेगा।

१३. सामाजिक प्रसिद्धि (Social Popularity)

बच्चे की प्रसिद्धि का उसके व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ता है। जिन बच्चों को यह अनुभव होता है कि अन्य बच्चे उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें चाहते हैं उनमें एक प्रकार के आत्माभिमान का विकास होता है। जिन बच्चों की अन्य बच्चे उपेक्षा करते हैं उनमें इस भावना का अभाव दिखलाई पड़ता है।

जो बच्चा दूसरों से मित्रता का व्यवहार करता है और आत्मविश्वास अनुभव करता है उसके मित्रों की संख्या बढ़ जाती है। इससे उसकी प्रसिद्धि और बढ़ जाती है। प्रसिद्धि के बढ़ने से उसमें आत्मविश्वास और और नेतृत्व के गुण और आगे बढ़ते हैं। जो बच्चे अप्रसिद्ध होते हैं उन पर इसका उलटा प्रभाव पड़ता है। वे अपने को छोटा समझने लगते हैं, वे चिड़चिड़े और ईर्षालु हो जाते हैं। ऐसे बच्चों का सुधार मनोविश्लेषण से ही किया जा सकता है। 'पोटैशिन'¹ के अनुसार अप्रसिद्ध बच्चे अपने में तनाव की भावना दिखलाते हैं, वे दूसरों के सामने

¹ Potashin, R. A.—Sociometric study of children's friendships
Sociometry, pp. 9, 48-70, 1946.

अपने गुणों को दिखलाना चाहते हैं। पोर्टेशन का कथन है कि प्रसिद्ध बच्चों में यह भावना नहीं रहती और वे अधिक सुखी और स्वतन्त्र दिखलाई पड़ते हैं।

१४. सामाजिक और आर्थिक स्थिति (Socioeconomic Status)

कुछ लोगों की धारणा है कि गरीबी का व्यक्तित्व विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि गरीबी व्यक्ति के लिए एक प्रकार से अभिप्रेरक का काम करती है और व्यक्ति वातावरण से अपने को ऊपर उठाने के लिए व्यक्तित्व के कुछ आवश्यक गुणों को अपनाने की चेष्टा करता है। कुछ लोगों की धारणा इसके ठीक विपरीत है— वे समझते हैं कि गरीबी का व्यक्ति के व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

स्टैगनर¹ ने कुछ ऐसे कालेज के विद्यार्थियों का अध्ययन किया जिनमें बचपन में कुछ अच्छी और कुछ बुरी आर्थिक स्थिति के थे। स्टैगनर को पता चला कि व्यक्तित्व को सुधारने के लिए गरीबी अभिप्रेरक नहीं होती। उसने देखा कि गरीब माता-पिता के बच्चों में स्वायत्तिक दुर्बलता, संवेगात्मकता, अन्तर्मुखता, आत्महीनता की भावना और सामाजिक कार्यों से अलग रहने की प्रवृत्ति आ जाती है। स्टैगनर का विश्वास है कि ये सब अवगुण सामाजिक स्थिति में कुव्यवस्थापन से आ जाते हैं।

लूरी² ने यह समझने का प्रयत्न किया कि व्यक्तित्व-विकास पर पड़ोस का क्या प्रभाव पड़ता है। यदि बुरे पड़ोस से बच्चों में कुछ व्यवहार-समस्याएँ आ जाती हैं, तो व्यक्तित्व-विकास पर सामाजिक और आर्थिक दशा का अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। लूरी ने ४००० समस्या-बालकों का अध्ययन किया और उसने देखा कि एक प्रतिशत से कम ही बालकों की समस्याएँ उनके बुरे पड़ोस के कारण थीं। सत्रह प्रतिशत बालकों के सम्बन्ध में देखा गया कि पड़ोस का प्रभाव घर के प्रभाव के बराबर ही पड़ा था। घर के अन्दर अनुचित नैतिक दशायें तथा माता-पिता की असहानुभूति बच्चों के व्यक्तिगत कुव्यवस्थापन के प्रधान कारण थे।

१५. कौटुम्बिक सम्बन्ध (Family Relationship)

कुटुम्ब का बालक के व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह बहुत हद तक बालक पर ही निर्भर करता है। जो बालक अस्वस्थ और हर समय एक तनाव लिये रहता है वह घर में किसी नये शिशु पर माता-पिता का ध्यान जाने पर एकदम अव्यस्थित हो जाता है। स्वस्थ बालक का ऐसी परिस्थिति में व्यवहार इस प्रकार का नहीं होता।

¹ Stagner, R.—Economic Status and Personality, *School and Society*, 42, pp. 551-552, 1935.

² Lurie, L. A. and others—Environmental influences, *American Journal of Orthopsychiatry* 11, pp. 150-161, 1943.

व्यक्तित्व के विकास पर माता-पिता के प्रभाव को मनोवैज्ञानिकों ने बड़ा महत्त्व दिया है। लर्नर¹ और मर्फी के अनुसार बालक के व्यक्तित्व पर माता-पिता के व्यक्तित्व के चेतन और अचेतन प्रकाशनों का सीधा माता-पिता का प्रभाव प्रभाव पड़ता है। लेविस² का कहना है कि माता-पिता का बच्चे के प्रति रुख का उसके संवेगात्मक व्यवस्थापन पर प्रभाव पड़ता है। बालक अपनी सभी बातों के लिए माता-पिता पर निर्भर रहता है। अतः उसके व्यक्तित्व-विकास पर उनका प्रभाव पड़ना एकदम स्वाभाविक है।

अपने कौटुम्बिक जीवन के बारे में बालक जो कुछ सोचता है उसका उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। जो माता-पिता बालक को सभी प्रकार की सुविधायें देते हैं, मनोरंजन के साधनों का आयोजन करते हैं और कौटुम्बिक जीवन के बच्चों के मित्रों के घर पर आने पर स्वागत करते हैं वे बारे में भावना का अपने बच्चों के अच्छे व्यक्तित्व-विकास में बड़ा योग देते प्रभाव हैं। इसके विपरीत जो बच्चे समझते हैं कि उनकी अव-हेलना की जा रही है और उनके मित्रों का घर पर स्वागत नहीं किया जाता उनके व्यक्तित्व का विकास दूसरे प्रकार का चलता है, और वे जीवन में कम व्यवस्थित हो पाते हैं।

१६. सबसे बड़ा, मझला या सबसे छोटा होना

सबसे बड़ा, मझला या सबसे छोटा होने का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः अधिकांश माता-पिता यह कहा करते हैं कि वे अपने सभी बच्चों के साथ समान व्यवहार दिखलाते हैं। परन्तु वस्तुतः यह माता-पिता के विभिन्न सम्भव होता नहीं, क्योंकि अपने-अपने स्वभाव के अनुसार व्यवहार विभिन्न बच्चे विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया माता-पिता में जनित करते हैं। अतः घर की सभी बातें सभी बच्चों के लिए समान होते हुए भी उनके लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण समान नहीं रहता। एडलर³ के अनुसार सबसे बड़े लड़के में माता-पिता पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति आ जाती है। इससे उसमें एक ऐसी आत्महीनता की भावना आ जाती है जिससे छुट-

¹ Lerner, E. and Murphy, L.—Methods for the study of personality in the young children, Monogr. Soc. Res, *Child Development*, 6, No. 1941.

² Lewis, W. D.—Influence of parental attitudes on children's personal inventory scores, *Journal of Genetic Psychology*, 6, 7195-201, 1945.

³ Adler, A.—*Problems of Neurosis*, Cosmopolitan Book Corp. New York, 1930.

कारा पाना उसके लिए बड़ा ही कठिन होता है। बेण्डर¹ के अनुसार सबसे छोटा लड़का प्रायः दबू होता है और इकलौता लड़का कम दबू होता है।

१७. खेल के साथी और मित्र (Playmates and Friends)

समूह-भावना के विकास के साथ बालक के व्यक्तित्व पर उसके मित्रों तथा खेल के साथियों का प्रभाव पड़ने लगता है। अपने मित्रों तथा खेल के साथियों से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए बालक विभिन्न प्रकार के गुणों को अपनाने का प्रयत्न करता है। साथ ही वह अपने व्यक्तित्व के अवगुणों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

अस्वस्थ व्यक्तित्व (Sick Personalities)

बालकों के व्यक्तित्व को कुव्यवस्थित (Maladjusted) कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वे अभी अपने विकास के क्रम में ही रहते हैं और उनके व्यक्तित्व में भारी-भारी परिवर्तन आ सकते हैं और उनके व्यक्तित्व में जो अवांछित गुण दिखलाई पड़ते हैं उन्हें दूर किया जा सकता है। अतः बच्चों के अवांछित व्यक्तित्व को 'अस्वस्थ व्यक्तित्व' की ही संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा।

उपचार की आवश्यकता (The Need of Remedy)

यदि बच्चा दूसरों के साथ अच्छी प्रकार व्यवहार नहीं दिखला सकता तो यह कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तित्व अस्वस्थ है। जिस प्रकार साधारण बीमारी में कुछ दवा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार व्यक्तित्व की अस्वस्थता को दूर करने के लिए भी कुछ उपचार की आवश्यकता है। यदि यह उपचार नहीं किया जाता तो सम्भव है कि कुछ समय बाद व्यक्तित्व के दोष स्वयं दूर हो जायें अथवा यह भी हो सकता है कि उनकी गहनता और बढ़ जाय।

अस्वस्थ व्यक्तित्व के कारण (The Causes of Sick Personality)

व्यक्तित्व के वांछित विकास के लिए यह आवश्यक है कि बालक अपनी शक्तियों, निर्बलताओं और सीमाओं को समझे। कुछ बच्चे तो अपने को वातावरण में सरलता से व्यवस्थित कर लेते हैं और कुछ को इसमें बड़ी कठिनाई होती है। व्यक्तित्व के कुव्यवस्थापन के साधारण कारणों का उल्लेख जॉर्डन² द्वारा इस प्रकार किया गया है :—

१—स्वाभाविक इच्छाओं और प्रवृत्तियों के अवदमन से आत्महीनता की भावना का आ जाना

¹ Bender, I. E.—Ascendence—submission in relation to other factors in personality, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 23; 137-143, 1928.

² Jordon, A. M.—Educational Psychology, 3rd Ed., Holt, New York, 1942.

२—अनुचित संवेगात्मक उद्दीपन ।

३—कुटुम्ब की बुरी दशा, अथवा कुटुम्ब की अपेक्षाओं तक बालक का न आ सकना ।

अस्वस्थ व्यक्तित्व के कुछ साधारण रूप (Some Common Forms of Personality Sickness)—बारह वर्ष की उम्र के पहले व्यक्तित्व की अस्वस्थता प्रायः कम देखी जाती है । परन्तु इस समय में भी भाव अस्वस्थता के स्पष्ट लक्षण पहचाने जा सकते हैं; जैसे—बहुधा रोते रहना, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए विविध उपायों को अपनाना तथा हवाई किले बाँधना, आदि-आदि । यदि इन सबको न रोका जाय तो आगे चलकर बच्चे में व्यवहार की कठिन-कठिन समस्याएँ पाई जा सकती हैं । बच्चों के व्यक्तित्व में कई प्रकार के अवांछित गुण दिखलाई पड़ते हैं । पहले वे बड़े ही साधारण रूप में दिखलाई पड़ते हैं और उन्हें समझने में गलती की जाती है । अतः उन्हें दूर करने का प्रयत्न बहुत ही कम किया जाता है । नीचे अस्वस्थ व्यक्तित्व के कुछ साधारण रूपों की ओर अति-संक्षेप में संकेत किया जा रहा है :—

(१) काल्पनिक असमर्थता (Imaginary Invalidism)—बिना किसी स्पष्ट कारण के यह अनुभव करना कि आज तबियत ठीक नहीं है; दूसरों की सहानुभूति या ध्यान पाने के लिए अथवा किसी कठिन काम से बचने के लिए कुछ बच्चे किसी काल्पनिक बीमारी का बहाना करते हैं ।

(२) दूसरों पर दोष आरोपित करना (Projecting Blame on Others)—बहुत से बच्चे अपने दोषों और गलतियों का उत्तरदायित्व दूसरों पर ढकेल देते हैं । जिन बच्चों को कठिन नियन्त्रण में रहना पड़ता है वे अपने को बचाने के लिए इसे अच्छा साधन मानते हैं । जिनको दोष दिया जाता है, वे प्रायः आंशिक रूप से ही उसके उत्तरदायी होते हैं । परन्तु बालक यह समझने लगता है कि इसमें उसका कोई दोष नहीं ।

(३) आत्म-निर्दोषकरण (Self-justification)—इस साधन से किसी गलत किये हुये काम के विरुद्ध दूसरों की आलोचना से बालक अपने को बचाना चाहता है; और साथ ही मन ही मन वह अपने काम के औचित्य को समझने का प्रयत्न करता है । प्रत्येक बच्चा दूसरों की आलोचना से अपने को बचाना चाहता है और उसकी इच्छा होती है कि दूसरे उसके कार्यों की प्रशंसा करें । इसलिए बहुत से सम्भव कारणों में से अनजान में वह केवल उसी कारण को चुनता है जिसे वह समझता है कि दूसरे स्वीकार करेंगे । यदि यह कारण स्वीकार कर लिया गया है—और प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है,—तो वह दूसरों की कटु आलोचना से बच जायगा । साथ ही उसे यह भी सन्तोष होता है कि उसने कोई झूठ बात नहीं कही ।

(४) बहुधा रोने की प्रवृत्ति (Cry—Baby Tendencies)—इस प्रवृत्ति के अपनाने से इच्छा के कुछ भी विरुद्ध हो जाने से बच्चा रोने जैसा मुँह बना लेता है

अथवा रोने लगता है। बच्चों के आँसुओं को देखकर कुछ प्रौढ़ लोग हार मान बैठते हैं और उनकी इच्छा का पालन कर देते हैं।

(५) दूसरों को मारना और तंग करना (Bullying and Teasing)—यह प्रवृत्ति उस बच्चे में आती है जो अपने को अरक्षित अनुभव करता है या जिसमें आत्महीनता की भावना रहती है। दूसरों को मारने से अथवा तंग करने से बालक अपने को श्रेष्ठतर समझता है। इसमें उसे आनन्द आता है।

(६) अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना (Feeling of Superiority)—अपनी विवशता तथा दूसरों पर निर्भरता के कारण दूसरों से सहायता पाने पर छोटा बालक स्वभावतः अपने को श्रेष्ठ समझने लगता है। इस भावनावश बालक स्वार्थी हो जाता है और वह चाहता है कि सब कुछ उसी के लिए किया जाय। फलतः उसके व्यवहार में एक प्रकार की अकड़न आ जाती है। प्रायः सभी बच्चों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए इस पर लोग विशेषकर ध्यान नहीं देते। परन्तु यदि बड़ा हो जाने पर भी उसमें यह प्रवृत्ति वर्तमान रहती है तो यह उसके व्यक्तित्व का दोष हो जाता है। तब वह देखता है कि लोग उससे कुछ खिचे से रहते हैं।

(७) आत्महीनता की भावना (Feeling of Inferiority)—व्यक्तित्व का यह दोष बचपन के अन्तिम दिनों अथवा कौशोर में प्रारम्भ होता है। जब बालक अपनी योग्यताओं की तुलना अन्य बालकों से कर पाता है, तभी इस भावना का आना सम्भव होता है। परन्तु किसी भी अवस्था पर जिन बच्चों की साधारण सी साधारण बात पर आलोचना की जाती है उनमें यह दोष आ जाता है।

(८) हुतात्मता की भावना (Feeling of Martyrdom)—इस भावनावश बालक दूसरे बच्चों की निन्दा करता है, उनसे डाह करता है और उन बच्चों के प्रति प्रतिशोध की भावना रखता है, जिनके कारण वह समझता है कि उसकी सुविधायें छीनी जा रही हैं। जो बच्चा अपने को हुतात्मा (Martyr) समझता है वह अपने को बरबस दुखी और अव्यवस्थित बना डालता है।

(९) अंगूर खट्टे हैं की प्रवृत्ति (The Sour-grapes Attitude)—जिस वस्तु को व्यक्ति नहीं पाता है, उसके महत्त्व को नीचे गिराना अथवा उसका उपहास करना इस प्रवृत्ति का द्योतक है। यह प्रवृत्ति उस लोमड़ी की प्रवृत्ति के अनुसार है जिसने अंगूर के न पाने पर उन्हें खट्टे घोषित कर दिया। अपनी निराशा को ठण्डा करने के लिए बहुत से बच्चे उस वस्तु को व्यर्थ समझने लगते हैं जिन्हें वे नहीं पा सकते। इस भावना से उनका मानसिक तनाव कुछ कम हो जाता है।

(१०) हवाई किले बनाना अथवा अत्यधिक दिवास्वप्न देखना (Building Castles in the Air or Excessive Day-dreaming)—अरुचिकर वास्तविकता से अपने को खींच लेने के लिए व्यक्ति इस प्रवृत्ति को अपनाता है। यह प्रवृत्ति कौशोर में प्रायः अधिक देखी जाती है। परन्तु कुछ बच्चे जो कि वास्तविकता का सामना

नहीं कर सकते वे भी इस प्रवृत्ति को अपना बैठते हैं। बचपन में इस प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। परन्तु इसकी अत्यधिकता वांछित नहीं।

(११) चिन्तित रहने की प्रवृत्ति (The State of General Anxiety)—कभी-कभी यह प्रवृत्ति वास्तविक भय से आ सकती है, परन्तु दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भी कभी-कभी बालक इस प्रवृत्ति को अपनाता है। इससे बालक अनायास दुखी रहा करता है और अपना व्यक्तित्व अव्यवस्थित बना डालता है।

(१२) विरोध की भावना (Negativism)—यह भावना प्रायः सभी बालकों में पाई जाती है; परन्तु जब यह बहुत दिन तक, जैसे आठवें या दसवें वर्ष की अवस्था तक भी चलती रहती है तो इसे बुरा कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति का तात्पर्य यह होता है कि बालक को कई नियन्त्रणों के अन्दर रहना पड़ता है और वह उन्हें तोड़ना चाहता है।

(१३) प्रौढ़ों के दूसरों की निन्दा करना (Playing the Tattle Tale)—कुछ बच्चे अपने घर बड़े लोगों से दूसरे की निन्दा किया करते हैं और इसमें अपनी बड़ाई समझते हैं। यदि प्रौढ़ लोग इस निन्दा पर ध्यान देते हैं, तो उनकी इस प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिलता है। दूसरों के विषय में बातों का पता लगाने का कुछ प्रौढ़ लोग बालकों की इस प्रवृत्ति को साधन बना लेते हैं। परन्तु साथ ही, उन्हें यह पता नहीं रहता कि वे बालकों को कितनी बुरी आदत दे रहे हैं।

(१४) विदूषक (Clowning) बनना—दूसरों के सामने विदूषक का काम भी करना एक बहुत छोटे बच्चे के लिए अच्छा हो सकता है, क्योंकि उससे सबका मनोरंजन होता है। परन्तु यदि यह आदत बाद में भी देखी जाती है तो बालक को मूर्ख का विशेषण दिया जाता है।

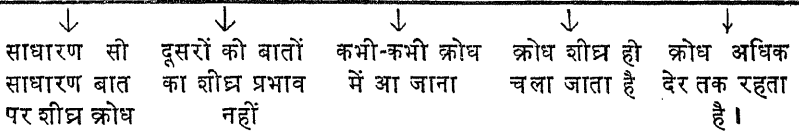
व्यक्तित्व के माप

(Measurements of Personality)

व्यक्तित्व का मापना बड़ा कठिन है, और छोटी अवस्था में तो यह और भी कठिन है। परन्तु यह जानना लाभप्रद है कि बालक का व्यक्तित्व-विकास कैसा चल रहा है और उसी उम्र के अन्य बालकों की तुलना में बालक का अत्यन्त कठिन व्यक्तित्व कैसा है तथा उसके व्यक्तित्व में अस्वस्थता के कौन-कौन से लक्षण हैं। वस्तुतः बच्चों के व्यक्तित्व-माप से इन्हीं सब बातों का कुछ पता चल सकता है। बालकों के व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए कई विधियों का सहारा लिया गया है। कुछ विधियाँ बच्चे के व्यक्तित्व के विषय में अधिक से अधिक बातों का चित्र खींचना चाहती हैं और कुछ विधियाँ व्यक्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों का वस्तुनिष्ठ (Objective Measurement) माप करना चाहती हैं। व्यक्तित्व-माप की कुछ सबसे अधिक प्रचलित विधियों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है—

श्रेणी मूल्यांकन (Rating Scales)—श्रेणी मूल्यांकन-विधि का प्रयोग बालक के व्यक्तित्व के अध्ययन में उन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो बालक को इस प्रकार जानते हैं कि उनके बारे में कुछ निर्णय दे सकें। इस विधि में कुछ ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं जिससे व्यक्तित्व के विविध लक्षणों के बारे में पता चल जाय। उदाहरणार्थ नीचे एक नमूना दिया जा रहा है :—

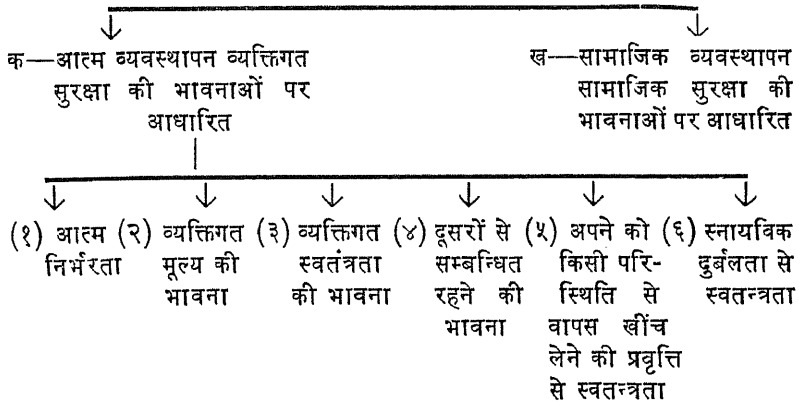
क्या बालक शीघ्र क्रोध में आ जाता है या देर में ?



जो लक्षण बालक के व्यक्तित्व की ओर अधिक संकेत करते हैं उन पर चिह्न लगा दिया जाता है। बाद में ये चिह्न गुणाङ्कों में परिणत कर लिये जाते हैं। श्रेणी-मूल्याङ्कन विधि के प्रयोग के लिए विभिन्न परिस्थितियों में बालक का पूर्व अध्ययन किये रहना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा उपयुक्त बातों के सहारे उपयुक्त लक्षणों को ठीक-ठीक नहीं पहचाना जा सकता।

प्रश्नावली विधि (Questionnaire Method)—प्रश्नावली विधि में व्यक्तित्व के लक्षणों से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों की एक सूची होती है। इन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' के रूप में दिया जाता है। इन उत्तरों के सहारे बालक के व्यक्तित्व के बारे में कुछ अनुमान किया जाता है। बच्चों के व्यक्तित्व के माप के लिए 'कैलिफोर्निया टेस्ट ऑफ परसोनेलिटी' (The California Test of Personality) का बहुत प्रयोग किया जाता है। इस टेस्ट का संगठन निम्नलिखित रूपरेखा के आधार पर किया जाता है :—

आत्म और सामाजिक व्यवस्थापन के सन्तुलन पर जीवन-व्यवस्थापन आधारित



(ख) सामाजिक व्यवस्थापन

(१) सामाजिक स्तर	(२) समाजिक कौशल	(३) असामा-जिक प्रवृत्तियों से स्व-तन्त्रता	(४) कौटुम्बिक सम्बन्ध	(५) सामा-जिक सम्बन्ध	(६) स्व-वर्गी सम्बन्ध
------------------	-----------------	--	-----------------------	----------------------	-----------------------

उपयुक्त बाहर बातों के आधार पर व्यक्तित्व के विविध लक्षणों से सम्बन्धित प्रश्न बनाये जाते हैं (इन बारह बातों के आधार पर केवल बालकों के ही व्यक्तित्व की परीक्षा नहीं की जाती, वरन् किसी भी अवस्था के व्यक्ति के व्यक्तित्व का अध्ययन किया जा सकता है।) इन बारह बातों के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे प्रश्न बनाये जाते हैं जिनके उत्तर से बालक के व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण का पता चल जाय। किण्डरगार्टन स्कूल के बच्चों के लिए निर्मित कुछ प्रश्नों के नमूने नीचे दिये जा रहे हैं :—

आत्मनिर्भरता—क्या भोजन करते समय तुम्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है ? हाँ/नहीं

असामाजिक भावनाओं से स्वतन्त्रता—क्या घर पर कोई ऐसा नीच व्यक्ति है जिसके व्यवहार से तुम्हें क्रोध आ जाता है ? हाँ/नहीं

क्या तुम दूसरे बालकों को धक्का देकर हटा देते हो ? हाँ/नहीं

कौटुम्बिक सम्बन्ध—क्या तुम अपना घर छोड़कर कहीं अन्यत्र रहना चाहते हो ? हाँ/नहीं

क्या तुम यह सोचते हो कि तुम्हें घर पर कोई प्यार नहीं करता ? हाँ/नहीं

व्यवहार के कुछ नमूनों का माप (Measures of Behaviour Samp-
lings)—श्रेणी मूल्याङ्कन अथवा प्रश्नावली विधियों द्वारा छोटे बच्चों से प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर पाना अत्यन्त कठिन है। दूसरे, इन विधियों में अध्ययन-कर्ता के व्यक्तित्व का भी प्रभाव आ सकता है। बच्चों के व्यक्तित्व के अध्ययन में इन दोषों से बचने के लिए व्यवहार के कुछ नमूनों का अध्ययन किया जाता है। चलचित्र की सहायता से बालक के शरीर के विभिन्न आसनों के चित्र खींच लिए जाते हैं। इस विधि के प्रयोग में उल्फ ने देखा है कि प्रकाशन के सभी रूपों से व्यक्ति-सम्बन्धी कुछ लक्षणों का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रक्षेपी विधियाँ (Projective Techniques)—व्यक्तित्व के अध्ययन में

प्रक्षेपी विधि का प्रयोग इस विश्वास से किया जाता है कि स्वतन्त्र और अनवरोधित परिस्थितियों में बालक अपने व्यक्तित्व के लक्षणों का ठीक-ठीक प्रकाशन करता है।

रोश्चाच विधि रोश्चाच द्वारा निर्मित स्याही के दस बिन्दुओं का प्रयोग इस विधि में अत्यधिक किया जाता है। बच्चे से यह पूछा जाता है कि बिन्दुओं में वह क्या देखता है। जो कुछ वह कहता है उससे उनमें वर्तमान 'संवेग', 'मनोवृत्ति' तथा किसी विशिष्ट मानसिक अवस्था को पहचानने का प्रयत्न किया जाता है। तदनुसार उसके व्यक्तित्व के कुछ लक्षणों का अनुमान किया जाता है।

रोश्चाच विधि के अतिरिक्त कुछ अन्य¹ प्रक्षेपी विधियों का भी निर्माण किया गया है। मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इन विधियों की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। इन विधियों में विषयी के सामने कुछ संदिग्ध परिस्थितियाँ रखी जाती हैं। इन परिस्थितियों के अर्थ को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण विषयी अपनी प्रतिक्रियाओं के प्रदर्शन में सामाजिक बन्धनों अथवा परम्पराओं द्वारा प्रभावित नहीं होता है। फलतः वह अपने स्वभाव का प्रदर्शन पूरी स्वतन्त्रता से करता है। इस विधि की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें विषयी ठीक उत्तरों से अवगत नहीं रहता। अतः वह किसी प्रकार का धोखा नहीं दे सकता। इस विधि में विषयी को कई प्रकार के कार्य करने को कहे जाते हैं—जैसे किसी अपूर्ण कहानी को पूरा करना, चित्र से कहानी बनाना तथा किसी वस्तु को देखकर जो मन में आये उसे कह डालना, आदि-आदि। इस प्रकार व्यक्ति की कुछ प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कर उसके व्यक्तित्व के लक्षणों को समझने की चेष्टा की जाती है।

¹ लेखक द्वारा रचित 'मनोविज्ञान' चतुर्थ सं०, पृष्ठ २६०, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९६१।

नैतिक विकास

(MORAL DEVELOPMENT)

नैतिकता का स्वरूप (Nature of Morality)

समाज के अनुसार इसके स्वरूप में विभेद—आचरण के लिए समाज द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार चलना नैतिकता कही जा सकती है। अतः विभिन्न समाज द्वारा आचरण के लिए निर्धारित विभिन्न नियमों के अनुसार नैतिकता के स्वरूप में कुछ भेद पाया जा सकता है। इस प्रकार एक ही समाज के विभिन्न वर्गों की नैतिकता के स्वरूप में भी विभेद पाया जा सकता है। अच्छे तथा बुरे व्यवहार-सम्बन्धी किसी वर्ग के विचार के अनुसार ही यह निर्णय किया जा सकता है कि उस वर्ग के व्यक्तियों के लिए नैतिक व्यवहार क्या है ?

अच्छे नैतिक विकास के लिए आवश्यक बातें (Factors Necessary for Good Moral Development)—अच्छे नैतिक विकास के लिए कुछ बातों की आवश्यकता होती है। इनकी ओर ब्रेकेनरिज और विनसेन्ट¹ ने इस प्रकार संकेत किया है :—

- (१) यथासम्भव अच्छा स्वास्थ्य ।
- (२) संवेगात्मक सुरक्षा, दूसरों से प्यार और आदर पाने की प्रवृत्ति ।
- (३) विभिन्न भावनाओं के प्रकाशन के लिए स्वस्थकर साधनों की प्राप्ति जिससे व्यक्ति अवांछित मार्ग की ओर न भुके ।
- (४) कुछ आत्म-नियन्त्रण रखना जिससे बचपन जैसी प्रवृत्तियों पर आवश्यक रोक रक्खी जा सके ।

¹ Breckenridge, M. E. and Vincent, E. I.—*Child Development*, p. 470, Saunders, Philadelphia, 1943.

(५) सामाजिक दृष्टिकोण का सदा विस्तार होते रहना जिससे व्यक्ति दूसरों के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता दिखला सके और दूसरों के अधिकारों और सुविधाओं पर ध्यान दें।

(६) 'उचित वस्तु' को ही प्राप्त करने के लिए प्रेरणा का रहना और 'उचित कार्य' को ही करने में सन्तोष प्राप्त करना।

नैतिकता देखी जाती है—शिशु न तो नैतिक होता है और न अनैतिक, वस्तुतः वह तो विनैतिक होता है, क्योंकि उसका व्यवहार नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित नहीं होता। नैतिक व्यवहार दिखलाने के पहले बालक को यह सीखना चाहिए कि उसका समाज किस वस्तु को अच्छा और किस को बुरा कहता है। यह सब धीरे-धीरे वह अपने मित्रों, शिक्षकों तथा माता-पिता से सीखता है। यदि समाज द्वारा मान्य व्यवहार बालक के लिए सुखद है तो उसे वह शीघ्र सीख लेगा और उस प्रकार के व्यवहार दिखलाने की उसकी आदत हो जायगी। अतः उचित पथ-प्रदर्शन और शिक्षण से माता-पिता तथा शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि सामाजिक सन्दर्भ में बालकों के अनुभव यथासम्भव सुखद हों, तभी वे सरलता से नैतिकता का पाठ सीख सकेंगे। यदि बालक को कोई कार्य करने के लिए विवश किया जाता है तो वह कुछ भी न सीख सकेगा। अतः स्वाभाविक रूप में ही उसे सब कुछ सिखाने का प्रयत्न करना चाहिए।

नैतिक विकास के अंग

(Aspects of Moral Development)

नैतिक विकास के दो अङ्ग किये जा सकते हैं (१) नैतिक व्यवहार (Development of Moral Behaviour) का विकास और (२) नैतिक प्रत्यय (Development of Moral Concepts) का विकास। इन दोनों अङ्गों पर हम नीचे विचार करेंगे :—

नैतिक व्यवहार का विकास

सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार व्यवहार दिखा पाना बच्चा कई वर्षों में सीख पाता है। यदि उसके ऊपर मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण रखा गया और उसके विविध अनुभव सुखद बनाये गये तो वह नैतिक व्यवहार दिखलाना विशिष्ट परिस्थितियों शीघ्र ही सीख लेगा। ठीक और गलत का ज्ञान आ जाने से के संदर्भ में ही बालक नैतिक व्यवहार दिखलाने में समर्थ नहीं होता। आवश्यक ज्ञान देने के बाद उदाहरण द्वारा यह दिखलाना चाहिए कि उस ज्ञान को कार्यान्वित कैसे किया जाय। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों^१ के सन्दर्भ में ही बालक को नैतिक व्यवहार सिखलाया जा सकता है।

^१ Hartshorne, H. and May M. A.—Studies in the Nature of Character, 3 Volumes, Macmillan, New York, 1928.

नैतिक व्यवहार सीखने के लिए सर्व प्रथम बालक को यह सीखना चाहिए कि घर पर उचित व्यवहार कैसे दिखलाना चाहिए। इसके बाद स्कूल जाने लगने पर उसे स्कूल के नियमों के अनुसार नैतिक व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए। तब उसे यह सीखना चाहिए कि खेल के मैदान में नैतिक व्यवहार का तात्पर्य क्या होता है। यदि घर, स्कूल और खेल के मैदान के नैतिक नियम समान हुये अर्थात् यदि व्यवहार-सम्बन्धी उनके आदर्शों में विरोध न हुआ तो बालक शीघ्र ही नैतिक व्यवहार सीख लेगा। यदि उनमें कुछ विरोध होता है तो बालक विस्मित होता है कि एक परिस्थिति में उसके किसी व्यवहार की क्यों प्रशंसा की जाती है और दूसरी परिस्थिति में उसी प्रकार के व्यवहार की क्यों निन्दा की जाती है। ऐसी स्थिति में नैतिक प्रत्यय का विकास करना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बालक को चुपके-चुपके सन्दूक से मिठाई निकालकर खाने की सुविधा दे दी जाती है तो वह यह नहीं समझ पाता कि दूसरे बालकों की पेन्सिलें चुराने पर उसे क्यों दण्ड दिया जाता है। कहने का अर्थ यह है कि 'चोरी करना' प्रत्येक स्थिति में अनैतिक मानना चाहिए, चाहे वह घर में, स्कूल में अथवा खेल के मैदान में हो।

नैतिक व्यवहार का सीखना संयोग पर नहीं छोड़ा जा सकता और न इसे बालक के प्रयत्न (Trial and Error Experiences) और भूल—सम्बन्धी अनुभवों पर ही छोड़ा जा सकता है। बालक को नैतिक व्यवहार संयोग पर नहीं छोड़ना सिखलाने के लिए चार प्रमुख सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना चाहिए : (१) नैतिक व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृत नियमों पर चलना चाहिए, (२) बच्चे को स्पष्टतः यह बतलाना चाहिए कि क्या उचित है और क्या अनुचित, (३) समझने योग्य हो जाने पर बालक को यह बतलाना चाहिए कि क्यों कुछ बातें ठीक मानी जाती हैं और दूसरी गलत, (४) बच्चों के पथ-प्रदर्शन का भार जिनके ऊपर है, उन्हें यह देखना चाहिए कि उचित व्यवहार के साथ बच्चों को सुखद अनुभव मिलते हैं और अनैतिक व्यवहार के साथ उसे दुःखद अनुभव मिलते हैं। अर्थात् नैतिक व्यवहार पर बच्चे को पुरस्कार देना चाहिए, अथवा उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, और अनैतिक व्यवहार पर उसे दण्ड देना अथवा उसकी निन्दा करनी चाहिए।

किसी भी आदत-निर्माण का यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि इसमें कभी छूट नहीं देनी चाहिए; अर्थात् आदत को दृढ़ करने के लिए एक अवसर को भी न खोना चाहिए। नैतिक आदतों के सम्बन्ध में यही नियम लागू करना चाहिए। नैतिक शिक्षा के क्रम में कभी विरोध न दिखलाई पड़े। जो बात आज गलत मानी जाती है उसे कल भी गलत कहना चाहिए। यदि इस स्थिरता की रक्षा न की गई तो बालक की समझ

में कुछ न आयेगा। इस स्थिरता के अभाव में बहुत से बालक समस्या बाधक हो जाते हैं, क्योंकि वे नहीं समझ पाते कि उनसे क्या अपेक्षा की जा रही है।

नैतिक प्रत्यय का विकास

नैतिक प्रत्ययों का सीखना नैतिक विकास का दूसरा अंग है। इसमें बालक शाब्दिक रूप में उचित और अनुचित के सिद्धान्तों को सीखता है। बहुत छोटे बालक के लिए यह समझना कठिन होता है। जब बालक में इतनी भाषा-कौशल में निपुणता के साथ मानसिक शक्ति आ जाती है कि वह विभिन्न बातों का विश्लेषण और संश्लेषण कर सके तब वह इन सब सिद्धान्तों को समझ सकता है। तभी वह एक परिस्थिति में सीखे हुए आचरण-नियमों को दूसरी परिस्थिति में लागू कर सकता है। भाषा-कौशल में निपुणता प्राप्त करने के साथ नैतिक प्रत्ययों को समझने की शक्ति भी बालक में बढ़ जाती है, क्योंकि वह अमूर्त सिद्धान्तों और वास्तविक परिस्थितियों के परस्पर-सम्बन्ध को समझना उसके लिए पहले से सरल हो जाता है।

अपने कार्यों के फलस्वरूप बालक अपने आचरण को अच्छा या बुरा मानता है। बड़ा होने पर बालक को यह समझना चाहिए कि उसके कार्यों का सामाजिक फल क्या होगा। उसे अब यह सोचना चाहिए कि उसके व्यक्तिगत अनुभव किसी आचरण के बारे में उसके समूह के लोग क्या सोचेंगे। समूह के सम्पर्क में आने से बालक को बड़ा लाभ होता है, क्योंकि इस सम्पर्क से वह यह समझ पाता है कि उसके व्यवहार के बारे में दूसरे क्या सोचते हैं। अपने अथवा दूसरों के कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य को समझ सकने की योग्यता स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभवों से आती है, न कि नैतिक सिद्धान्तों पर दूसरों का प्रवचन सुनने से।

बच्चों के नैतिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में कई परीक्षात्मक अध्ययनों से यह पता चला कि नैतिक प्रत्ययों और बुद्धि तथा प्रौढ़ता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैकाले¹ और वाटकिन्स ने २५०० बालकों से सबसे अधिक पापपूर्ण बुद्धि और प्रौढ़ता से घनिष्ठ सम्बन्ध बातों की सूची बनाने के लिए कहा। उन्होंने देखा कि ६ वर्ष की उम्र तक बच्चों के प्रत्यय मूर्त और निश्चित होते हैं। इस अवस्था तक अमूर्त बातों को समझना उनके लिए कठिन होता है। ६ वर्ष के बच्चों के लिए सबसे अधिक पापपूर्ण बातों का सम्बन्ध माता की अवज्ञा करना अथवा छोटे पशुओं को चोट पहुँचाना था। ६ वर्ष के बाद नैतिक विकास का घेरा कुछ और बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ, अब 'बच्चे चोरी करने' को

¹ Macalay, E., and Watkins, S. H.—An Investigation into the development of the moral conceptions of children, *Forum Education*, 4, 13-33, 92-108, 1926.

बुरा मानते हैं, चाहे जिस वस्तु की चोरी की जाय। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब उनमें 'चोरी करने' का 'सामान्य प्रत्यय' (General Concept) बन गया है। बच्चों के उत्तरों से उचित और अनुचित के ज्ञान के स्रोत का अनुमान किया गया और यह देखा गया कि वे इसका ज्ञान बहुधा अपनी माँ से सीखते हैं। उनके उत्तरों में पिता की ओर संकेत बहुत कम ही मिला।

नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार में अन्तर (Difference between Moral Concept and Moral Behaviour)—हार्टशोन¹ और मे द्वारा किए गए कुछ परीक्षात्मक अध्ययनों से पता चलता है कि नैतिक प्रत्यय प्रत्यय अथवा ज्ञान के अनुकूल व्यवहार आवश्यक नहीं के होने से यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति तदनुकूल नैतिक व्यवहार भी दिखलावे। हार्टशोन और मे ने देखा कि धोखा देने के अर्थ को समझ लेने पर विशिष्ट परिस्थिति के आने पर बच्चे अपने धोखा देने की प्रवृत्ति का संवरण नहीं कर सके। एक परीक्षा में १३३ विद्यार्थियों को नकल करते पाया गया। इनमें ८९ प्रतिशत ने बतलाया कि वे जानते थे कि नकल करना धोखा देना है। अपराधी बालकों के सम्बन्ध में नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार के अन्तर को अच्छी तरह समझा जा सकता है, क्योंकि ये लड़के बहुधा उचित और अनुचित का ज्ञान रखते हुए भी असा-माजिक कार्यों में भाग लेते हैं। बार्टलेट² और हैरिस ने देखा कि हाई स्कूल के विद्यार्थियों तथा अपराधी बालकों के नैतिक प्रत्ययों के ज्ञान में बड़ी समानता थी। वेबर³ ने किसी जेल स्कूल की १२८ लड़कियों से एक क्रम में १६ बुरी बातों की सूची बनाने के लिए कहा। वेबर को उनकी सूचियों से ज्ञात हुआ कि उनमें उतनी ही नैतिक अन्तर्दृष्टि होती है, जितनी कि विश्वविद्यालय की लड़कियों में होती है। इन सब निष्कर्षों का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उचित और अनुचित का ज्ञान किसी को अनैतिक व्यवहार से रोकता नहीं, अर्थात् नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेने का तात्पर्य यह नहीं होता कि व्यक्ति तदनुकूल व्यवहार भी दिखलाएगा ही।

नैतिक विकास की अवस्थायें (Stages of Moral Development)

विकास की अन्य अवस्थाओं के सट्टे नैतिक विकास भी क्रम में चलता है।

¹ *Ibid.*

² Bartlett, E. R. and Harris, D. B.—Personality Factor in Delinquency, *School and Society*, 43, 653, 656, 1935.

³ Quoted in *Child Development*, p. 441, by Hurlock, E. B. McGraw Hill, New York, 1950.

अतः बालकों के सम्बन्ध में यह पूर्ण अनुमान किया जा सकता है कि किस अवस्था पर कौन से नैतिक गुण बालक में अपेक्षित किये जा सकते हैं। एक क्रम में अपने नैतिक विकास के क्रम में बालक एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बड़े धीरे-धीरे आता है। विकास की एक अवस्था महीनों तक भी चल सकती है। नीचे नैतिक विकास की केवल तीन प्रधान अवस्थाओं का संक्षेप में उल्लेख किया जायगा १—शैशव में अनैतिकता, २—प्रारम्भिक बचपन में नैतिकता और ३—बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता।

शैशव में नैतिकता (Morality during Infancy)—इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह कहा जा चुका है कि शिशु न तो नैतिक होता है, और न अनैतिक—वह तो विनैतिक (Non-moral) होता है। अतः उसे उचित सुखद या दुःखद अनुभव और अनुचित कार्यों को सीखना है। समाज द्वारा स्वीकृत के आधार पर भले और और अस्वीकृत नैतिक नियमों का अर्थ बालक के लिए कुछ बुरे की पहचान नहीं होता। उसके व्यवहार स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। सुख और दुःख की अनुभूति के आधार पर वह किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य के विषय में निर्णय करता है। उसके कार्य से किसे लाभ अथवा हानि होती है, इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। बिना बुरे परिणाम को जाने बच्चे के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि उसको कोई कार्य बुरा है। वह सोचता है कि उसके व्यवहार का सम्बन्ध केवल उसी से है, और जब तक उसे अपने किसी कार्य का अरुचिकर अनुभव नहीं मिलता तब तक उसमें सुधार लाना वह आवश्यक नहीं समझता।

तीन या चार वर्ष की अवस्था से बच्चा कुछ-कुछ समझने लगता है कि जिसे लोग चाहते हैं कि वह कार्य अच्छा है, जिसकी लोग निन्दा करते हैं वह कार्य बुरा है। इस समय दूसरों के प्रति किसी कर्तव्य की भावना उसमें पश्चाताप की भावना नहीं रहती। अतः जो मन में आता है वही वह करता है। किसी को प्रसन्न करने की भावना उसमें नहीं रहती। उसके कार्य से यदि दूसरों को किसी प्रकार का दुःख पहुँचता है तो उसमें पाश्चाताप की भावना नहीं आती।

शैशव में सम्पत्ति-अधिकार की भावना बच्चे में नहीं रहती। बच्चे को जो अच्छा लगता है, उसे वह उठा लेता है। वह यह नहीं सोचता कि वह किसकी वस्तु है। दूसरे के खिलौनेको अथवा किसी दूकान के खिलौने को वह बिना संकोच के उठा लेगा। यह सब करने में उसमें चोरी की भावना नहीं आती।

बचपन के प्रारम्भिक दिनों में नैतिकता (Morality during Early Child-

hood) — तीसरे से छठे वर्ष के अन्दर नैतिक आचरण के कुछ मूल सिद्धान्तों से बच्चों का परिचय हो जाना चाहिए। इस काल में बच्चे से यह औचित्य और अनौचित्य कहना आवश्यक नहीं है कि कोई कार्य क्यों बुरा है, क्योंकि के कारणों को न समझ इस समय बच्चे की मानसिक प्रौढ़ता इतनी अधिक नहीं सकती होती कि वह इन सब बातों को समझ सके। किसी अनुचित कार्य के करने पर उसे कैसा दण्ड मिलता है, इसी के आधार पर किमी कार्य के अनौचित्य को वह समझता है। अतः उसके वातावरण के लोग जिस प्रकार के कार्य करने पर उसकी प्रशंसा करते हैं वह वैसा ही करने का प्रयत्न करता है। इस समय उसकी नैतिकता का स्तर केवल यहीं तक रहता है। इस प्रकार कभी-कभी वह उचित कार्यों को करता है, परन्तु वह उनके औचित्य के कारण को नहीं समझता।

पाँच या छः वर्ष के हो जाने पर बच्चे में आज्ञाकारिता की आदत कुछ आ जानी चाहिए। 'अच्छा', 'बुरा', 'बहुत ठीक', 'शरारती', 'पाजीपन', इत्यादि शब्दों के प्रयोग से इस समय बच्चे को 'अच्छे' और 'बुरे' का कुछ विचार दिया जा सकता है।

नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार का अन्तर इस काल में देखा जा सकता है। बच्चा स्वयं अच्छे और बुरे की ओर संकेत कर सकता है, परन्तु तदनुसार आचरण दिखलाने में वह असमर्थ हो सकता है। इस अवस्था पर वह प्रौढ़ों के अधिकार का विरोध करते हुये उनकी अवज्ञा कर सकता है।

बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता (Morality during the Late Childhood) — समूह के नैतिक विचारों के अनुसार ही बचपन के अन्तिम दिनों में व्यक्ति के नैतिक विचार होते हैं। छठे वर्ष की उम्र से लेकर सप्ताह का अनुकरण कैंशोर के आने के पूर्व तक बालक उसी प्रकार आचरण दिखलाने का प्रयत्न करता है जैसा कि उसका समूह उससे अपेक्षा करता है। दस या बारह वर्ष की अवस्था पर बालक नैतिक नियमों में निहित सिद्धान्तों को कुछ-कुछ समझने लगता है। विभिन्न परिस्थितियों में अब वह नैतिक और अनैतिक व्यवहार के स्वरूप को कुछ हद तक समझ सकता है, परन्तु अब भी अपने कार्यों को नैतिकता को पूर्णरूपेण वह नहीं समझ सकता। अतः अब भी उसे दूसरों के ही निर्णय पर निर्भर रहना पड़ता है।

दस-बारह वर्ष के बाद बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है वह 'न्याय' और 'आदर' के अर्थ को समझने लगता है। अब वह समझने लगता है कि झूठ बोलना, दूसरों की निन्दा करना, गाली देना, कायरता दिखलाना, दूसरों को सताना या हानि पहुँचाना, मित्रों को धोखा देना तथा दूसरों की वस्तुओं को ले लेना बुरा अर्थात् अनैतिक है। अतः जो झूठ बोलते हैं, धोखा देते, अथवा चोरी करते हैं उनसे वह घृणा करने लगता है।

लर्नर¹ और मर्फी के अनुसार आठ से दस वर्ष की अवस्था में व्यक्ति नैतिकता के दोहरे स्तरों से अनुशासित होता है। उदाहरणार्थ, माता और पिता के साथ अपने व्यवहार में बच्चे इस काल में दो सिद्धान्तों के अनुसार माता और पिता के लिए चलते हैं। वे पिता से बहुत डरते हैं, अथवा उनकी अवज्ञा अलग-अलग स्तर की कल्पना वे शीघ्र नहीं करते। इसके विपरीत माता से वे कम डरते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि माता उन्हें अधिक प्यार करती है और उनके दोषों पर वह विशेष ध्यान नहीं देती। इस भावनावश माता से झूठ बोलना अथवा उसे किसी बात में धोखा दे देना उनके लिए कठिन नहीं होता।

विनय

(Discipline)

व्यवहार के मान्य स्तरों के अनुसार चलने का तात्पर्य विनय के अनुसार चलना है। विनय के अनुसार चलने के लिए बालक को अपनी कुछ आदतें बनानी चाहिए। आदतें बनाने के सम्बन्ध में अथवा विनय के चार प्रधान सिद्धान्तों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :—

१—बालक को वांछित रूप में व्यवहार करना चाहिए। उसे अपने अवांछित व्यवहार को छोड़ देना चाहिए।

२—वांछित कार्यों से उसे सुख का अनुभव करना चाहिए और अवांछित कार्यों से दुःख।

३—उसे वांछित कार्यों को इस प्रकार करना चाहिए कि वे स्व-संचालित हो जायँ, अर्थात् उन्हें करने के लिए दूसरे के आदेश और नियन्त्रण की आवश्यकता न हो।

४—अवांछित व्यवहार के स्थान पर वांछित व्यवहार दिखलाना उसे सीख लेना चाहिए।

प्रशंसा और पुरस्कार के रूप में अस्यात्मक (Positive Motivation) अभिप्रेरणा, नात्स्यात्मक (Negative Motivation) की अभिप्रेरणा की अपेक्षा बालक को नैतिकता की ओर खींचने के लिए अधिक उप-अस्यात्मक अभिप्रेरणा युक्त है। परन्तु बालक के नैतिक विकास में दण्ड (Punishment) के स्थान की अपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी कार्य का सम्भावित फल क्या होगा इसे समझना नैतिक व्यवहार के लिए आवश्यक है। इस समझ के आधार पर बालक अपने कार्य के औचित्य और अनौचित्य को

¹ Lerner, E. and Murphy, L.—Methods of the study of personality in young children, Mongr. Soc. Res. *Child Development*, 6, No. 4, 1941.

समझने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार वह स्वयं निश्चय कर सकेगा कि उसका कार्य अच्छा अथवा बुरा है। ऐसा निश्चित कर सकने का अर्थ यह है कि बालक विनय में नियमों के अनुसार कार्य करने में समर्थ हो रहा है, अर्थात् उसका व्यवहार नैतिकता की ओर उन्मुख है।

विनय-नियमों के प्रति बच्चों की प्रतिक्रियायें—विनय के नियमों का प्रयोग बालक के सम्बन्ध में इस प्रकार करना चाहिए कि वह उनके (अर्थात् विनय के नियमों के प्रति) तथा प्रौढ़ों के प्रति स्वस्थप्रद भावना अपना सके। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह पता चला है कि शारीरिक दण्ड की अत्यधिकता से बच्चों में वास्तविकता से भागने की तथा प्रौढ़ों के ध्यान और प्रेम पर निर्भरता की प्रवृत्ति आ जाती है। अत्यधिक डाटने और डराने से बच्चों का व्यक्तित्व अनाकर्षक होता जाता है। बच्चों से प्रायश्चित्त कराने अथवा उन्हें धमकियाँ दिखलाने का फल अच्छा नहीं होता। इससे उनमें सामाजिकता की प्रवृत्ति घट जाती है और उनकी आत्म-निर्भरता कम हो जाती है। घर में कड़े नियन्त्रण और विनय का बालक के व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस ओर वाटसन¹ ने इस प्रकार उल्लेख किया है :—

(१) पिता के प्रति अरुचि। यह उनके रूखे उत्तर से जान पड़ता है।

(२) पिता से झगड़ा करने की प्रवृत्ति अपनाते से शिक्षक के प्रति भी बालक का रूखा रख अपनाता और यह समझना कि शिक्षक उसके प्रति अन्याय करते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण वे मित्रों से भी बहुधा झगड़ा कर बैठते हैं।

(३) छोटे बच्चों की तरह दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति अपनाता। अपने धन्धे के विषय में स्वयं निर्णय न कर सकना। दूसरों की बातें जानने के लिए अवांछित उत्सुकता।

(४) सामाजिक कुव्यवस्थापन।

(५) चिन्ता तथा मन में पाप-भावना लाना।

डॉलगर² और गिनेड्स ने बच्चों के अपने अन्वेषणों में देखा कि बुरी आर्थिक और सामाजिक स्थिति वाले बच्चे अच्छी आर्थिक और सामाजिक स्थिति वाले बच्चों की अपेक्षा नियम-समस्याओं के समाधान में अपने बड़ों की बातों पर अधिक ध्यान देते थे। वे अपने बुरे आचरण के सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व को शीघ्रतर स्वीकार कर लेते थे। दिये हुये दण्ड के औचित्य को स्वीकार करने के लिए वे अधिक उन्मुख थे।

¹ Watson, G.—A comparison of the effects of lax versus strict home training, *Journal of Social Psychology*, 5, 102—105, 1934.

² Dolger, L. and Ginnades, J.—Children's attitude toward discipline as related to socio-economic status, *Journal of Experimental Education*, 15, 161-165, 1946.

दण्ड और पुरस्कार (Punishment and Reward)

दण्ड

विनय-स्थापना के हित में दण्ड के दो मुख्य उपयोग माने जा सकते हैं :—

(१) दण्ड से बालक असामाजिक व्यवहार दिखलाने से अवरोधित होता है, और

(२) दण्ड से बालक को यह पता चल सकता है कि समाज की

दण्ड के औचित्य पर
ध्यान देना

दृष्टि में क्या उचित और क्या अनुचित है। यदि दण्ड के इस उपयोग से हमें लाभ उठाना है तो बच्चों को दण्ड देते समय अभिभावकों को दण्ड के औचित्य पर पूरा ध्यान देना

चाहिए। अपना क्रोध उतारने के लिये अथवा किसी प्रकार का बदला लेने के लिए बच्चों को कभी दण्ड नहीं देना चाहिए। जब कभी बालक कोई गलत काम करे तो उसे किसी न किसी प्रकार का दण्ड देना ही चाहिए। दण्ड का अर्थ केवल शारीरिक दण्ड से ही नहीं होता। यदि कोई गलत कार्य करने पर बालक दण्ड पाता है तो कोई गलत काम करने के पहले उसे अवश्य ही सम्भावित दण्ड का ध्यान आयेगा।

बालक द्वारा किये हुए किसी कार्य के सम्बन्ध में सर्व प्रथम उसके ध्येय को समझ लेना चाहिये। बालक के ध्येय को समझे बिना ही उसे दण्ड दे डालना उसके

प्रति अन्याय है, क्योंकि बहुत सम्भव है कि उसका ध्येय बालक के ध्येय को सम- किसी को हानि या दुःख पहुँचाने का न रहा हो और अक- झाना आवश्यक स्मात् ही उसका कार्य असामाजिक हो गया हो। अतः बच्चे को दण्ड देने के पूर्व उसके व्यवहार तथा उसमें निहित

उद्देश्यों का विश्लेषण अवश्य कर लेना चाहिए। दण्ड देने के बाद जब बालक समझने के भाव में हो तो उसे दिये हुए दण्ड के कारण और औचित्य को समझा देना चाहिये। इससे दण्ड का शैक्षिक महत्त्व बढ़ जायगा और बालक यह न समझेगा कि उससे किसी प्रकार का व्यक्तिगत बदला लिया गया है।

शारीरिक दण्ड (Corporal Punishment)—बहुत से प्रौढ़ों की दृष्टि में थप्पड़ मारना या पीटना ही बच्चों के असामाजिक व्यवहार को दूर करने का सबसे अच्छा साधन है। मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि शारीरिक सबसे कम सन्तोषजनक दण्ड सभी प्रकार के दण्डों में सबसे कम सन्तोषजनक है, क्योंकि इससे बालक दण्ड के औचित्य तथा अपने असामा- जिक व्यवहार के समझने में प्रायः असमर्थ रहता है। शारीरिक दण्ड बहुधा क्रोध में ही दिया जाता है। इसलिए शारीरिक दण्ड पाने से बालक दण्ड देने वाले से घृणा करने लगता है। सम्पूर्ण परिस्थिति में दण्ड देने वाले के क्रोध को ही बालक अधिक व्यक्त देखता है। अतः वह इस क्रोध से ही अपनी दुःखद अनुभूति को सम्बन्धित कर बैठता है और उस क्षण के लिये अपने असामाजिक कार्य को अपनी दुःखद अनुभूति का

कारण नहीं मानता। इस प्रकार दण्ड का शैक्षिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। यदि शारीरिक दण्ड देना आवश्यक ही हो तो इसे यथासम्भव बालक के बुरे कार्य के क्रम में ही देना चाहिये। इसे बाद के लिये स्थगित नहीं करना चाहिए। जब दण्ड देर से दिया जाता है तो दण्ड और अपने बुरे कार्य के परस्पर-सम्बन्ध को समझना बालक के लिए कठिन हो जाता है, और इस प्रकार दण्ड का सारा महत्त्व ही नष्ट हो जाता है।

दण्ड के अन्य स्वरूप (Other forms of Punishment)—यदि बालक द्वारा किये हुये बुरे कार्य से दण्ड का सीधा सम्बन्ध नहीं है तो उसका बालक के ऊपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिए डाँट-फटकार, कुछ किये हुये बुरे कार्य से सुविधाओं से बालक को वंचित करने तथा खेल के साथियों से उसको अलग कर देने का महत्त्व कुछ भी न होगा, यदि दण्ड का सीधा सम्बन्ध हो

इसका बालक द्वारा किये हुये कार्य से सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि बालक अपने खेल के सम्बन्ध में ही कोई अनुचित कार्य कर बैठता है तो उसे खेल के साथियों से कुछ समय के लिए दण्ड-स्वरूप अलग कर देना उपयुक्त हो सकता है, परन्तु इसके लिए उसे उसकी सुविधाओं से कुछ समय के लिए वंचित कर देना उतना उपयुक्त नहीं हो सकता। कुछ शिक्षक या अभिभावक कुछ बुरे कार्यों के लिए दण्ड के स्वरूप को पहले से ही निश्चित किये रहते हैं। उदाहरणार्थ, फर्श पर स्याही गिरा देने, छोटे बच्चे को पीटने तथा कोई झूठ बोलने आदि के लिए “कोने में कुछ देर तक खड़ा रखना” किसी अभिभावक अथवा शिक्षक द्वारा बालक के लिए पूर्व निश्चित किया हुआ दण्ड हो सकता है। इस प्रकार के दण्ड से विशेष लाभ नहीं। जैसा कसूर हो उसी के अनुसार दण्ड देना चाहिए, जैसे फर्श पर स्याही गिरा देने के लिए ‘कोने में खड़ा करने’ के स्थान पर यदि बालक को स्वयं फर्श को स्वच्छ कर देने के लिए कहा जाय तो इसका अधिक शैक्षिक महत्त्व होगा। इसी प्रकार यदि बालक जान बूझकर किसी दूसरे बालक का खिलौना नष्ट कर देता है तो उसे अपने खिलौने में से एक खिलौना दण्डस्वरूप दूसरे बालक को देने के लिए कहा जा सकता है। यदि वह किसी दूसरे बालक का बाल पकड़कर खींच लेता है तो उसके भी बाल खींचकर यह उसे दिखलाना चाहिये कि बाल खींचने से कितना कष्ट होता है।

पुरस्कार

बालक को विनयशील बनाने में पुरस्कार का भी बड़ा भारी महत्त्व है। यदि बालक से किसी अच्छे कार्य की अपेक्षा की जाती है तो हमारा यह भी प्रयत्न होना चाहिए कि हमारे व्यवहार से बालक उस सामाजिक कार्य की कृत्रिम पुरस्कार अथवा उपयुक्तता तथा औचित्य को समझे। उसे यह समझाने के घूस नहीं, सामाजिक लिए हम प्रशंसा अथवा पुरस्कार का सहारा ले सकते हैं, मान्यता क्योंकि पुरस्कार और प्रशंसा से बालक के सामाजिक कार्यों को उसकी कुछ सुखद अनुभूतियों से जोड़ा जा सकता है।

पुरस्कार और प्रशंसा का तात्पर्य कृत्रिम पुरस्कार अथवा 'ब्रूस' से नहीं समझना चाहिए, अन्यथा बालक में एक कुप्रवृत्ति आ जायगी। जिस प्रकार दण्ड का सम्बन्ध किये हुए बुरे कार्य से होना चाहिए उसी प्रकार पुरस्कार का भी उस कार्य से होना चाहिए जिसे हम चाहते हैं कि बालक बार-बार दिखलाए अर्थात् जिसके बारे में हम बालक की स्थायी आदत बनाना चाहते हैं। बालक को उसके अच्छे कार्य के लिए कदाचित्त सबसे सरल और सबसे अधिक प्रभावशाली पुरस्कार उसे 'सामाजिक मान्यता' (Social Recognition) प्रदान करना है। 'सामाजिक मान्यता' को सदा अच्छे कार्य से सम्बन्धित किया जा सकता है। जैसे—'अखिलेश ! तुमने यह काम बहुत ही अच्छा किया, शाबाश !!'

नैतिक विकास पर प्रभाव डालने वाली कुछ बातें (Factors Influencing Moral Development)

बालक के नैतिक विकास पर उसके वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वातावरण की जिन बातों से उसका नैतिक विकास प्रभावित होता है उनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण बातों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

कुटुम्ब (Family)

कुटुम्ब के लोगों का बालक के नैतिक विकास पर चार प्रकार का प्रभाव पड़ता है :—

- (१) कुटुम्ब का व्यवहार बालक के लिए आदर्श स्वरूप होता है। अतः वह उसके अनुकरण की चेष्टा में रहता है।
- (२) पुरस्कार, प्रशंसा तथा दण्ड के सहारे कुटुम्ब बालक को सामाजिक व्यवहार दिखलाना सिखलाता है।
- (३) बुरे कार्य के अनुसार दण्ड देकर, कुटुम्ब बालक को उसके बुरे कार्य की कठोरता को समझ सकता है।
- (४) अच्छे कार्य को करने के लिए कुटुम्ब बालक को अनेक प्रकार की प्रेरणायें दे सकता है।

साधारणतः बालक अपने कुटुम्ब के बड़े लोगों, जैसे माता-पिता, चाचा-चाची, तथा भाई-बहन, के व्यवहार को आदर्श मानता है और उनके बुरे आचरण को भी अच्छा ही समझता है और तदनुसार स्वयं व्यवहार दिख-बड़े लोगों का व्यवहार लाने का प्रयत्न करता है। माता-पिता का बुरा स्वास्थ्य बच्चे के लिए आदर्श तथा उनकी मन्द वृद्धि, बुरी आर्थिक स्थिति तथा अन्य बातों से घर का वातावरण दूषित हो जाता है। घर के बुरे वातावरण से बालक का नैतिक विकास अवांछित दिशा की ओर जा सकता है और आगे चलकर बालक असामाजिक कार्यों में भाग ले सकता है। लड़कियों को प्रायः घर के

अन्दर अधिक रहना पड़ता है। अतः बुरे वातावरण का उनके नैतिक विकास पर लड़कों की अपेक्षा अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

अपराधी लड़कियों के अपने अध्ययन में फ़रनलड¹ ने देखा कि उनमें से ८७ प्रतिशत कुव्यवस्थित घरों की थीं। अपने चिकित्सालय में लाये गये बालकों के अध्ययन में पेण्टर² और ब्लैनचार्ड ने देखा कि उनमें ६० प्रतिशत बुरे कौटुम्बिक वातावरण से आए थे।

खेल के साथी (Play Companion)

जब बालक स्कूल जाना प्रारम्भ कर देता है तो दिन का उसका अधिकांश समय घर से बाहर ही बीतता है। अब वह प्रौढ़ों की अपेक्षा अपने ही उम्र के अन्य बालकों के सम्पर्क में अधिक आता है। अतः उसके नैतिक विकास पर उसके साथियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

फिट³ ने अपने अध्ययन में देखा कि नर्सरी स्कूल के बच्चों के भी नैतिक व्यवहार पर उनके साथियों का प्रभाव पड़ता है। हीली⁴ और ब्रॉनर ने अपराधी बालकों के अपने अध्ययन से निष्कर्ष निकाला है कि ६२ प्रतिशत अपराध बुरे साथियों द्वारा अभिप्रेरित किये जाते हैं।

स्कूल

स्कूल जाने लगने से बालक प्रतियोगिता के खेलों में भाग लेने लगता है। प्रतियोगिता सम्बन्धी खेलों में नैतिक शिक्षा के बड़े अवसर मिलते हैं। खेल में बच्चों को ईमानदार बनाने तथा स्वार्थ-त्याग करने की शिक्षा प्रतियोगिता-सम्बन्धी मिलती है। खेल में खेल के नैतिक नियमों की जो अवहेलना करता है, उसे अन्य लड़के हेय की दृष्टि से देखते हैं। अतः ऐसे अवसरों पर नैतिक नियमों का पालन करना बालक को

¹ Fernald, G. M.—Results of tests with specific cases with emphasis on the study of the delinquent type, *Psychological Bulletin*, 12, 318-319, 1915.

² Payntes, R. H. and Blanchard, P.—Educational Achievement of Children with Personalities and Behaviour Difficulties, Joint Committee on Method of Preventing Delinquency, New York, 1928.

³ Fite, W. D.—Aggressive behaviour in young children and children's attitudes towards aggression, *Genetic Psychology Monogram*, 22, 151-319, 1940.

⁴ Healy, W. and Bronner, A. F.—New light on delinquency and its treatment, Yale Univ. Press, New Haven, 1936.

बड़ा ही आवश्यक जान पड़ता है। जो खिलाड़ी किसी तरह जीतना चाहता है उसे अच्छा खिलाड़ी नहीं कहा जाता। जो खेल में सारा श्रेय अपने ही पास रखना चाहता है और अपने अन्य साथियों को अपना कौशल दिखलाने का अवसर नहीं देता उसकी निन्दा की जाती है। इस प्रकार स्कूल के द्वारा आयोजित खेलों से बालकों को बड़ी नैतिक शिक्षा मिलती है।

जिस स्कूल में स्व-शासन (Self-government) के आधार पर विनय-स्थापन की व्यवस्था की जाती है उस स्कूल के बालकों में वांछित नैतिक प्रतयों का विकास होता है, क्योंकि इससे आत्म-नियन्त्रण तथा दूसरों की सुविधाओं पर ध्यान देने की शिक्षा मिलती है। प्रत्यक्ष परिस्थितियों में वास्तविक अनुभूति से बालकों को बहुत कुछ सिखाया जा सकता है। कहना न होगा कि ऐसे अवसरों का स्कूल में सरलता से आयोजन किया जा सकता है।

पुस्तकें

माता-पिता तथा शिक्षकों की यह धारणा है कि बच्चों के नैतिक प्रतयों के विकास पर उनके द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए वे सोचते हैं कि बालकों द्वारा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों पर ध्यान देना चाहिए। उनकी इस धारणा में सत्यता अवश्य है, क्योंकि छपी हुई बातों का प्रभाव पाठक पर बड़ी ही जल्दी पड़ता है। परन्तु परीक्षण द्वारा अभी तक यह नहीं निश्चित किया जा सका है कि बालकों के नैतिक विकास पर पुस्तकों का प्रभाव कहाँ तक पड़ता है।

सिनेमा

मनोवैज्ञानिकों ने यह जानने का विशेष प्रयत्न किया है कि बालकों के नैतिक विकास पर सिनेमा का क्या प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार सिनेमा का व्यक्ति की वाणी और पहनावे पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार उसका प्रभाव उसके नैतिक व्यवहार पर भी पड़ता है। सिनेमा से व्यक्ति के जीवन-दृष्टिकोण पर प्रभाव पड़ सकता है। उससे धन और वैभव की इच्छा व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती है। उससे उसकी प्रवृत्ति अपराध करने की ओर भी जा सकती है। कैशोर में बालकों में निर्देश-योग्यता (Suggestibility) बड़ी प्रबल होती है। अतः इस पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए कि वे कैसा सिनेमा देखने जा रहे हैं।

बुद्धि और नैतिकता

(Intelligence and Morality)

नैतिकता के लिए केवल बुद्धि की ही आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि नैतिकता

के विकास में बुद्धि की अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि किसी परिस्थिति की अच्छाई और बुराई को समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती ही है। परन्तु इसे समझने के लिए बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की बुद्धि आवश्यक नहीं। एक सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति भी इसे सरलता से समझ सकता है। हार्टशोन^१ और मे ने बालकों पर अपने परीक्षणों में देखा कि बुद्धि और ईमानदारी में केवल ५० का ही सह-सम्बन्ध (Correlation) मिला। टरमन^२ को १००० बालकों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि उनमें १३० बुद्धि-लब्धि वाले बालक ईमानदारी, सच्चाई तथा अन्य समान नैतिक गुणों में सामान्य बालकों की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़े हुए थे। बर्ट^३ ने २०० अपराधी बालकों के अध्ययन में देखा कि उनमें ८ प्रतिशत ७० बुद्धि-लब्धि के नीचे के थे। हीली^४ और ब्रानर ने ४००० अपराधी बालकों के अध्ययन में १३.५ प्रतिशत को मन्द-बुद्धि का पाया।

विगम^५ का कथन है कि बुद्धि और नैतिक व्यवहार साथ-साथ इसलिए चलता है, क्योंकि बुद्धिमान लड़के समझते हैं कि उचित व्यवहार ही बुद्धि-युक्त आचरण है। बुद्धिमान लड़के प्रायः नैतिक व्यवहार दिखलाते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसा व्यवहार ही सबसे अच्छा फल देगा। एक बुद्धिमान बच्चा अथवा प्रौढ़ व्यक्ति यह शीघ्र समझ लेता है कि जीवन में जो कुछ वह चाहता है, उसे बेईमानी और धोखे की अपेक्षा ईमानदारी और सच्चाई के सहारे वह अधिक सरलता से पा सकता है।

शरारतें

(Mischiefs)

कुछ बच्चे अपने मन में यह धारणा बना लेते हैं कि ऊधम करने से वे दूसरों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित कर सकेंगे। इन ऊधमों के कारण दण्ड पाने पर भी वे अपने ऊधमों को शीघ्र नहीं छोड़ते, क्योंकि दूसरों अपनी ओर दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में उन्हें विशेष आनंद ध्यान खींचने के लिए आता है।

^१ *Ibid.*

^२ Terman, L. M.—*Genetic Studies of Genius* Vol. II, Stanford University Press, Stanford Univ. 1926.

^३ Burt, C.—*The Young Delinquent*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1925.

^४ *Ibid.*

^५ Wiggam, A. E.—Do brains and character go together? *School and Society*, 54, 261-264, 1940.

कुछ बड़े बच्चों का समूह शरारत करने में विशेष आनन्द का अनुभव करता है। दूसरों को चिढ़ाने, दरवाजे की घण्टी को बजाने, साइकिल या मोटर के टायरों की हवा निकाल देने, सड़कों, रास्तों या दीवारों पर मनमाने चित्र बनाने या लिख देने में समूह का प्रत्येक सदस्य आनन्द लेता है, क्योंकि वह समझता है कि परिस्थिति का वह पूरा स्वामी है। स्कूल में दूसरे बालकों के साथ कानाफूसी करने, इधर-उधर कागज के टुकड़े पहुँचाने तथा दूसरे बच्चों को तंग करने से दण्ड पाने पर भी कुछ बालकों को इसमें आनन्द आता है, क्योंकि वे सोचते हैं कि इससे वे दूसरों के ध्यान के केन्द्र हो जाते हैं।

सारे बचपन भर कुछ व्यक्तियों के व्यवहार में शरारतें पाई जाती हैं। बचपन में बालक माता-पिता के नियन्त्रण को ढीला कर समूह के नियन्त्रण में आ जाता है। अतः इस काल में उसमें शरारतों का देखना स्वाभाविक अप्रौढ़ता के लक्षण है। अतः इस काल की शरारतों से माता-पिता तथा शिक्षक का घबड़ाना ठीक नहीं है। घर पर की जाने वाली शरारतों में बिस्तरे पर पेशाब कर देना, ऊधम मचाना, छोटे बच्चों को अनायास पीट देना, मटरगस्ती करना, अवज्ञा करना, अनियमितता, झूठ बोलना तथा चोरी करना आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ये सभी शरारतें बच्चे के अप्रौढ़ता के लक्षण हैं। मनो-वैज्ञानिक नियन्त्रण और व्यवहार दिखलाने पर इनमें से अधिकांश स्वतः दूर हो जाते हैं।

तरुणावस्था के पूर्व अर्थात् ग्यारह से चौदह वर्ष के लगभग बच्चों में स्वार्थ-परता तथा उत्तरदायित्व से भागना अधिक देखा जा सकता है। इस समय उन्हें अपने व्यक्तित्व-स्थापन की कुछ चिन्ता हो जाती है। अतः अपने कार्यों में दूसरे के हस्तक्षेप का वे कभी-कभी स्पष्टतः विरोध करते हैं।

बच्चों के झूठ (Childrens' Lies)

बच्चों की शरारतों में 'झूठ बोलने' का मनोवैज्ञानिकों ने विशेष अध्ययन किया है। लेनार्ड¹ ने बच्चों के ७०० झूठ का अध्ययन किया और उसने देखा कि उनमें ६८ प्रतिशत का कारण दूसरों द्वारा अस्वीकृत तथा दण्ड से भय था। उनमें से १२ प्रतिशत बच्चे की कल्पना अथवा अतिशयोक्ति के कारण और २० प्रतिशत जान-बूझकर कल्पना के कारण अथवा धोखा देने के उद्देश्य के थे।

मार्गन² के अनुसार बच्चों के झूठ को सात श्रेणियों में रखा जा सकता है :—

¹ Leonard, E. A.—A parent's study of childrens' lies, *Journal of Genetic Psychology*, 27, 105-135, 1920.

² Quoted in *Child Development*, p. 465-466, by Hurlock E. B., Mc-Graw-Hill, New York, 1950.

- (१) कल्पना के कारण खेल में ।
- (२) बातों को ठीक-ठीक न कह सकने के कारण अथवा दूसरों द्वारा बहकाने पर सच्चाई को छिपाने के लिए ।
- (३) दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ।
- (४) घृणा और प्रतिशोध की भावना से ।
- (५) कड़े नियन्त्रण के भय से ।
- (६) अपने स्वार्थ-पूर्ति हेतु दूसरों को धोखा देने से ।
- (७) अपने मित्र की रक्षा के लिए ।

कुछ लड़के और लड़कियाँ दण्ड के भय से दूसरों को दोष देती हैं । लड़के झूठ बोलकर दण्ड से बच जाने में प्रायः अपनी बहादुरी समझते हैं । ऐसे बच्चे बहुधा उस वातावरण में पाये जाते हैं जिसमें प्रौढ़ लोग शेखी में वातावरण का प्रभाव अनायास झूठ बोला करते हैं । लूई^१ ने अपने अध्ययन में देखा कि झूठ बोलने वाले बच्चे प्रायः ऐसे अवस्थित घरों से आते हैं । जहाँ उन्हें कोई प्यार नहीं करता और जहाँ उन्हें अस्थिर विनय-नियमों का पालन करना होता है । ऐसे बच्चों की माताओं के अध्ययन से लूई को पता चला कि उनमें से लगभग ६७ प्रतिशत अपने बचपन में बहुत झूठ बोलती थीं ।

बेईमानी (Dishonesty)

झूठ बोलने के स्वरूप में बेईमानी को छोड़कर अन्य प्रकार की बेईमानी स्कूल जाने की अवस्था के पहले भी दिखलाई पड़ती है, परन्तु बचपन के अन्तिम दिनों में यह अधिक पाई जाती है । लड़के और लड़कियाँ अपने तथा बचपन के अन्तिम दिनों में अधिक अपने मित्रों के अनुभवों से अपने माता-पिता, शिक्षकों तथा अन्य लोगों को धोखा देना सीखते हैं । कुछ अरुचि कार्यों को करने से अपने को बचाने के लिए वे बीमार होने का धोखा दे सकते हैं । किसी वस्तु को तोड़ देने से उसका दायित्व वे दूसरों पर ढकेल सकते हैं । किसी नियम को भंग कर देने पर वे ढोंग रच सकते हैं कि वे उस नियम को जानते ही न थे, अथवा स्कूल-कार्य या खेल के मैदान में धोखा दे सकते हैं या चोरी कर सकते हैं । बेईमानी के ये सभी प्रकार बचपन में पाये जाते हैं और बहुत कम ऐसे बच्चे होते हैं, जो किसी न किसी प्रकार की बेईमानी न करते हों ।

बच्चों की बेईमानी के सम्बन्ध में हार्टशोर्न^२ और मे ने ११००० बच्चों

^१ Lewis, M.—How parental attitudes affect the problems of children under twelve years of age, *Smith College Studies of Social Work*, 1, 403-404, 1931.

^२ *Ibid.*

का कुछ परीक्षाणात्मक अध्ययन किया। अपने अन्वेषण के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि घोखा देने में लिंग भेद (Sex-difference) ईमानदारी का कोई विशेष उल्लेखनीय नहीं है। उनका कहना है कि बड़े बच्चे सामान्य और एक-समान गुण नहीं छोटे बच्चों की अपेक्षा अधिक घोखा देते हैं। ऊँचे सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चे नीचे सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की अपेक्षा कम घोखा देते हैं। ऊँची बुद्धि वाले नीची बुद्धि वालों की अपेक्षा कम घोखा देते हैं। बच्चे जो आपस में मित्र थे, घोखा देने में प्रायः एक दूसरे के समान थे। हार्टशोर्न और मे ने देखा कि समान परिस्थितियों में सह-सम्बन्ध के गुणाङ्क (The correlation of the scores) ऊँचे थे, परन्तु परिस्थिति के परिवर्तन से सह-सम्बन्ध के गुणाङ्क नीचे हो जाते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईमानदारी का कोई ऐसा सामान्य और एक-समान गुण नहीं मिलता, जो कि बच्चों के सभी कार्यों में वर्तमान हो, अर्थात् ईमानदारी और बेईमानी बहुत हद तक परिस्थिति-विशेष तथा बच्चों के निहित उद्देश्य पर निर्भर करती है न कि किसी सामान्य नैतिक गुण पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक परिस्थिति में बालक ईमानदार हो सकता है और दूसरी परिस्थिति में बेईमान और एक परिस्थिति में उसके निहित ध्येय के अनुसार बेईमानी का लक्षण उसके देखते हुये भी उसे ईमानदार कहा जा सकता है और दूसरी परिस्थिति में उसमें ध्येय के अनुसार उसे बेईमान कहा जा सकता है।

अपराधी बालक (Juvenile Delinquency)

जो बालक कोई ऐसा अनैतिक व्यवहार दिखलाता है, जिससे वह राजनियमानुसार दण्ड का भागी होगा उसे अपराधी बालक कहा जा सकता है। कोई भी व्यवहार जो सामाजिक परम्परा तथा राज-नियम के विरुद्ध होता है उसे अपराध कहा जाता है। अपराध करने की प्रवृत्ति अनैतिक है और इस प्रवृत्ति की जड़ बालक के नैतिक विकास के क्रम में ही जागती है। पीछे इस पुस्तक के एक अध्याय में अपराधी बालक के कारण और उपचार पर विचार किया गया है। उन्हें यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं।

धार्मिक विकास

(RELIGIOUS DEVELOPMENT)

जिस प्रकार बच्चों के सर्वांगीण विकास में नैतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार लोक-हितकारी शिक्षा-व्यवस्था हेतु उसमें यथेष्ट रूप में धर्म को भी स्थान देना परमावश्यक है। इसके महत्त्व के अनुमान हेतु यदि हम शिक्षा के प्राचीन इतिहास का सिंहावलोकन करें तो ज्ञात होगा कि प्रायः सभी देशों में शिक्षा का जन्म और भरण-पोषण धर्म की ही गोद में हुआ है और उसी शिक्षा प्रणाली द्वारा शिक्षित राम, कृष्ण, ईसा आदि महापुरुषों के आदर्शात्मक व्यक्तित्व का अनुकरण आज हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्रदान करने में समर्थ ही नहीं करता है, अपितु एक आदर्श की स्थापना करता है। अतएव यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बालकों के सर्वांगीण विकास में धर्म और धार्मिक शिक्षा का अद्वितीय स्थान है। इस अध्याय में हम बच्चों के धार्मिक विकास, उसकी गति, स्तर और धार्मिक विकास के विभिन्न कारकों के अध्ययन का प्रयास करेंगे।

धार्मिक अनुभवों का बाल्यावस्था में महत्त्व (Importance of Religious Experience during Childhood)

कुछ विद्वानों के अनुसार धर्म प्रायः जीवनयापन का एक ढंग मात्र है जो सामाजिक व्यवस्था हेतु समाज के रीति-रिवाजों के पालन और उसकी मान्यताओं तथा आदर्शों के अनुसरण पर बल देता है, परन्तु धर्म का रूप बड़ा ही व्यापक है। “यदभ्युदय निश्चैयस सिद्धिः सधर्मः” अर्थात् धर्म निश्चैयस और अभ्युदय की सिद्धि करने वाला है। इसमें मानव के कल्याणकारी कारकों-सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का समावेश है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु धर्म प्रायः जीवन-भरण, नश्वरता, अमरत्व, आत्मा एवं परमात्मा आदि विषयों तथा कारकों की व्याख्या करके संतप्त मानव जीवन में आशा का संचार करता है और सामाजिक कुरीतियों

तथा रीतियों को पाप-पुण्य का रूप प्रदान करके मानवता के विकास का पथ प्रशस्त करता है ।

धार्मिक विकास का ढंग (The Nature of Religious Development)—जन्मजात् शिशु, कुछ मौलिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त मानव की अन्य विशेषताओं यथा नैतिकता, अनुशासन तथा सौन्दर्य-प्रियता आदि अनुभवों द्वारा धार्मिक विकास की भावनाओं से पूर्णतया अनभिज्ञ रहता है । परन्तु मानव शनैः-शनैः लौकिक रीतियों में अनुभवों के आधार पर, अपने को समायोजित करता है । यह समायोजन ही उसे धर्म से परिचित कराता है और वह धर्म निष्ठ बनता है । अन्ततोगत्वा इस प्रकार निर्मित व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व उसकी धार्मिकता का परिचय प्रदान करता है ।

शिशुकाल में धार्मिक विकास शिशु की धार्मिक स्थिति—जन्मजात शिशु न तो धर्म-विरोधी होता है और न धर्म-निष्ठ । उसे न तो नास्तिकता का विशेषण दिया जा सकता है और न उसे आस्तिकता की ही श्रेणी में रक्खा धर्म पैतृक-दाय के रूप में जा सकता है । आयु के साथ-साथ सामाजिक वातावरण के अनुसार प्रत्येक शिशु में धार्मिक भावनाओं का अभ्युदय अपने से बड़ों के आचरणों के अनुसरण द्वारा होता है । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक शिशु की धार्मिकता पैतृक-दाय के रूप में प्राप्त होती है । इस प्रकार अर्जित धार्मिक भावनाओं का विकास, आयु के अनुसार मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, यथा—भावात्मक, बुद्धिवादी और व्यक्तित्व निर्माण को किस प्रकार प्रभावित करता है—इस पर अगली पंक्तियों में विचार करेंगे ।

भावात्मक धार्मिक विकास—धार्मिक शिक्षा का आधार प्रायः पूर्णतया भावात्मक है । विज्ञान की भाँति इसके तत्त्वों का अध्ययन प्रयोगशाला में क्रियात्मक रूप में करके किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन, आँकड़ों के आधार धार्मिक शिक्षा का रूप पर नहीं किया जा सकता । भावात्मक कारक यथा—आशा, विश्वास एवं निष्ठा धार्मिक शिक्षा के मूलभूत आधार हैं । इन्हीं भावनाओं का आश्रय लेकर धर्म ईश्वर नामक ऐसी प्रशंसनीय सत्ता का विधान करता है जो मानव के लिए सर्वथा आदरणीय और सर्वशक्तिमान है ।

बाल्यावस्था के प्रथम चरण में शिशुओं के भावों में प्रौढ़ता का अभाव रहता है । उनका आधार काल्पनिक अधिक होता है । धीरे-धीरे आयु के साथ काल्पनिकता का ह्रास होता है और भावों की पृष्ठभूमि यथार्थ पर अधिक आयु-स्तर के अनुसार अवलम्बित हो जाती है । किशोरावस्था के कुछ पूर्व इसका निर्धारण बड़ा ही कठिन रहता है और इसके पश्चात् भावों की पृष्ठभूमि धीरे-धीरे वास्तविकता और क्रियात्मक अनुभवों द्वारा अर्जित आदर्श हो जाते हैं । अतएव धार्मिक शिक्षा के चयन में व्यावहारिक अनुभवों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है ।

धार्मिक-शिक्षा के विकास हेतु मार्ग-निर्धारण—जैसा कि हम विचार कर चुके हैं, कुछ सामाजिक कार्यों और रीति-रिवाजों को धार्मिक मान्यता प्राप्त होती है और कुछ को इतना जघन्य समझा जाता है कि उन कार्यों के घृणा के स्थान पर प्रेम करने वालों से लोग घृणा करने लगते हैं। इस व्यावहारिक की स्थापना रीति को धर्म में क्या स्थान दिया जाय—इस विषय पर कुछ सुविख्यात दार्शनिकों के विचार इस प्रकार हैं :

प्लेटो (Plato)—प्लेटो के मतानुसार सुकृत्यों से प्रेम और दुष्कृत्यों से घृणा करनी चाहिए। इस प्रकार दुष्कृत्य करने वाले व्यक्तियों के प्रति भी घृणा की भावना के जाग्रत होने का अवसर प्राप्त होता है।

जीसस (Jesus Christ)—जीसस का मत है कि दुष्कृत्यों से घृणा अवश्य की जाय, परन्तु ऐसे कर्म करने वाले व्यक्तियों से प्रेम किया जाय। उसके मतानुसार बैरी को भी प्रेम से जीता जा सकता है।

महात्मा गाँधी—गाँधी जी का सिद्धान्त है कि दुष्कृत्यों से घृणा करके उनका परिष्कार करना अहिंसा के सिद्धान्तों के विपरीत है। उनसे घृणा करने वाला व्यक्ति किसी न किसी रूप में दुष्कृत्यों के सम्पर्क में अवश्य आता है। अतएव इनके प्रति अनिच्छा प्रकट करते हुए स्वयं कष्ट उठाकर दुष्कृत्य करने वाले व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करके ऐसे कार्यों को त्याग देने पर बाध्य कराया जा सकता है। इस प्रकार घृणा के स्थान पर प्रेम द्वारा हम दुष्कृत्यों के परित्याग में सफल हो सकते हैं।

जन्मजात शिशु सर्व प्रथम जननी की ममता पाने का सौभाग्य प्राप्त करता है। ममता और वात्सल्य के आदान-प्रदान के कुछ समय पश्चात् शिशु के परिचय की सीमा विस्तृत हो जाती है और शनैः-शनैः उसे प्रेम, आयु स्तरानुसार उपेक्षा एवं उदासीनता के अनुभव करने का अवसर प्राप्त भाव प्रतिष्ठा होता है और उसके प्रति दान स्वरूप शिशु भी अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है। परन्तु शैशव के ये भाव प्रायः अस्थायी और अनुभव-शून्य होते हैं। अनुभव का पुट पाकर आयु के साथ-साथ इनमें दृढ़ता और स्थायित्व आता जाता है। शिशु की इस स्थिति का अध्ययन करके उनमें प्रेम, श्रद्धा, स्नेह, दया आदि सद्भावों की प्रतिष्ठा करना ही धार्मिक शिक्षकों का परम लक्ष्य होना चाहिए जिससे बालक का पूर्णतया समाजीकरण हो सके। उनमें समाज-विरोधी तत्त्वों को स्थान न प्राप्त होने पाये।

धार्मिक जीवन का विकास

(Development of Religious Life)

विचारों का विकास (Development of Ideas)—अन्य विचारधाराओं

की ही भाँति आयु के साथ-साथ धार्मिक विचारों में भी विकास होता जाता है। उदाहरणार्थ, ३ वर्ष के किसी शिशु का जब सर्व प्रथम किसी वस्तु से परिचय स्थापित कराया जाता है तो उस वस्तु की बनावट, रूप व रंग का बोध कराकर वस्तु के नाम से भिन्न करा दिया जाता है। उस समय यदि कमरे में टंगी हुई दीवाल-घड़ी का बोध बालक को कराया गया है तो वह केवल उस विशेष दीवाल घड़ी को ही दीवाल-घड़ी समझेगा। यदि उससे भिन्न आकार-प्रकार की कोई दीवाल-घड़ी दूसरे स्थान पर टंगी होगी तो उसे समझने में उस समय वह समर्थ न होगा। धीरे-धीरे आयु के साथ शिशु, आकार-प्रकार एवं रूप-रंग के अन्तर का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है और विभिन्न प्रकार की दीवाल-घड़ियाँ अथवा अन्य प्रकार की घड़ियों को भी पहिचानने लगता है। अर्थात् आयु के साथ-साथ शिशु के विचारों में विशिष्टता के स्थान पर सामान्यता आती जाती है जिससे उसका ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। किसी वस्तु के पहिचानने में बच्चा अपने नेत्रों, कानों अथवा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का सहारा लेता है और उस विशेष वस्तु को इनके बल पर एक संज्ञा प्रदान करता है। बालक की यह अनुभूति दूसरी वस्तु के पहिचानने में उसे एक संकेत प्रदान करती है। ये अनुभूतियाँ किसी विशिष्ट वस्तु के अर्थ पर ही नहीं आधारित होतीं। यथा गोलाकार घड़ी ही केवल घड़ी नहीं होती, अपितु चौकोर आकार भी उस यन्त्र को भी जो समय बताती हो घड़ी की संज्ञा दी जा सकती है। इसी प्रकार बच्चे का मानसिक विकास इस स्तर पर पहुँच जाता है जब कि वह विभिन्न रंग-रूप और आकार-प्रकार की घड़ियों को पहिचानने में सफल हो जाता है। वह विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

धार्मिक शिक्षण की कठिनाई (Difficulty in Religious Instruction)— ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि प्राथमिक स्तर पर यदि बच्चों को निश्चयात्मक रूप में ज्ञानेन्द्रिय जनित-ज्ञान प्रदान करने की सुविधा प्राप्त हो प्राथमिक स्तर पर तो वे स्वयं अपने ज्ञान-क्षेत्र को विकसित करने में सफल ज्ञानेन्द्रिय-जनित-ज्ञान हो सकते हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि धार्मिक शिक्षा प्रदान करने की असुविधा का प्रारम्भिक स्तर का बौद्धिक मान इतना उच्च है कि बच्चे का समझना तो दूर रहा, प्रौढ़ व्यक्ति भी उसे पूर्णतया समझने में प्रायः असमर्थ रहते हैं। यथा, धर्म और ईश्वर की परिभाषा स्वयं ही समझना इतना सरल नहीं है, फिर समझना तो दुरूह ही होगा। फिर भी बच्चों के विकास के महत्त्वपूर्ण कार्य की अवहेलना करके कर्तव्य-च्युत होना भी तो उपयुक्त नहीं है।

ईश्वर के प्रति बच्चों के काल्पनिक विचारों पर यदि ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि कोई बालक उसे महान तपस्वी, जटाधारी, दीर्घायु और एकदम

बुढ़ा मानता है; तो कोई महा प्रतापी बलवान, शूरवीर और योद्धा के काल्पनिक विचारों में उसे बाँधने की चेष्टा करता है। किबहुना, अपने-अपने भावों की प्रतिच्छाया का काल्पनिक रूप देकर परम-बोध कराने की प्रेरणा पिता परमात्मा को विभिन्न रूपों में साकार करने की चेष्टा सभी बालक करते ही हैं। परन्तु उनकी यह कल्पना, आधार के ठोस न होने के कारण, समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है। अध्यापकों और अभिभावकों को चाहिए कि बालकों के ईश्वर-सम्बन्धी काल्पनिक विचारों को ऐसी प्रेरणा प्रदान करें कि वे ईश्वर में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का प्रतिष्ठापन करने में सफल हो सकें। उनका ईश्वर अलौकिक होते हुए भी उनके सामान्य जीवन का साथी बन सके। हमारे धार्मिक ग्रन्थों की रचना के स्रोत में यही भावना विद्यमान है। बाल्मीकि रामायण और तुलसी का मानस ईश्वर की प्रतिष्ठा श्री रामचन्द्र नामक युगपुरुष, जन-नायक मर्यादा पुरुषोत्तम और सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के प्रतीक के रूप में करता है। इस प्रकार बच्चों के धार्मिक और ईश्वर की प्रतिष्ठा सम्बन्धी काल्पनिक विचारों को एक ठोस आधार प्राप्त होता है। धर्म-सम्बन्धी अन्य आचरणों तथा तथ्यों—यथा, पूजा-पाठ, आराधना की विधि आदि का तो सरलतापूर्वक क्रियात्मक अनुभव बच्चों को बड़ी आसानी से प्रदान किया जा सकता है। यहाँ अध्यापकों एवं अभिभावकों को चाहिए कि वे बच्चों को ईश्वर की आस्था या धर्म की स्थिति का बोध कराते समय धर्म-संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता से बहुत दूर रहें और उनकी धार्मिक शिक्षा का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत और आध्यात्मिकता पर आधारित हो।

क्रियात्मक प्रणाली द्वारा बोध करना—ज्ञानेन्द्रिय-जनित-ज्ञान प्रदान करने की उपयुक्त विधि के अतिरिक्त बोध कराने की दूसरी प्रणाली क्रियात्मक अथवा अभ्यास की है। अभ्यास द्वारा बन्दर मोटर चला लेता है। हाथी को साइकिल चलाते देखकर हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। अभ्यास द्वारा ही कबूतरों से पत्रवाहक कार्य कराया जाता रहा है। बौद्धिक क्षेत्र में मानव इन सभी पशु-पक्षियों से श्रेष्ठ है। अतएव कोई कारण नहीं कि अभ्यास और क्रियात्मक साधना द्वारा बालकों को धर्म का बोध कराने में सफलता न मिल सके। अतएव धार्मिक कार्यक्रमों, पूजा-पाठ तथा आयोजनों में क्रियात्मक रूप से भाग लेने पर बालकों की धारणा में परिवर्तन किया जा सकता है तथा उनके अन्तःकरण को अधिक विशालता प्रदान की जा सकती है। समाज-सेवा धर्म का प्रमुख अंग है। कुछ लोगों की धारणा है कि जनता की सेवा ईश्वर की सेवा है। इसलिए जनता को जनार्दन का रूप दिया जाता है। इसके अतिरिक्त "मैं तुमको ढूँढ़ता था जब कुंज और वन में, तू मुझको ढूँढ़ता था तब दीन के वतन में" धारणा भी तो इसी की प्रतीक है। अभ्यास द्वारा स्वभाव को परिवर्तित किया जा सकता है। यदि पुनीत कार्यों का अभ्यास विद्यार्थियों

को कराया जाय तो निश्चित है कि श्रेष्ठतम कार्य करना उनकी स्वभावगत विशेषता हो जायेगी और उनके धार्मिक जीवन का मानसिक विकास सुनियोजित और निर्बाध रूप में हो सकने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी ।

धर्म एवं व्यक्तियों का विकास—व्यक्ति का व्यक्तित्व ही उसके जीवन की ज्योति है । व्यक्तित्व में एकरूपता एवं दृढ़ता लाना एक ऐसा अमूल्य जीवन-दर्शन है जिसकी प्राप्ति में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है । अब हम विचार करेंगे कि उपर्युक्त दर्शन की पूर्ति अर्थात् दृढ़ व्यक्तित्व के निर्माण तथा विकास में धर्म कहाँ तक सहायक है ।

धार्मिक अनुभवों द्वारा जीवन-स्तर का विकास—जीवन-अर्हता के निर्धारण में धार्मिक समर्पण प्रायः उच्चतम मान्यता अथवा श्रेष्ठतम भावों के रूप में कार्य करता है । धार्मिक पृष्ठभूमि पर चरित्र में एकता, दृढ़ता और विशालता उत्पन्न करके व्यक्तित्व के क्षेत्र को विस्तृत किया जा सकता है । धार्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर-भक्ति सर्वोत्तम भावों की जननी है । धर्मात्मा व्यक्तियों की आत्मा में ईश्वर निवास करता है—यह हमारी प्राचीन और दृढ़तम भावना है । इसी की प्रेरणा के फलस्वरूप हम पञ्चों में परमेश्वर का दर्शन करते हैं । इन धारणाओं का एकमात्र कारण धार्मिकता के आधार पर हमारे विचारों में अलौकिक शक्ति की उत्पत्ति और आत्मा की विशालता है—जो धर्म की अभूतपूर्व देन है और जिसके द्वारा हमारे चरित्र-बल में दृढ़ता और व्यक्तित्व-सौजन्यता तथा विशालता आती है और हमारी अर्हतायें और जीवन-स्तर में निर्विघ्न रूप से प्रगति आती है ।

धार्मिक शिक्षण द्वारा व्यक्तित्व को गत्यावरोध से बचाना—प्रायः धार्मिक समारोहों और आयोजनों के कार्यक्रमों की अनौपचारिकता में धर्मनिहित उद्देश्यों पर केवल आवरण ही नहीं डालतीं, अपितु यदा-कदा उनकी पूर्ति में बाधक भी सिद्ध हो जाती हैं । इसका प्रमुख कारण विचारों की उच्छृङ्खलता है । कभी-कभी परिपक्व विचार वाले व्यक्तियों से भी ऐसी भूलें हो जाती हैं, तो फिर बच्चों का कहना ही क्या ! उनमें तो लड़कपन का रहना स्वाभाविक ही है ! धर्म के औपचारिक तत्वों का अन्धानुकरण करना, रूढ़ियों से अनावश्यक रूप में भी चिपटकर चलना आदि धर्मान्धता और लड़कपन के अतिरिक्त और क्या है ? उच्छृङ्खल धर्मानुयायी किसी भी आकस्मिक दुर्घटना तथा दैविक प्रकोप को धर्म-विरोधियों के कर्मों का फल घोषित करने से नहीं चूकते । वे पूजा-पाठ करते हैं तो अपने किसी न किसी स्वार्थ की पूर्ति के मन्तव्य से । उनका विचार है कि यदि इस प्रकार की पूजा करेंगे तो धनवान हो जावेंगे । आज हमें सन्तानोत्पत्ति, दरिद्रता निवारण अथवा विभिन्न प्राकृतिक प्रकोपों के निवारणार्थ पूजा-पाठ करते हुए अनेक धर्मानुयायी दिखाई पड़ते हैं । परन्तु यही उनकी उच्छृङ्खलता अथवा लड़कपन है । इस प्रकार वे अपने व्यक्तित्व को दोषी और जीवन-स्तर के मूल्यों

को गिरा देते हैं। उनके सामाजिक, बौद्धिक और शारीरिक तथा नैतिक विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। अतएव शिक्षकों को चाहिए कि विद्यार्थियों को इन धार्मिक अन्धवश्यासों से दूर रखकर उनके सर्वाङ्गीण विकास की रक्षा करते हुए व्यक्तित्व में विशालता का समावेश करें।

भावात्मक दृढ़ता और मानसिक बुद्धि की एकता सच्ची एवं सन्तोषजनक प्रसन्नता की प्राप्ति के प्रमुख कारक हैं। सन्तोष एवं प्रसन्नता की प्राप्ति हेतु प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐन्द्रिक एवं सामाजिक इच्छाओं में एकता धार्मिक अनुभवों द्वारा स्थापित करके अपने उद्देश्यों के प्रति जागरूक रहते हुए अपने सन्तोषजनक प्रसन्नता जीवन का समुचित रूप में सभायोजन करना आवश्यक है। धार्मिक अनुभव एवं विश्वास द्वारा मानव उपयुक्त के अनुसार अपने व्यक्तित्व को निर्मित करने में सफल होकर जीवन में सच्चे एवं स्थायी आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

शिशुओं के धार्मिक विकास के साधन

(The Means for Religious Development of Children)

कला एवं क्रीड़ा द्वारा धार्मिक शिक्षा का विकास—धार्मिक शिक्षा के विकास के साधनों में चलचित्रों, रेडियो, टेलिविजन, नाटक, थियेटर और विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं तथा कलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इनके प्रभावों से परिचित होने के लिए हमें धर्म को जीवन का अंग स्वीकार करते हुए उसमें ऐहिक सत्यों की स्थापना करनी होगी।

क्रीड़ा द्वारा धार्मिक अनुभवों की प्राप्ति—बचपन के खेलों द्वारा शिशुओं को क्रियात्मक अनुभव की प्राप्ति होती है तथा उनकी सामाजिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित अनुभवों की पूर्ति भी आयु की परिपक्वता के साथ-साथ होती जाती है। यद्यपि इस रूप में प्राप्त ये क्रियात्मक एवं सामाजिक अनुभव धार्मिक तो नहीं होते, परन्तु इनसे धार्मिक अनुभवों की प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। खेलों द्वारा बच्चों में सामाजिक भावों का अम्युदय होता है और सामाजिक अथवा समाज की कल्याणकारी भावनार्यों ही धार्मिक रूप ग्रहण करती हैं। उदाहरणार्थ पहिले दो अथवा तीन बच्चे एक साथ मिलकर खेलते हैं। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती जाती है। फिर उनके दो समूह हो जाते हैं। प्रत्येक समूह अपने में सुसंगठित होता है। इस प्रकार हर समूह का प्रत्येक बालक अपने समूह के सदस्य के रूप में रहकर उनके उद्देश्यों की पूर्ति की चेष्टा करता है। उसके व्यक्तिगत उद्देश्य की इति हो जाती है। बालकों की इस मनोवृत्ति को जीवन के अन्य क्षेत्रों में रूपान्तरित करके धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। व्यक्तिगत उद्देश्यों के सम्मुख समूह उद्देश्यों को अधिक वरीयता और महत्त्व प्रदान करते समय सम्बन्धी भावना यद्यपि सामाजिक कही जा सकती है, परन्तु यही धार्मिक विकास के प्रेरक तत्त्व के रूप में कार्य करती है।

खेलों द्वारा बच्चों की कल्पना-शक्ति विकसित होती है तथा उनके भावात्मक

विचारों में दृढ़ता आती है। इसी आधार पर धार्मिक क्षेत्र की दिशा में उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। अतएव यदि बालकों को उचित खेलों द्वारा बच्चों का निर्देशन प्राप्त होता रहे तो खेलों द्वारा उनके धार्मिक विकास में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हो सकती है।

कलाओं द्वारा धार्मिक विकास—प्रायः प्रत्येक धर्म का इतिहास सम्बन्धित समाज की मूर्ति एवं वास्तुकलाओं में प्रदर्शित किया हुआ प्राप्त होता है। महापुरुषों की जीवनियाँ तथा उनके उपदेश और भावों के प्रदर्शन को हस्त तथा वास्तुकला व्यक्त करने हेतु भारत में मूर्तिकला का सहारा लिया गया है। देवी-देवताओं की मूर्तियाँ जो कि आज उपलब्ध हैं तथा अनुदिन उपलब्ध होती जा रही हैं इसकी साक्षी हैं। गौतम बुद्ध आदि विभूतियों के उपदेशों से सम्बन्धित अनेक शिलालेख स्तूप और स्तम्भ आज इसलिए पूज्य हैं क्योंकि पूजकों को उनमें शिवं और सुन्दरम् के दर्शन होते हैं। बच्चों को सौन्दर्यात्मक भावना को इससे तृप्ति प्राप्त होती है और उनके विचारों में धार्मिक तत्त्वों का प्रवेश होता है। मन्दिर, गुरुद्वारा और गिरजाघरों तथा देवालयों और देवस्थानों के चित्र एवं मूर्तियों से उन्हें धार्मिक प्रेरणा प्राप्त होती है।

चलचित्रों द्वारा धार्मिक शिक्षा के विकास में सहायता—यह सर्वमान्य सत्य है कि चलचित्र, नाटक, नाटिका, प्रहसन, ड्रामा आदि के देखने से कुछ समय के लिए मानव भावातिरेक से पुलकित हो जाता है और उसके उपयुक्त चलचित्रों द्वारा आदर्शों तथा जीवनयापन के ढंग पर इनकी एक अमिट छाप-सी पड़ जाती है। बच्चों की धार्मिक शिक्षा के विकास में चलचित्रों को इस दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। परन्तु ये विकास के लिए जितने उपयोगी हैं, उतने ही हानिकारक भी सिद्ध हो सकते हैं, यदि इनमें वाञ्छित सुधार न किया जाय। अतएव धार्मिक शिक्षा के विकास में चलचित्रों से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिए उन्हें निम्नलिखित रूप प्रदान करना नितान्त आवश्यक है :—

‘क’—चलचित्रों के कथानकों का आधार स्नेह और प्रेम हो। घृणा, ईर्ष्या एवं द्वेष से रहित हो जिससे सौहार्द्रपूर्ण वातावरण का सृजन हो सके।

‘ख’—इनसे बच्चों को ऐसी शिक्षा मिले जिससे वे प्राकृतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में सौहार्द्रपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर सकें।

‘ग’—चलचित्र इस प्रकार के हों जिनसे बच्चों का सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक स्तर ऊपर उठ सके।

‘घ’—चलचित्रों के कथानकों का चयन इस प्रकार का हो कि धार्मिक जीवन पर उसका लाभकारी प्रभाव पड़ सके।

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखकर तैयार किये गये चलचित्रों द्वारा बच्चों की धार्मिक शिक्षा के विकास में आशातीत सफलता प्राप्त की जा सकती है।

धार्मिक विकास पर परिवार अथवा घर का प्रभाव—परिवार अथवा घर प्राथमिक सामाजिक संस्था है। बच्चा परिवार में ही हँसना, बोलना और बात करना सीखता है। उसके जीवन के प्रथम शिक्षक बच्चे के माता-पिता और परिवार के अन्य व्यक्ति होते हैं जो उसे जान-बूझकर अथवा अनजाने विभिन्न प्रकार की शिक्षा-दीक्षा देते रहते हैं। बच्चे के सामाजीकरण का पूर्ण दायित्व परिवार पर होता है। परिवार के वातावरण के अनुकूल ही उसका सामाजीकरण होता है। नास्तिक परिवार के बच्चों का धर्मनिष्ठ होना इसीलिये प्रायः असम्भव सा होता है। परिवार के सदस्यों का ही अनुकरण करके शिशु जीवनयापन की रीतियाँ निश्चित करता है। माता-पिता को पूजा करते हुए देखकर वह भी उनका अनुसरण करता है। उनके धार्मिक विचारों को ग्रहण करके अपनी धारणा का पोषण करता है। अभिभावकों और परिवार के सदस्यों द्वारा यदि धार्मिक अनुष्ठानों, व्रतों अथवा आयोजनों को महत्त्व दिया जाता है और परिवार में उनका पालन होता है तो बच्चे अनायास ही इस प्रवृत्ति को अपनाने की चेष्टा करते हैं। यदि अभिभावकों का दृष्टिकोण धार्मिक संस्थाओं के प्रति उदार होता है तो बालक को भी उन संस्थाओं से मोह हो जाता है। धार्मिक विषयों पर घर में होने वाले वाद-विवादों का भी बालक के स्वभाव के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार परिवार के सदस्यों के व्यवहार, एवं कार्यकलाप तथा घर के वातावरण के अनुकूल ही बच्चे में धार्मिक भावनाओं का आविर्भाव होता है जिस पर उसकी रुचि का निर्माण आधारित है। घर के वातावरण में सजावट से लेकर परिवार के रहन-सहन के ढंग तक सम्मिलित होते हैं। अतएव परिवार अथवा घर की छोटी से बड़ी बात तक बच्चे पर अपनी अमिट छाप डालती है जिसके अनुकूल उसके भावी जीवन का निर्माण होता है। अतएव यदि घर अथवा परिवार का वातावरण धार्मिक विकास की दृष्टि से समुचित रूप में है तो बच्चे के धार्मिक विकास में किसी प्रकार की बाधा के आने की सम्भावना नहीं रह जाती।

धर्म-सम्बन्धी शैक्षिक संस्थाओं का धार्मिक विकास पर प्रभाव—भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों एवं मतों के अनुयायी निवास करते हैं। एक ही नगर अथवा कस्बे में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन एवं बौद्ध मतावलम्बी संस्थाओं के सुधार यथेष्ट संख्या में मिलेंगे। फलतः मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर और उनसे संलग्न प्रत्येक धर्म के शैक्षिक संस्थान एक दूसरे के निकट ही स्थापित हैं। ये संस्थायें प्रायः मक-तबों, गुरुकुलों एवं विभिन्न संस्थाओं के नाम से प्रख्यात हैं। यद्यपि इनमें धार्मिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है, परन्तु वास्तविक धर्म की उपेक्षा भी इनके द्वारा

होती है। मानव धर्म की शिक्षा के स्थान पर उनके द्वारा साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना का अधिक पोषण होता है। जहाँ तक सामान्य शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था का प्रश्न है, आचरण और नैतिक व्यवहार सम्बन्धी पाठों के अध्ययन से ही उनकी पूर्ति की चेष्टा की जाती है, जो कि समीचीन नहीं है। अतएव इन धार्मिक शैक्षिक संस्थाओं में सुधार की परम आवश्यकता है। आवश्यक सुधारों के पश्चात् इनसे धार्मिक विकास की सफलता की आशा की जा सकती है।

विद्यालयों द्वारा धार्मिक विकास—धार्मिक विद्यालयों एवं संस्थाओं द्वारा यद्यपि धार्मिक शिक्षा का आशातीत विकास कुछ त्रुटियों के कारण नहीं हो पा रहा है, फिर भी उनकी स्थिति इस दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत धार्मिक विकास में सामान्य विद्यालयों से अच्छी है। सामान्य विद्यालयों में विद्यालयों की संदिग्ध स्थिति सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि विद्यार्थियों को किस धर्म की शिक्षा दी जाय। विभिन्न धर्मावलम्बी छात्रों के होने के कारण, समुचित निर्णय लेना प्रायः असम्भव-सा हो जाता है, क्योंकि भारतीय संविधान के अनुसार शासन का कर्तव्य है कि समस्त धर्मों को समान संरक्षण प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त कुछ छात्र ऐसे भी होते हैं जिनके अभिभावक उन्हें किसी भी धर्म की शिक्षा नहीं दिलाना चाहते। यदि किसी प्रकार कई धर्मों की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है तो इन विभिन्न धर्मों की कुछ बातें एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होंगी और बालकों के विकास पर इनका प्रभाव बुरा पड़ेगा।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देते हुए विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करना यद्यपि कठिन अवश्य है परन्तु सामाजिक, नैतिक और राष्ट्रीय विकास के हित में इसका प्रबन्ध करना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। समाज और सभ्यता के विकास में यदि शिक्षा विकास की प्रणाली को जन्म देती है तो धर्म विकास की प्रेरणा प्रदान करता है। ऐसी स्थिति में विद्यालयों में ऐसे सामान्य धर्म की शिक्षा की व्यवस्था करनी है, जो प्रायः सर्वमान्य हो। जहाँ तक विभिन्न धर्मों के बीच छोटे-छोटे अन्तरों का प्रश्न है वे तर्क की कसौटी पर स्वतः रूपान्तरित हो जावेंगे तथा उनमें गम्भीर धार्मिकता आ जावेगी। ऐसे विषयों को धर्मान्धता के दृष्टिकोण से न देखकर उन्हें धार्मिक संकीर्णता के परे विशाल हृदयता से मनन करने की आवश्यकता है।

धार्मिक शिक्षा से लाभ—धार्मिक शिक्षा का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य ईश्वर और मानव में प्रेम उत्पन्न करना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के प्रयत्न में धार्मिक-शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति में उच्चतम गुणों और आदर्शों की उच्चकोटि के सामाजिक स्थापना करती है। इस प्रकार व्यक्तिगत विकास द्वारा रीति-रिवाज एवं समाज का उत्थान होता है और समाज की मान्यताओं, मान्यताओं की स्थापना आदर्शों एवं अर्हताओं का स्तर सर्वथा उच्च होता जाता है।

इसके विपरीत समाज की विभिन्न कुरीतियों यथा दासता, वेश्यावृत्ति, भिक्षाटन आदि का अन्त होता जाता है।

धार्मिक शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में उच्च कोटि के नैतिक गुणों के अतिरिक्त आत्म-विश्वास, आशावादिता, कर्तव्यपरायणता तथा सहृदयता की भी प्रतिष्ठा होती है। उनमें वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना की उत्पत्ति होती है जिससे देश, राष्ट्र और विश्व तथा सम्पूर्ण मानव समाज के उत्थान की आशा की जा सकती है। व्यक्तिगत जीवन सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् से परिपूर्ण होकर निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होता रहता है।

धार्मिक शिक्षा जीवनादर्शों की व्यवस्था करके जीवन और उसमें तारतम्य स्थापित करती है। इसका प्रभाव केवल व्यक्तिगत जीवन पर ही नहीं, अपितु सामाजिक जीवन और सम्पूर्ण समाज पर भी पड़ता है। समाज में एकता और पूर्णता आती है। समुचित धार्मिक शिक्षा द्वारा शान्ति की स्थापना और समाज तथा व्यक्ति में वाञ्छित समायोजन एवं उनमें सौहार्द्रपूर्ण भावों का उदय होता है। उदाहरणार्थ, धार्मिक ग्रन्थों में ईश्वर की इच्छा के सम्बन्ध में यदि किसी बालक ने पढ़ा है कि सभी जीवों पर दया करने वाले से ईश्वर प्रसन्न रहता है, तो वह सदैव इस नियम के पालन में रत रहेगा। यहाँ तक कि इसी प्रकार के अन्यान्य नियमों के आधार पर उसका जीवनादर्श स्थापित होगा, जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनुकरणीय होगा। धार्मिक शिक्षा द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में उनके अनुकूल अपने जीवनादर्शों को परिवर्तित करने की क्षमता भी आ जाती है। जहाँ तक व्यावहारिकता का प्रश्न है, यह विषय विज्ञान से भी अधिक व्यावहारिक और विशद है। जिस क्षेत्र में तथ्यों एवं आंकड़ों की अलब्धता के कारण विज्ञान की पहुँच नहीं हो सकती उस क्षेत्र को भी धर्मद्वीप आशा और विश्वास रूपी वतिका एवं धृत से प्रकाशित किए रहता है। किंबहुना व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के उत्थान में धार्मिक शिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि वर्तमान वैज्ञानिक युग की दुर्द्धर्ष विभीषिका से सशक्त होकर भारत के कोने-कोने में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था की स्थापना पर बल दिया जा रहा है।

सौन्दर्यात्मक विकास

(DEVELOPMENT OF AESTHETIC SENSE)

किसी सुन्दर वस्तु—चाहे वह प्राकृतिक यथा फूल-पत्ती, कुञ्ज, सरिता, सरो-
वर हो अथवा मानव की कलाकृति हो, को देखकर हम थोड़ी देर के लिए मन्त्रमुग्ध
से हो जाते हैं। उसके प्रति अथवा उसके सौन्दर्य की सरा-
सौन्दर्योपासना हना के प्रति अनेक प्रकार के भाव उठने लगते हैं। इन
प्राकृतिक गुण भावों की उत्पत्ति केवल मनुष्यों ही में नहीं, अपितु अन्य
प्राणियों में भी होती है। बीन की रसमयी तान पर रीझ
कर सर्प अपनी सुधि-बुधि खो बैठता है। हिरन चौकड़ियाँ भरना भूल जाता है। और-
तो-और कोट-पतंग तक इसी सौन्दर्यात्मक अनुभूति के वश में होकर अपने को कमल
दल के हवाले कर देते हैं। पुष्पों के सौन्दर्य और सुगन्धि पर रीझकर पंखुड़ियों से
वे चिपके पड़े रहते हैं। हाथी ऐसा भयानक प्राणी बीन की लय पर अपने और अपने
बल को भूल जाता है। यदि विचार किया जाय तो इन सब का एकमात्र कारण
सौन्दर्यात्मक अनुभूति है, जो वातावरण के अनुसार विभिन्न मात्रा में उत्पन्न होकर
प्रायः सभी प्राणियों को वशीभूत कर लेती है।

सौन्दर्यात्मक अनुभूति (Aesthetic Experience)

दैनिक जीवन में हमारी उत्तेजनार्थे प्रायः हमारे उत्तरदायित्व पर आघात
पहुँचाती रहती हैं। इसके फलस्वरूप यदा-कदा हमें कुछ भुँभलाहट सी हो जाती है,
परन्तु यह क्षणिक ही होती है। शीघ्र ही भावों में संतुलन
दैनिक जीवन में स्थापित हो जाता है। फिर भी इन दशाओं से एक भावा-
भावों का प्रकाशन त्मक अनुभव तो प्राप्त ही होता है। भावों के असंतुलित
होने और पुनः खोया हुआ संतुलन प्राप्त करके पूर्णतः आने
की प्रक्रिया के मापदण्ड-सम्बन्धी कोई निश्चित नियम नहीं हैं। यही कारण है कि
सौन्दर्यात्मक अनुभूति के सम्बन्ध में हमें कोई मनोवैज्ञानिक आँकड़े नहीं प्राप्त होते।

वैज्ञानिकों के मतानुसार मानव-विकास की गति लोचपूर्ण है। अतएव किसी व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक अनुभूति और रचनात्मक प्रवृत्ति को किसी एक स्तर पर निश्चित करना उचित प्रतीत नहीं होता। विकास की सीमा भावों का विकास निर्धारित हो जाने पर यह अनुमान है कि उस सीमा के पश्चात् विकास अवरुद्ध हो जावेगा। परन्तु व्यावहारिक रूप में उस निर्धारित सीमा तक पहुँचना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें यह मानना होगा कि मानव के विकास का क्षेत्र निःसीम है और उसे निरन्तर विकास का अवसर उपलब्ध है।

सौन्दर्यात्मक अनुभूति के विकास के सम्बन्ध में केवल यही आवश्यक नहीं है कि केवल उनका अनुभव ही किया जाय, अपितु उस अनुभव का प्रकाशन भी अनिवार्य है। इस प्रकार अनुभव प्राप्त करते और उसके प्रकाशन आदि की सम्पूर्ण क्रियाओं के योग को सौन्दर्यात्मक अनुभूति के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण की उपज होता है। उसकी रहन-सहन, आचार, व्यवहार, कार्य-कलाप, यहाँ तक कि विचारों पर भी वातावरण की स्पष्ट छाप रहती है। वातावरण का अर्थ यहाँ केवल भौगोलिक अथवा सामा-सौन्दर्यात्मक विकास जिक वातावरण से ही नहीं है, अपितु उस सम्पूर्ण वाता-पर वातावरण का वरण से है जिसमें वह पलता और बड़ा होता है, जिसमें प्रभाव वह सामाजिकता का पाठ पढ़ता है और जो उसके दैनिक कार्य-कलापों को प्रभावित करता है। विभिन्न वस्तुओं का वह अध्ययन करता है और उनके विषय में अपना एक मत निर्धारित करने के पश्चात् तत्सम्बन्धी अपने भावों को व्यक्त करता है। अतएव अध्यापकों को चाहिए कि बच्चों के सौन्दर्यात्मक विकास के सम्बन्ध में उनके वातावरण को अत्यधिक महत्त्व देते हुए यह जानने की चेष्टा करें कि किसी वस्तु का अध्ययन कोई बालक किस रूप में करता है और उस वस्तु के प्रति बालक में कैसे भाव जागृत होते हैं तथा उन भावों का प्रकाशन वह किस रूप में करता है।

अध्ययन करने हेतु सीखना—विशिष्टता के प्रति बालकों में अधिक आकर्षण होता है। सामान्य वस्तुओं पर उनका ध्यान अपेक्षाकृत कम आकृष्ट होता है। सामान्य व्यक्ति के अपेक्षाकृत पागलों को देखकर बच्चे अधिक विशिष्टता के प्रति उछल-कूद मचाने लगते हैं। इसका मुख्य कारण है कि आकर्षण उसकी वेष-भूषा, बोल-चाल एवं व्यवहार सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। उसकी बातों से बच्चे उसकी ओर आक-षित होते हैं और ज्यों-ज्यों अधिक सम्पर्क में आते हैं, उन्हें अन्तर अधिक प्रतीत होता जाता है। यह अन्तर उन्हें अध्ययन हेतु निरन्तर जिज्ञासु बनाता जाता है। प्रायः बच्चे पागलों के निष्क्रिय हो जाने पर उन्हें छेड़ते हैं। यहाँ तक कि उन पर पत्थर

आदि फेंक कर उसके प्रलापों अथवा प्रकार विशेष के व्यवहारों का आह्वान करते हैं। इस क्रिया को वे अपनी जिज्ञासा-प्रवृत्ति के वशीभूत होकर करते हैं, जिससे उसके व्यवहारों के अध्ययन का अधिक अवसर प्राप्त हो सके। बच्चे पागल और सामान्य व्यक्ति के व्यवहारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। अध्ययनोपरान्त जो विचार बच्चों में उठते हैं, उनका प्रकाशन प्रायः वे चित्र खींचकर, लिखकर अथवा अपने सामान्य व्यवहारों द्वारा प्रकट करते हैं। बच्चों द्वारा किए गये स्वतन्त्र चित्रणों में प्रायः उनके इसी प्रकार के संग्रहीत विचारों एवं भावों का प्रकाशन मिलता है।

उपयुक्त भाव प्रकाशन द्वारा हमें ज्ञात होता है कि बच्चे में पागल के प्रति क्या भाव उदय हुए, अर्थात् उसने पागल को किस रूप में देखा। इसी प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं यथा फूल-पत्तियों, कुञ्ज-फुलवारियों, पहाड़ों, नदियों आदि के दृश्यों को भी देखकर बच्चों में नाना प्रकार के भावों का उद्भव होता है और उन्हीं भावों के अनुसार उनके विचार बनते हैं। सौन्दर्यात्मक अनुभूति पर आधारित विचार स्थायित्व प्राप्त करके बच्चों के जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसे विचार प्रायः बच्चों की प्रवृत्ति और स्वभाव में यथेष्ट परिवर्तन लाने में सफल होते हैं। दया, रोष, क्रोध, खिन्नता, प्रसन्नता आदि विभिन्न प्रकार के भावों के उद्दीपन में इन विचारों का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। इस प्रकार सौन्दर्यात्मक अनुभूति में सीखने की प्रक्रिया अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। बच्चों के स्वस्थ विकास हेतु अध्यापकों एवं अभिभावकों को चाहिए कि बच्चों की इस क्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके उनके लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करने की व्यवस्था करें जिससे उनका सौन्दर्यात्मक विकास निर्विघ्न एवं समुचित रूप में हो सके।

सीखने में पथ-प्रदर्शन का कार्यान्वयन—किसी स्थिति का निरीक्षण करने में आयुस्तर का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। परिवर्षव आयु का व्यक्ति किसी दृश्य का अवलोकन जिस दृष्टिकोण से करता है उसी दृश्य का अव-
सीखने में आयु-स्तर का लोकन अपरिपक्व आयु का व्यक्ति दूसरे दृष्टिकोण से करेगा।
प्रभाव पागल व्यक्ति की बात में यदि शिशुओं को आनन्द की अनु-
 भूति होगी, तो परिपक्व आयु वाले व्यक्ति में सम्भव है दया का भाव जागृत हो। इस प्रकार अनुभूति का अन्तर बहुत कुछ आयु के अन्तर पर आधारित है। यह अवश्य है कि ज्यों-ज्यों आयु का अन्तर कम होता जाता है, अनु-
 भूति के अन्तर की दूरी भी कम होती जाती है। अतएव अनुभूति सम्बन्धी इस सम्भावित व्यतिक्रमता के निवारणार्थ एक अनुभवी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है। जिससे बालकों के मानसिक चिन्तन भावात्मक और सौन्दर्यात्मक अनुभूतियों में सामञ्जस्य स्थापित हो सके।

बहुधा समान व्यवहार का अर्थ विभिन्न लोग विभिन्न दृष्टिकोण से ग्रहण

करते हैं। इसके अतिरिक्त अवलोकन के समय प्रायः बच्चे व्यवहारों पर ध्यान ही नहीं देते। वे यह नहीं सोचते कि जिसका वे अवलोकन कर रहे हैं, उसके साथ उनका व्यवहार कैसा है और उन्हें किस रूप में प्रतिव्यवहार प्राप्त हो रहा है। सम्भव है कि अपने व्यवहार में लाया गया नाममात्र का परिवर्तन भिन्न प्रकार के प्रतिव्यवहार को जन्म दे सके। दर्शक अथवा दृश्य के व्यवहारों में हुए नाममात्र का परिवर्तन समस्त दृश्य के रूप में परिवर्तित कर सकता है और तदनुसार पूर्ण प्रक्रिया में अन्तर आ सकता है। अतएव स्पष्ट है कि समुचित अवलोकन हेतु बच्चों के लिए उचित परामर्श और संदर्शन अत्यन्त आवश्यक है।

भाव-प्रकाशन हेतु सीखना—अवलोकनोपरान्त शिशुओं की जिज्ञासा होती है कि जिसका अवलोकन किया है उसे किसी से कहा जाय। इस प्रकार उन्हें प्रकाशन के माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। अवलोकन के अनुभव दृश्य के स्थान पर भाव को लिखकर अथवा बातचीत द्वारा व्यक्त करना उतना सरल नहीं है जितना कि चित्रों द्वारा। अतएव बालक बहुधा अपने अनुभव को व्यक्त करने हेतु अपने अवलोकन के दृश्य का चित्रांकन करते हैं। परन्तु प्रायः देखा गया है, उनके द्वारा बनाया गया चित्र अवलोकित दृश्य का वास्तविक चित्र नहीं होता। उन चित्रों में स्वाभाविकता भी नहीं होती। इसका कारण यह है कि वे अवलोकित दृश्य का वास्तविक चित्रण नहीं करते, अपितु दृश्य के अवलोकन से उनमें जो भाव उत्पन्न होते हैं, चित्रण में उन्हीं का प्राधान्य रहता है। यदि किसी आकृति या वस्तु को देखकर उनमें भय का उदय होता है, तो वे चित्रण में उसे अवश्य विकराल रूप देंगे, भले ही उसकी वास्तविक स्थिति इसके विपरीत हो। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रत्येक दृश्य बालकों में एक ऐसे भाव का सृजन करता है जो उसकी वास्तविकता से भिन्न भी हो सकता है और बालक उसे उसी में ग्रहण करता है जैसा कि उसके अवलोकन से बालक में भाव उदय होते हैं। इस चित्रण में बालक का मन्तव्य केवल भाव-प्रकाशन होता है। वह यह नहीं सोचता कि कला की दृष्टि से उसका चित्रण उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त। यह चित्रण उसकी सौन्दर्यात्मक अनुभूति का चित्रण होता है न कि वास्तविक दृश्य का।

भाव-प्रकाशन हेतु सीखने से सम्बन्धित निर्देशन (Guidance)—बालकों के सौन्दर्यात्मक विकास हेतु आवश्यक है कि अध्यापक अथवा अभिभावकों द्वारा उसे अनुभव प्राप्त करने का उपयुक्त अवसर प्रदान किया जाय। अवलोकन एवं प्रकाशन में बालकों की सहायता हेतु अध्यापकों को उनके उत्तेजनात्मक प्रतिव्यवहारों से परिचित होना आवश्यक है जिससे वे अवलोकन का समुचित अवसर देने में सफल हो सकें।

अवलोकन की सामग्री का मूल्यांकन कलात्मक विशिष्टताओं के अनुसार न करके बालकों की ग्राह्य शक्ति और पसन्द के अनुकूल होना चाहिए। सामग्री ऐसी होनी चाहिए जो भावनाओं के विकास के दृष्टिकोण से बच्चों के अनुकूल हो।

अवलोकन के प्रकाशन के सम्बन्ध में आवश्यक है कि विचारों में कलात्मकता हो न कि प्रकाशन में। विचारों की कलात्मकता के आधार पर प्रकाशन में क्रम-भङ्गता एवं अपूर्णता का दोष न आने पायेगा। वास्तविकता का प्रकाशन यथोचित रूप में हो सकेगा।

प्रकाशन में उसकी पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रकाशन के मन्तव्य की सफलता उसकी विधि पर आधारित है, न कि प्रकाशन पर। प्रकाशन दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करके अपने विषय में लोगों से कुछ कहने के लिए अवश्य बाध्य कर सकता है, परन्तु उससे प्रकाशन-कर्त्ता के भावों के वास्तविक रूप का पता नहीं चल पाता।

प्रकाशन-सामग्री के तत्काल अनुपलब्ध अथवा अनुपयुक्त होने के कारण भी भाव-प्रकाशन समुचित रूप में नहीं हो पाता। सामग्री यदि उचित रूप और मात्रा में होती है, तो चयन करने का अवसर प्राप्त होता है और प्रकाशन-सामग्री की तत्काल प्रकाशन की सुविधा जाने अथवा अनजाने रूप में व्यवस्था भी प्रकाशन की वास्तविकता से परे नहीं होती।

प्रकाशन में सर्वथा भावों को महत्त्व देना चाहिए, न कि चित्रण को। कला अथवा चित्रात्मकता के भार से यदि भाव दब जाता है तो प्रकाशन असफल रहेगा। प्रकाशन में किसी भी वस्तु का चित्रण उसी रूप में होना चाहिए जो उससे सम्बन्धित भावों को प्रकट करने में सफल हो। यह आवश्यक नहीं है कि उसके वास्तविक रूप का चित्रण किया जाय।

निर्वाचन का ज्ञान प्राप्त करना

बहुधा देखा गया है कि लगभग ५० प्रतिशत बालक पुस्तकों का अध्ययन अनमनस्यकतापूर्वक करते हैं। इस श्रेणी में उन बालकों की संख्या अधिक होती है, जिनके साथी कम होते हैं अथवा मनोरंजन के साधन उन्हें प्रचुर मात्रा में नहीं उपलब्ध होते। 'बैठे से बेगार भली' वाली कहावत के अनुसार वे पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। यदि उन्हें खेल के साथी मिल जावें तो अधिक सम्भव है कि वे अध्ययन के स्थान पर खेलना अधिक उचित समझें। इस प्रकार उनके निर्वाचन

का कोई ठोस आधार नहीं होता है। इसका प्रमुख कारण पुस्तकों का उचित रूप में बालकों के लिए आकर्षक न होना तथा अभिभावकों, शिक्षकों एवं लेखकों की भूल हैं।

शिशुओं की प्रवृत्ति का अध्ययन प्रायः प्रौढ़ व्यक्ति करते हैं। इस अध्ययन और उसके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष पर उनकी व्यक्तिगत छाप का पड़ना प्रायः अनिवार्य सा हो जाता है। इस प्रकार अध्ययनोपरान्त की पुस्तकों की परिवर्तित सामग्री शिशुओं के लिए उतनी लाभदायक नहीं रह जाती, जितनी उससे आशा की गई रहती है। अतएव प्रत्येक लेखक के लिए आवश्यक है कि पुस्तकों की सामग्री के चयन के सम्बन्ध में शिशुओं की आयु और प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व प्रदान करे तथा अपनी और बच्चों की रुचि के अन्तर को सदैव दृष्टिगत रखे। पुस्तकों की भाषा-शैली और सामग्रियों में ऐसी नवीनता होनी चाहिए जो अनायास बच्चों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। पुस्तकों की सामग्री की क्लिष्टता एवं प्राचीनता से ऊब कर बच्चे प्रायः चलचित्र एवं रेडियो आदि ऐसे मनोरंजन के साधनों की शरण लेते हैं। यदि इन कार्यक्रमों के चयन में बच्चों की शिक्षा को भी यथोचित स्थान प्रदान किया जाय तो पाठ्यपुस्तकों की अनुपयुक्तता से होने वाली हानि के कुप्रभाव को कम किया जा सकता है। अध्यापकों एवं अभिभावकों द्वारा इन कार्यक्रमों में भाग लेने से बच्चे अधिक प्रभावित होंगे और उनकी सौंदर्यात्मक अनुभूति का यथोचित विकास होगा।

निर्वाचन में बालकों की सहायता—चलचित्रों, रेडियो तथा इस प्रकार के कलात्मक मनोरंजन के साधनों से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिए बालकों को आवश्यक निर्देशों के अतिरिक्त उन्हें अपने भावों के स्वतः समझने का अवसर देना आवश्यक है। अध्यापकों द्वारा उनके भावों का किया गया मनन प्रायः उनकी सौन्दर्यात्मक अनुभूति अथवा कलाप्रियता को नियन्त्रित एवं भावात्मक विचारों के सीमित कर देता है। बच्चों का स्वतः का अध्ययन इसके विपरीत उनकी कलाप्रियता को विकसित करता है और उनमें आत्मविश्वास का उद्भव होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शिशु का सम्बन्ध अध्यापक से व्यक्तिगत रूप में स्थापित हो जाता है।

किसी वस्तु के अवलोकन से बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ता है और उसका प्रकाशन वे किस रूप में करते हैं, इस पर अध्यापक तथा अभिभावक का नियन्त्रण होना हानिकारक है। उन्हें अनुभव करने और उससे सम्बन्धित प्रतिव्यवहार को प्रदर्शित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देना होनी चाहिये।

शिशुओं के प्रति व्यवहार के अध्ययन से प्रायः उसके असन्तुलित होने का

आभास मिलता है। कभी-कभी इस व्यवहार का स्तर वांछित से निम्न होता है।

इसका कारण बालक में स्थित गुणग्राह्यता के तत्त्वों की व्यवहार के प्रेरक तत्त्वों कमी है। अतएव इन तत्त्वों की यथेष्ट मात्रा में वृद्धि करना का विकास अध्यापकों एवं अभिभावकों का कर्तव्य है। प्रायः यह अनुभव के साथ-साथ विकसित हो जाते हैं।

उपयुक्त तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए बालकों की स्वतन्त्र अनुभूति एवं निर्वाचन के विकास हेतु पाठ्य-पुस्तकों के नवनिर्माण और पाठ्येतर सामग्रियों के संकलन के अतिरिक्त विद्यालयों में संगीत अथवा अन्य कलाओं की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये, जिसका प्रयोग वे आवश्यकतानुसार वांछित समय पर कर सकें। उपयुक्त पुस्तकालय भी अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

असामान्य बालक

(ABNORMAL CHILDREN)

असामान्य बालकों की श्रेणी में सामान्यतः ऐसे बालक आते हैं जो शारीरिक, मानसिक अथवा संवेगात्मक रूप से सामान्य बालकों की अपेक्षाकृत मन्द अथवा अशक्त हों या किसी विशेष परिस्थिति के प्रभाव स्वरूप उनके विभिन्न कार्य-कलाप अन्य समकक्ष बालकों से भिन्न पाये जाते हों। इस श्रेणी के अधिकांश बालक किसी न किसी प्रकार के दोषों से युक्त पाये जाते हैं। इन्हें निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

क—मानसिक दोषयुक्त बालक (Mentally Retarded Children)

ख—शारीरिक दोषयुक्त बालक (Physically Handicapped Children)

ग—अकाल प्रौढ़ बालक (Precocious Children)

(क) मानसिक दोषयुक्त बालक

(Mentally Retarded Child)

मानसिक दोषों से युक्त बालक, जिन्हें मन्द-बुद्धि बालक भी कह सकते हैं, जन्मकाल से ही प्रायः असामान्य और पिछड़े पाये जाते हैं। इनके बारे में यह भी सम्भावनायें पाई जाती हैं कि गर्भाविस्था में किसी दोष अथवा अभाव के कारण उनका मानसिक या शारीरिक विकास रुक गया हो। इस श्रेणी के बालकों की शैशवकालीन सहज-क्रियायें सामान्य बालकों की अपेक्षाकृत अनियमित और शिथिल रहती हैं। अधिकतर सामान्य बालकों के लगभग ६ माह में दाँत निकलने लगते हैं। वे ८ माह में घिसकना, १ वर्ष में चलना तथा १½ वर्ष में बोलना सीख जाते हैं। असामान्य बालकों के ८ या ९ माह में दाँत निकलना प्रारम्भ होते हैं और वे १० से १२ माह में घिसकना, १½ वर्ष या इससे भी अधिक समय में चलना तथा २½ या ३ वर्ष में बोलना सीखते हैं।

मानसिक दोषयुक्त बालकों के भी दो प्रकार होते हैं। प्रथम तो वे जो सभी कार्य शिथिल गति से करते हैं। उनकी इस शिथिलता का कारण केवल उनकी शारीरिक और मानसिक अयोग्यता या अक्षमता होती है। दो प्रकार के बालक सभी अधिकतर माता-पिता या अभिभावक उनकी अयोग्यता या कार्य शिथिल असमर्थता का ध्यान न करके उन पर सभी बालकों के समान कार्य करने के लिये दबाव डालते हैं और समय-असमय उनको ताड़ना करते और दण्ड देते हैं। इस प्रकार उनका मानसिक विकास और भी शिथिल हो जाता है और वे स्थायी रूप से मानसिक रोगी हो जाते हैं। ऐसे बालकों की मानसिक असमर्थता को समझने, उनसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करके उनकी शक्ति के अनुसार कार्य लेने तथा उनके लिये चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध करने की आवश्यकता है।

द्वितीय प्रकार के बालक मानसिक रूप से रोगग्रस्त तथा पिछड़े होने पर भी शारीरिक रूप से स्वस्थ व चुस्त होते हैं। ऐसे बालक बहुधा अस्थिर-चित्त और स्वभाव से शीघ्रता करने वाले और चंचल होते हैं। वे किसी भी कार्य को लगन से नहीं करते। कार्य को शीघ्रता से प्रारम्भ करते हैं और जल्द ही ऊबकर अधुरा छोड़ देते हैं। वे मानसिक कार्य से दूर भागते हैं और शारीरिक कार्य को अधिक पसन्द करते हैं। ऐसे बालकों के मन को स्थिर और एकाग्र बनाने तथा उनकी रुचि के विभिन्न दस्तकारी के कार्यों में लगाने का प्रयत्न होना चाहिये। इस वर्ग के कुछ बालक जो खेलकूद आदि में अधिक रुचि लेते हैं उचित प्रेरणा और प्रशिक्षण पाने पर अच्छे खिलाड़ी बन सकते हैं।

मानसिक दोषयुक्त बालकों का चयन

मानसिक दोषयुक्त ऐसे बालक जो शारीरिक रूप से भी दोषयुक्त या असमर्थ होते हैं उनकी पहचान सरल होती है। उन्हें अन्य बालकों के समूह से सरलतापूर्वक चुना जा सकता है। इनके अतिरिक्त शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ दिखाई पड़ने वाले परन्तु मानसिक दृष्टि से पिछड़े बालकों को चुनने में उनके सापेक्षित लक्षणों का अध्ययन करना पड़ता है। ऐसे बालक सामान्यतः आयु की अपेक्षाकृत नीचे कक्षाओं में पढ़ते हुए पाये जाते हैं और परीक्षाओं में इनके प्राप्तांक की प्रतिशत नीची रहती है तथा गणित, व्याकरण, विज्ञान आदि विषयों में अधिक पिछड़े होते हैं। ऐसे बालकों की संकल्प व निरीक्षण की शक्ति निर्बल तथा इनमें आत्मविश्वास की कमी होती है। अतः ये किसी कार्य को निश्चय, लगन अथवा पूर्ण विश्वास से नहीं करते। ऐसे बालक अपने आवेग को रोक नहीं पाते और बालकों की आपसी बातचीत में उपहास के लक्ष्य बनते हैं। परन्तु इनकी पहचान को सबसे शुद्ध रीति बुद्धिमापक परीक्षण हैं। जिन बालकों की बुद्धि-लब्धि के अंक ८५ या उससे कम हों वे मानसिक दृष्टि से दोषयुक्त माने जायेंगे।

मानसिक दोषयुक्त बालकों की शिक्षा

मानसिक दोषयुक्त बालकों की शिक्षा एक महती समस्या है। प्रत्येक राष्ट्र में कुल बालकों की संख्या के लगभग २ प्रतिशत बालक इस श्रेणी में आते हैं।

अतः इनके मानसिक दोषों को दूर करने तथा इनको सामान्य श्रेणी में लाना सामान्य बालकों की श्रेणी में लाने का राष्ट्रीय दायित्व राष्ट्रीय दायित्व होना चाहिये। इन बालकों की शिक्षा में सामान्य बालकों की अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता और प्रति बालक अधिक

व्यय की आवश्यकता होगी। इनके लिये अलग शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था का विचार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपयोगी नहीं होगा, क्योंकि विशिष्ट विद्यालयों में रखने पर इस श्रेणी के बालक सामाजिक उपहास के लक्ष्य होंगे। सामान्य बालकों की कुशलता और मानसिक-स्तर के अनुसार स्थापित सामान्य विद्यालयों के कार्यक्रम इन बालकों के लिये उपयुक्त नहीं हो सकते और ये कक्षाओं में उपेक्षित हो जाते हैं।

मानसिक दोषयुक्त बालकों की शिक्षा के लिये प्रथम प्रयास प्रसिद्ध मनो-वैज्ञानिक सेगविन (बेलजियम) ने डिकरौली शिक्षा पद्धति (Dicroly System) का आविष्कार करके किया। उन्होंने इस पद्धति में ज्ञानेन्द्रियों डिकरौली और और शारीरिक-क्रियाओं को प्रमुखता देकर मन्द-बुद्धि मान्तेसरी पद्धतियाँ बालकों की निरीक्षण-शक्ति बढ़ाने तथा तदनुसार मानसिक-विकास करने का ध्येय निर्धारित किया था। उनका विचार था कि निरीक्षण के अभ्यास द्वारा मन्द-बुद्धि बालकों की कल्पना एवं चिन्तन को शक्ति विकसित की जा सकती है। इस सम्बन्ध में द्वितीय प्रयास मान्तेसरी पद्धति (Montesory System of Education) द्वारा किया गया। इस पद्धति की आविष्कारक मान्तेसरी (इटली) ने मानसिक दोषयुक्त अथवा पिछड़े बालकों को ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण द्वारा उनके मानसिक दोष दूर करने तथा इस प्रकार क्रमशः उनके मानसिक-विकास का प्रयास किया। उनके विचार से स्थूल पदार्थों को आधार बनाकर मन्दबुद्धि बालकों की इन्द्रिय-ज्ञान में वृद्धि करके उनकी कुशलता बढ़ाई जा सकती है। इस दिशा में अलग-अलग देशों में कई प्रकार के प्रयत्न किये गये हैं। परन्तु अमेरिका में असामान्य बालकों की शिक्षा की व्यवस्था सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक उपयोगी पाई गई है। वहाँ पर असामान्य बालकों को प्रतिभावान बालकों के सम्पर्क में लाने का प्रयत्न किया जाता है। विभिन्न प्रकार की विषयों-सम्बन्धी तथा विषयेत्तर वाद-विवाद प्रतियोगिताओं और खेलकूद के सामूहिक कार्यक्रमों द्वारा असामान्य बालकों की सुस्ती, लजीलापन व कुण्ठाओं को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। विद्यालयों में निर्धारित समय के अतिरिक्त समय में शिक्षण की व्यवस्था है जिसमें मन्द-बुद्धि या अध्ययन में पिछड़े बालक सम्मिलित होकर सभी बालकों के समकक्ष हो सकें।

भारतीय वातावरण में अमेरिका में प्रचलित पद्धति अधिक उपयोगी हो

सकती है। यहाँ के विद्यालयों में भी इसी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध की जानी चाहिये। हस्तकला, चित्रकला, संगीत, आर्ट आदि की शिक्षा अभिरुचियाँ विकसित करना को प्रमुखता देकर इन बालकों की अभिरुचियाँ विकसित की जा सकती हैं। यहाँ कमी-कभी ठीक रहन-सहन की व्यवस्था का अभाव, भोजन में पौष्टिक तत्वों की कमी, शारीरिक रोग भी बालकों के मानसिक दोष के कारण होते हैं। अतः विद्यालयों में इन सब अभावों की पूर्ति अथवा परामर्श व्यवस्था निश्चय ही लाभदायक होगी।

(ख) शारीरिक दोषयुक्त बालक (Physically Handicapped Child)

मानसिक दृष्टि से सामान्य होते हुए भी शारीरिक दोषयुक्त बालक असामान्य बालकों के वर्ग में आते हैं। इनकी शारीरिक असमर्थता के कई कारण हो सकते हैं। इनमें से अधिकांश बालकों के शारीरिक दोष जन्मजात होते हैं। गर्भ में अथवा प्रसव के समय या प्रारम्भिक दिनों में गर्भ में अथवा प्रसव के समय किसी दुर्घटना अथवा चोट के कारण बालकों के शारीरिक विकास दोषपूर्ण हो जाते हैं, गर्भ में अथवा प्रसव के समय किसी दुर्घटना अथवा चोट के कारण किसी अंग विशेष का स्वाभाविक विकास रुक जाता है अथवा माँ के किसी शारीरिक या मानसिक व्याघात के कारण शिशु का कोई अंग कुण्ठित हो जाता है। पालन-पोषण में कमी या बाल्यकाल की दुर्घटनाओं द्वारा भी इसी प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। कुछ शारीरिक दोषों की विवेचना अलग-अलग नीचे प्रस्तुत है।

मूक-बधिर बालक

शरीर में श्रवणेन्द्रियों और वाणी का घनिष्ट सम्पर्क होता है। अतः जो बालक जन्म से ही सुन सकने में, किसी कारणवश, असमर्थ हो जाते हैं वे बोलना नहीं सीख पाते। इसी प्रकार जिन बालकों की सुनने की शक्ति कुछ अंश तक दोषपूर्ण होती है उनमें वाणी दोष पाया जाता है। कुछ बालक बोलना सीखने के पश्चात् श्रवण शक्ति खो देते हैं और वे भली प्रकार बोल तो सकते हैं परन्तु सुनने में असमर्थ होते हैं। एक अन्य वर्ग ऐसे बालकों का भी पाया जाता है जिनकी सुनने की शक्ति तो ठीक होती है परन्तु किसी वाणी दोष या मानसिक कुंठा के कारण वे ठीक प्रकार से बोलने में असमर्थ होते हैं।

मूक-बधिर बालकों अर्थात् ऐसे बालकों, जो सुनने, बोलने से पूर्णतया असमर्थ हैं, के लिये अलग विद्यालयों की व्यवस्था है जहाँ लिखना सिखाकर भाषा के माध्यम से अपनी असमर्थता कुछ अंश तक दूर करने का अभ्यास कराया जाता है तथा दस्तकारी तथा अन्य घरेलू उद्योग-धंधों का प्रशिक्षण देकर जीविकोपार्जन के योग्य बनाया जाता है। उचित अभ्यास के पश्चात् ऐसे बालक लिखकर

अलग विद्यालयों की
व्यवस्था

अपने मनोभाव प्रकट करने में समर्थ हो जाते हैं और वातावरण के कोलाहल से प्रभावित न होने के कारण अपने कार्य विशेष लगन से करते हैं।

आंशिक रूप से श्रवण शक्ति खोने वाले बालकों को श्रवण-यंत्रों की सहायता से सामान्य बनाया जा सकता है। विद्यालयों में अध्यापकों को इनकी ओर विशेष ध्यान देने तथा इन्हें आगे बैठाने की व्यवस्था होनी चाहिये।
कुछ सीमा तक सामान्य बनाना सम्भव जिससे ये शिक्षण को पूरी तरह से ग्रहण कर सकें। इसी प्रकार दोषयुक्त वाणी वाले बालकों को उचित ध्यान देकर तथा उचित अभ्यास द्वारा ठीक बोलने का अभ्यास देना चाहिये। इस वर्ग के कुछ बालकों की जिह्वा की बनावट में कोई दोष होता है जिसे शल्य-क्रिया द्वारा अथवा ध्वनि-विज्ञान की सहायता से दूर किया जा सकता है। वाणी दोष के कभी-कभी सामाजिक, पारिवारिक या मानसिक कारण भी होते हैं। इनमें सामाजिक व्यवधान, परिवार में उपेक्षित होने, पारिवारिक बोलचाल का वातावरण दोषपूर्ण होने या बोलने का अनुकरण त्रुटिपूर्ण होने, अथवा किसी मानसिक भावना-ग्रन्थि अथवा कुंठा के कारण बालकों के बोलने का ढंग दोषपूर्ण हो जाता है और बोलने में रुकावट आ जाती है। विद्यालयों में ऐसे बालकों को बोलने के अवसर देते रहने, उचित अभ्यास कराने तथा स्नेहपूर्ण-व्यवहार द्वारा इनके वाणी दोष को दूर किया जा सकता है।

दृष्टि-दोष-युक्त बालक

शरीर के विभिन्न अंगों में दृष्टि का महत्त्व सबसे अधिक है। अतः दृष्टि-दोष मनुष्य की सबसे बड़ी असमर्थता है। शरीर में दृष्टि सम्बन्धी शक्तियों के अभाव में कभी-कभी जन्मांध बालक उत्पन्न होते हैं और कुछ बालकों की दृष्टि बाल्यकाल में किसी रोग अथवा परिस्थिति विशेष के कारण क्रमशः समाप्त हो जाती है या दृष्टि मन्द पड़ जाती है। आँखों के रोगों की चिकित्सा के क्षेत्र में अधिक प्रगति हुई है और मन्द पड़ रही आँखों को उचित चिकित्सा तथा चश्मे की सहायता से सम्हाला जा सकता है। परन्तु इस मार्ग में एक बड़ी बाधा यह है कि पर्याप्त समय तक बालकों को मन्द पड़ती आँखों की शक्ति का पता नहीं चल पाता अथवा वे किसी लज्जा की भावना या संकोच के कारण बताते नहीं। परिणामस्वरूप दृष्टि-दोष क्रमशः बढ़ता जाता है। विद्यालयों में समय-समय पर दृष्टि-परीक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। यदि चिकित्सा तथा चश्मे आदि की सुविधायें सम्भव हों तो और भी उत्तम होगा, अन्यथा अभिभावकों को बालकों की चिकित्सा या चश्मे बनवाने का परामर्श दिया जा सकता है। अध्यापक मन्द-दृष्टि वाले बालकों पर विशेष ध्यान देकर, उन्हें कक्षा में आगे बैठने की सुविधा देकर तथा कक्षा में प्रकाश की उचित व्यवस्था आदि द्वारा उनकी सहायता कर सकते हैं। जो बालक दृष्टि-शक्ति पूर्णतया

खी चुके हैं उनको अन्ध-विद्यालयों में ब्रैल पद्धति से शिक्षा दी जा सकती है। अन्ध-विद्यालयों की उपलब्ध व्यवस्था अपर्याप्त है और उनकी संख्या में वृद्धि होनी चाहिये तथा सभी अंधे बालकों को इतनी आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये कि गरीब परिवारों के अंधे बालक भी इन विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर जीविकोपार्जन के योग्य हो सकें। संगीत, हस्तकला आदि की शिक्षा पर अन्ध विद्यालयों में अधिक बल दिया जाना चाहिये।

निर्बल या अपंग बालक

शरीर में पौष्टिक तत्वों की कमी अथवा दोषपूर्ण शरीर रचना के कारण बालक निर्बल या अपंग हो जाते हैं। पारिवारिक असमर्थता या उचित देखरेख के अभाव में इनकी शारीरिक अक्षमता बढ़ती जाती है और ये चिकित्सकों और मनो-क्रमशः शारीरिक रोगों व मानसिक भावना-ग्रन्थियों व चिकित्सकों से सहायता कुंठाओं से पीड़ित रहते हैं। इनके सुधार की समस्या अन्य शारीरिक दोषों की अपेक्षाकृत अधिक सरल है, परन्तु साथ ही साथ अधिक व्ययपूर्ण भी है। चिकित्सा-विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि उचित चिकित्सा द्वारा इनके शारीरिक रोगों को दूर करके पौष्टिक आहार द्वारा इनकी शारीरिक शक्ति में वृद्धि की जा सकती है। जो बालक मानसिक दोषयुक्त हैं उनकी मानसिक चिकित्सा कराई जा सकती है। परन्तु आवश्यकता उनके लिये चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं तथा पौष्टिक आहारों पर व्यय होने वाले धन की व्यवस्था की है। जो बालक पारिवारिक-निर्धनता के कारण निर्बल या अपंग हो गये हैं उनके लिये व्यय की व्यवस्था कौन करेगा। अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि इस श्रेणी के बालकों के स्वास्थ्य सुधार का भार राष्ट्र अथवा राज्य सरकारों को वहन करना चाहिये। राज्य के स्वास्थ्य तथा शिक्षा के विभागों द्वारा विद्यालय में ऐसे बालकों के लिये चिकित्सा, पौष्टिक आहार तथा अन्य उपयोगी सहायक उपकरणों की व्यवस्था होनी चाहिए। जिन बालकों के कोई अंग कट गये हों या पूर्णतया अशक्त हो गये हों, उनको कृत्रिम अंग या सहायक उपकरण दिये जायँ। चलने-फिरने से असमर्थ बालकों को यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ दी जायँ। जिनको अपंगता अधिक हो उनके लिये अलग विद्यालयों की सुविधा दी जाय। जिनकी अपंगता कम हो उन्हें विभिन्न क्रियाओं, व्यायाम, खेलकूद आदि की अलग व्यवस्था द्वारा सामान्य बनाने का प्रयत्न किया जाय। ये कार्यक्रम चिकित्सकों एवं मनोचिकित्सकों के परामर्श अनुसार सामान्य विद्यालयों में शिक्षण काल के अतिरिक्त समय में आयोजित किये जा सकते हैं।

(ग) अकाल-प्रौढ़ बालक (Precocious Children)

इस श्रेणी में ऐसे बालक आते हैं जो अपने हावभाव तथा व्यवहार में प्रति-

भावान् दिखाई पड़ते हैं परन्तु बुद्धि-मापक परीक्षणों में उनके बुद्धि-लब्धि के अंक सामान्य अथवा सामान्य से भी कम पाये जाते हैं।
भूठी प्रशंसा का कुफल ऐसे बालकों की गणना भी असामान्य बालकों की श्रेणी में की जाती है क्योंकि अपने व्यावहारिक रूप के कारण ये बालक परिवारों अथवा विद्यालयों में प्रशंसा के पात्र हो जाते हैं। परन्तु व्यक्तिगत अभावों की ओर न तो ये स्वयं ध्यान दे पाते हैं और न इनके अभिभावकों तथा अध्यापकों का ध्यान उस ओर जाता है। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व-विकास दूषित हो जाता है और बड़े होने पर वे असफल व्यक्तियों की श्रेणी में आते हैं।

अकाल-प्रौढ़ता के कारण अधिकांशतः पारिवारिक या वातावरण जनित होते हैं। ऐसे परिवारों के कुछ बालक, जिनमें अधिकतर बाहरी लोग आते-जाते रहते हैं और बालकों से मिलते-जुलते रहते हैं या बालकों को बड़ों के साथ बातचीत के अवसर पर पास में बैठाया जाता है, बड़ों की बहुत सी बातें सीख लेते हैं तथा उनके माता-पिता या परिवार के लोग, अध्यापकगण भी उनकी प्रौढ़तापूर्ण बातों को सुनकर उनके सम्बन्ध में गलत धारणायें बना लेते हैं। नेताओं, अधिकारियों तथा अन्य सामाजिक महत्त्व के व्यक्तियों के यहाँ आने-जाने वाले बहुत से लोग बहुधा अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये उनके बालकों से सम्पर्क स्थापित करने तथा उनकी भूठी प्रशंसा करके उन्हें असामान्य या अकाल प्रौढ़ बना देते हैं। यह उन बालकों के व्यक्तित्व विकास की दिशा में बहुत हानिकारक है।

बालकों को इस प्रकार की अकाल प्रौढ़ता से बचाना चाहिये। बालकों का स्वाभाविक विकास तभी सम्भव है जब वे अपनी ही आयु के बालकों के बीच रहें, उन्हीं के बीच खेलें, कूदें और बालकों-सा ही व्यवहार करें।
अनुचित लोगों के सम्पर्क से बचाना उन्हें परिवार में आने-जाने वाले विभिन्न लोगों से सम्पर्क में आने से रोकना चाहिये और साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वे बड़ों की बातचीत, हाव-भाव या स्वभाव का अनुकरण न करने पावें। उन्हें घरेलू नौकरों की संगत में अधिक देर रखना भी हानिकारक होता है। विद्यालयों में समय-समय पर बुद्धि-परीक्षण की भी व्यवस्था होनी चाहिये।

अपराधी बालक—कुछ कारण और उपचार¹

(DELINQUENT CHILDREN—SOME CAUSES AND REMEDIES)

बच्चे बहुधा बड़े प्यारे लगते हैं और प्रायः यह कहा जाता है कि वे बड़े ही अच्छे हैं और उनका जीवन बड़ा ही सुखी है। परन्तु सभी बच्चों के विषय में यह बात लागू नहीं होती। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो वातावरण में अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाते। ऐसे बच्चे प्रायः ऐसे व्यवहार दिखलाते हैं जिन्हें सामान्य नहीं कहा जा सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उसमें व्यक्तित्व सम्बन्धी कुछ कठिनाइयाँ (Some Personality Disturbances) आ गई हैं। ऐसे बच्चे संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ होते हैं; और उन्हें समस्या बालकों (Problem Children) की संज्ञा दी जा सकती है। यों तो कठिनाइयाँ और समस्यायें सभी व्यक्तियों के अनुभव की वस्तु होती हैं, चाहे वे बच्चे, प्रौढ़ या बूढ़े हों। परन्तु संवेगात्मक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति अपनी समस्याओं का हल समाज द्वारा स्वीकृत साधनों के सहारे करना चाहता है। इसके विपरीत संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ व्यक्ति अपने के आवेशवश किसी समय भी कर सकता है। अगले पृष्ठों में हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ बालक के असामान्य व्यवहार के क्या कारण होते हैं और उनके दोषों को दूर करने के लिये किन-किन उपायों का अवलम्बन लिया जा सकता है। अगले पृष्ठों में संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ तथा असामान्य व्यवहार दिखलाने वाले बालक को 'अपराधी बालक' की संज्ञा दी जायगी।

पुराने जमाने में अपराधी बालक के असामान्य व्यवहार का कारण किसी

¹ लेखक द्वारा लिखित "शिक्षा" अक्टूबर, १९५५, तथा जनवरी, १९५६ (उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ) में प्रकाशित लेख के आधार पर

भूत, प्रेत अथवा शैतान को समझा जाता था। ऐसे बालकों से लोग डरा करते थे और कभी-कभी उनकी पूजा भी किया करते थे। इसके विपरीत प्राचीन और वर्तमान धारणा उन्हें कभी-कभी मार डालने की भी चेष्टा की जाती थी। परन्तु अपराधी बालकों के प्रति आजकल ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता। मनोवैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप अब उनके व्यवहार के कारण को समझने की उपयोगिता मान ली गई है। पाश्चात्य देशों में तो अपराधी बालकों के उपकार के लिये बड़ी-बड़ी संस्थायें संचालित की जा रही हैं और उनसे अपराधी बालकों का बड़ा ही उपकार होता है।

बालकों के असामान्य व्यवहार के मनोवैज्ञानिक कारण

(The Psychological Reasons of Abnormal Behaviour of Children)

कुछ लोग असामान्य व्यवहार के कारण को शारीरिक (Physiological) मान बैठते हैं। कुछ बालकों के सम्बन्ध में यह ठीक भी हो सकता है; परन्तु कुछ के सम्बन्ध में संवेगात्मक कुव्यवस्थापन (Emotional maladjustment) ही प्रधान कारण हो सकता है। शारीरिक कारण के अन्तर्गत बुरा स्वास्थ्य, शरीर की कोई विशिष्ट बनावट (Body Build) तथा ग्रन्थियों सम्बन्धी कुछ गड़बड़ी (Glandular disorder) आदि बातें आ सकती हैं। संवेगात्मक कुव्यवस्थापन का तात्पर्य बालक के प्रति दूसरों का दुर्व्यवहार और असहानुभूति से समझा जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक के असामान्य व्यवहार के कारण शारीरिक और संवेगात्मक दोनों हो सकते हैं। संवेगात्मक कुव्यवस्था का कारण वातावरण हो सकता है। वातावरण-सम्बन्धी बातों में अग्रलिखित बातें आ सकती हैं : (१) बुरा नैतिक वातावरण, (२) माता-पिता अथवा दोनों का मानसिक असन्तुलन (Mentally Unbalance), (३) अच्छी बातें सिखला सकने में माता-पिता की अयोग्यता तथा भगड़ालू घर।

जॉर्डन¹ के अनुसार बालकों के कुव्यवस्थापन के अधोलिखित कारण हो सकते हैं :—

प्रवृत्तियों और इच्छाओं का दमन (Thwarting of Impulses and Desires)—१—प्रौढ़ों अथवा साथियों द्वारा चिढ़ाया जाना, अथवा उनकी वास्तविक कल्पित उदासीनता जिससे आत्महीनता की भावना बालक में आ जाती है।

२—काम-मूल-प्रवृत्त्यात्मक किसी दोष के कारण मन में पाप-भावना का जमना।

३—कोई ऐसा शारीरिक दोष जिससे बालक अपने को कुरूप समझने लगे।

¹ Jordan, Arthur M.—Educational Psychology, pp. 403-405, Henry Holt & Co. New York, 1942.

४—माता-पिता द्वारा अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण निकटवर्ती सामाजिक कार्यों में हाथ न बटा सकना ।

५—स्कूल में असफलता के कारण दूसरे बालकों द्वारा अपमानित होना ।

संवेगात्मक उद्दीपन (Emotional Stimulation)

- (१) भय उत्पन्न करने वाले संवेगात्मक धक्के ।
- (२) स्नायविक दुर्बलता (Nervous Weakness) से पीड़ित माता-पिता अथवा सम्बन्धियों की उपस्थिति ।
- (३) लगातार उद्दीपन, जैसे नित्य सिनेमा देखना ।
- (४) माता-पिता द्वारा बड़ी-बड़ी ऐसी अपेक्षायें जिन्हें नैतिक साधनों से न पूरा किया जा सके ।

घर की बुरी दशायें (Bad Home Conditions)

- (१) माता-पिता के आपसी झगड़े ।
- (२) माता-पिता से समुचित प्यार का न मिलना ।
- (३) माता-पिता द्वारा एक दूसरे का तलाक—जब कि बालक दोनों को बहुत अधिक प्यार करता है ।
- (४) कौटुम्बिक आर्थिक अवस्था के खराब होने के कारण अपने को अरक्षित समझना ।
- (५) कुटुम्ब के अन्य सदस्यों से हतोत्साहित करने वाली तुलना करना ।
- (६) कुटुम्ब की आकांक्षाओं के अनुसार उन्नति करने में असमर्थ होना ।

उपयुक्त बातों से यह जान पड़ता है कि बालक के पालन-पोषण तथा विकास पर उसके सामाजिक वातावरण का बड़ा ही प्रभाव पड़ता है, इस सामाजिक वातावरण में माता-पिता तथा पड़ोसी और साथियों द्वारा प्राप्त व्यवहार का विशेष महत्त्व होता है ।

स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना (Non-fulfilment of Natural Desires)—अपनी अनेक स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बालक को दूसरों पर आश्रित रहना होता है । फलतः उसे शारीरिक, आत्मसम्बन्धी, दूसरों के अनुसार भी अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा और सामाजिक करनी होती है । इन आवश्यकताओं का तीन वर्गीकरण किया जा सकता है : (१) शारीरिक—जैसे भोजन, जल, नींद तथा अन्य शारीरिक सुविधायें; (२) आत्म-सम्बन्धी—जैसे, दूसरों से प्रशंसा, राय तथा अपनत्व की भावना पाने की इच्छा; (३) सामाजिक—जैसे, दूसरों के कार्यों में हाथ बटाने हेतु कुछ सामाजिक कौशल प्राप्त करने की इच्छा । ये स्वाभाविक आवश्यकतायें बालकों के विभिन्न व्यवहार के और कार्यों के लिए अभिप्रेरणायें हो जाती हैं । इन अभिप्रेरणायों की क्रियाशीलता में जब कभी किसी प्रकार की

बाधा उपस्थित होती है तो बालक एक तनाव में आ जाता है। यदि यह तनाव गहरा हुआ और यदि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो उसके व्यवहार अवांछित रूप लेने लगते हैं। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व-व्यवस्थापन इन आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति पर निर्भर करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में अभिभावकों को यह भी याद रखना है कि उनकी अत्यधिक पूर्ति भी व्यक्तित्व के सन्तुलन को उसी प्रकार बिगाड़ सकती है, जैसे उनका अवदमन व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालक का स्वस्थ विकास उसकी आवश्यकताओं की सन्तुलित पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि बालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्ति नहीं होती तो बालक के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास पर व्यक्तित्व का स्वस्थ न होगा। उलझनों (Conflicts) और भग्नाशाओं (Frustrations) का सामना तो सभी बालकों को कुछ-कुछ करना ही होता है; परन्तु इनकी अवधि बहुत दीर्घ हो जाती है तो बालक अपराधी होने की ओर झुक सकता है। जैसे भोजन के न मिलने से शरीर जर्जरित होने लगता है, उसी प्रकार बालक का मन जर्जरित होने लगता है और वह धैर्य खो बैठता है, जब उसकी विविध मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। यदि उसकी इन आवश्यकताओं की सदा समुचित पूर्ति होती रहे तो समाज में सुखी बालकों की संख्या बढ़ जाय और दुखी तथा अपराधी बालकों की संख्या घट जाय। परन्तु बालकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती, क्योंकि उनकी पूर्ति करने में प्रौढ़ों को थोड़ा आत्म-नियन्त्रण करना होता है और वे इस आत्म-नियन्त्रण में सफल नहीं होते। इच्छाओं के दमन का कुपरिणाम विविध बालकों पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। कुछ बहुत ही साधारण बातों से ही अव्यवस्थित हो जाते हैं और कुछ पर बड़ी गहरी-गहरी बातों का भी विशेष प्रभाव पड़ते नहीं दिखलाई पड़ता। परन्तु हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी बालक उन आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हैं जिनके लिए आज तक मानव आपस में संघर्ष करता रहा है। अतः जो बालकों के प्रति उत्तरदायी हैं उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि बालक के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा वे दूसरों से अपने लिए चाहते हैं।

अपराधी बालकों के उत्पन्न करने वाले उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कारणों की चर्चा के बाद हम नीचे उन कारणों पर दृष्टिपात करेंगे जो घर (Home), बाह्य वातावरण (Environment outside home) तथा व्यक्तिगत (Personal बातों Factors) से सम्बन्ध रखते हैं।

गत पृष्ठों से यह स्पष्ट है कि अपराधी बालकों के होने का कोई एक ही

कारण नहीं हो सकता। अतः किसी अपराधी बालक को पूर्णरूपेण समझने के लिये उसकी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। अपराधी बालक एक प्रत्येक बालक की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है। घर, सामाजिक समस्या स्कूल, साथी, पड़ोसी, कार्य-काल तथा अवकाश-समय आदि सभी बातों का बालकों के व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर ही किसी अपराधी बालक के सम्बन्ध में कुछ निर्णय कर लेना ठीक न होगा, क्योंकि जो भूतकाल में हो चुका है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर स्थायी रूप से जमा रहता है। अतः याद रखना है कि जन्म से ही कोई बालक अपराधी नहीं होता। उसके अपराधी होने का प्रधान कारण उसकी परिस्थितियाँ ही होती हैं। केवल बाह्य रूप के देखने से ही अपराधी बालक को पहचान लेना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि किसी सामान्य बालक और उसमें बाह्यतः कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। किसी अपराधी बालक के समझने तथा उसके उद्धार के लिए हम उसके वंशानुक्रम (Biological Heritage), सामाजिक इतिहास (Social History) तथा तात्कालिक उत्पादक परिस्थिति (Immediate Situation) का अध्ययन करना चाहिए। उसके अपराधी होने में ये सभी कारण अपना-अपना योग देते हैं। स्पष्ट है कि अपराधी बालक एक सामाजिक समस्या है और समाज को दृष्टि में रखते हुये उसके सुधार के उपायों को हमें खोजना है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस सारांश पर पहुँचते हैं कि अपराधी बालक के अवगुण जन्मजात नहीं होते और उसके ऐसे होने के कई कारण हो सकते हैं। अतः अपराधी बालक के किसी व्यवहार को समझने के लिये हमें कई दृष्टिकोणों को अपनाना होगा। नीचे ऐसे ही कुछ दृष्टिकोण पर अति संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा। इन दृष्टिकोणों की चर्चा में घर, बाह्य वातावरण तथा कुछ व्यक्तिगत बातों पर विशेष ध्यान दिया जायगा।

बालक को अपराधी बताने वाले घरेलू कारण (Home Conditions Leading to Delinquency)

प्रायः यह सोचा जाता है कि गरीबी बालक को अपराधी बना देती है। बालक के अपराधी बनने में गरीबी का प्रभाव अवश्य पड़ता है, क्योंकि गरीबी के कारण उसकी बहुत सी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह अनैतिक साधनों की ओर भुक्त सकता है। गरीबी न्यायालय में जितने अपराधी बालक उपस्थित किये जाते हैं उनमें अधिकांश गरीब कुटुम्ब वाले होते हैं। परन्तु हमें यह भी याद रखना है कि धनी घर के अपराधी बालक न्यायालय में बहुत ही कम लाये जाते हैं, क्योंकि उनके अभिभावक स्वयं उस सम्बन्ध में आवश्यक उपचार करने की चेष्टा करते हैं।

माता-पिता की बेकारी के कारण बच्चे प्रायः भूखे रह जाते हैं और वे अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भीख माँगने, चोरी करने अथवा कुछ ऐसे कार्यों को करने की ओर भुक् सकते हैं जिनसे उनका नैतिक अधःपतन हो जाता है। बेकारी के कारण माता-पिता में बहुधा ऐसे भगड़े हो सकते हैं जिनसे घर का सारा वातावरण दूषित हो सकता है। ऐसी स्थिति के आ जाने पर लड़के घर छोड़कर बाहर चले जाना पसन्द करते हैं। बाहर जाकर वे घर की आर्थिक स्थिति के सुधारने का कुछ प्रयत्न भी कर सकते हैं। इस प्रयत्न में वे अनैतिक साधनों का सहारा ले सकते हैं।

यदि माँ को घर में छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर बाहर नौकरी अथवा मजदूरी करने जाना होता है तो इसका प्रभाव नियंत्रणहीन बालकों पर बुरा पड़ सकता है। माँ की अनुपस्थिति में लड़के मनमानी करने लगते हैं और ऐसी आदतें सीख सकते हैं जो बाद में उन्हें अपराध करने की ओर अभिप्रेरित कर सकती हैं।

अपराधी बालकों के अध्ययन में देखा गया है कि पिता के कड़े नियन्त्रण में रहने वाले लड़के बहुधा अपराधी की कोटि में आ जाते हैं। पिता के कड़े नियंत्रण से उनकी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन होता है। इस पिता का कड़ा नियन्त्रण दमन के कुपरिणाम की ओर हम विगत पृष्ठों में संकेत कर चुके हैं। दमन का प्रभाव कभी स्वस्थकर नहीं होता। इससे व्यक्ति अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति चुपके-चुपके अनैतिक साधनों के सहारे करने की ओर भुक् सकता है। पिता के अधिकारवाद का मन ही मन अथवा स्पष्टतः विरोध करते-करते उसमें सभी प्रकार के अधिकारियों के विरुद्ध हो जाने की प्रवृत्ति आ सकती है। इस प्रवृत्ति के कारण कोई अपराध कर बैठना उसके लिये सरल हो सकता है।

पति और पत्नी के आपसी भगड़े का बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जिन घरों में ऐसे भगड़े आये दिन हुआ करते हैं उनके लड़के अपने को अरक्षित समझने लगते हैं। इस अरक्षित भावना को दूर करने के लिए वे पति और पत्नी का चोरी करना प्रारम्भ कर सकते हैं, क्योंकि चोरी से प्राप्त वस्तुओं से वे अपनी स्थिति मजबूत बनाना चाहते हैं। यदि माता-पिता के भगड़े के कारण उन्हें घर में शान्ति नहीं मिल सकती तो वे शान्ति तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहर चले जाना अच्छा समझ सकते हैं। इस प्रकार का बाहर जाना उनके नैतिक विकास में बाधक हो सकता है। 'बाल निर्देशन केन्द्रों' (Child Guidance Centre) का यह अनुभव है कि व्यवहार-सम्बन्धी समस्याओं वाले बालकों में घरेलू वातावरण में सुधार कर देने से स्वतः बड़े सुधार आ जाते हैं।

घर में उपमाता (Foster-mother) अथवा उपपिता (Foster-father) की उपस्थिति का बालकों के विकास पर अवांछित प्रभाव पड़ सकता है। जब उपमाता अथवा उपपिता के कारण बालक पहले जैसा प्यार नहीं पाता तो उसमें संवेगात्मक तनाव आ जाता है और वह अपराध की ओर झुक सकता है।

घर के विभिन्न बालकों को दो आँख से देखने से बालकों में परस्पर ईर्ष्या और वैमनस्य आ जाती है। जब तक एक लड़के की दूसरे के सामने सदा प्रशंसा की जाती है तो अप्रशंसित बालक प्रशंसित बालक के ही नहीं, घर के बालकों को दो वरन् प्रशंसा करने वाले के भी विरोधी हो जाते हैं। इस आँखों से देखना विरोध में वे कुछ ऐसा करने की चेष्टा में आ सकते हैं जिससे उन्हें कुछ प्रशंसा मिले। इस चेष्टा से उनका व्यवहार अनैतिक हो सकता है। जिन लड़कों को घर में यथोचित प्यार नहीं मिलता उनके मन में असांजिक भावना-ग्रन्थियाँ (Anti-social complexes) घर करने लगती हैं। ये भावना-ग्रन्थियाँ साधारण से उद्दीपक के उपस्थित होने पर अवांछित व्यवहार की ओर व्यक्ति को अभिप्रेरित कर देती हैं। जिन लड़कियों को घर में प्यार नहीं मिलता वे काम-भावना सम्बन्धी अनैतिक व्यवहार की शिकार हुआ करती हैं। वे प्यार और सम्मान की भूखी हो जाती हैं और जो व्यक्ति उन्हें तात्कालिक प्यार और सम्मान देने को तैयार होता है उस पर वे सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाती हैं।

अत्यधिक लाड़-प्यार का भी परिणाम बहुधा अवांछित ही होता है। जिन बच्चों की प्रत्येक इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की जाती है और जिसके प्रत्येक इशारे पर नाचने के लिए सभी हर समय तैयार रहते हैं अत्यधिक लाड़-प्यार उनकी दशा वास्तव में आगे चलकर दयनीय हो जाती है। घर में तो उनकी किसी प्रकार निभ जाती है, परन्तु उनका बाहर निभना अत्यन्त कठिन हो जाता है; क्योंकि बाहर समाज में उन्हें घर जैसा प्यार नहीं मिलता। ऐसे बच्चे कैंशोर में अपनी प्रवृत्तियों के जीव हो जाते हैं और जो ही मन में आता है उसी के अनुसार आचरण दिखलाने लगते हैं। 'बाल निर्देशक केन्द्रों' द्वारा अन्वेषण से पता चला है कि ऐसे लड़के बहुधा चोरी के अपराधी पाये जाते हैं।

जिन घरों में शराबखोरी, अनैतिकता तथा निर्दयता का वातावरण बना रहता है उनके लड़के बहुधा विभिन्न प्रकार के अपराध करते पाये जाते हैं। यह इतनी स्पष्ट बात है कि इसके लिए उदाहरण की आवश्यकता नहीं। कुछ ऐसे गरीब, अनैतिक और निर्दयी माता-पिता होते हैं जो अपने बच्चों को भोख माँगने अथवा चोरी करने के लिए विवश किया करते हैं।

बालक को अपराधी बनाने वाले बाह्य वातावरण सम्बन्धी कारण (External Environmental Factors Leading to Delinquency)

प्रायः प्रत्येक शहर में कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनमें विशेषतः ऐसे गरीब लोग रहते हैं जिनकी रहन-सहन नैतिक नहीं कही जा सकती। ऐसे लोगों के घरों के लड़के प्रायः अनैतिक कामों में लग जाते हैं, क्योंकि उनका वातावरण ही बड़ा अनैतिक होता है। मनोरंजन के लिए बुरे स्थान, जुआ खेलने का स्थान तथा वेश्यालय आदि उनके अनुभव के अंग होने लगते हैं, क्योंकि वातावरण में उपस्थित इन स्थानों का प्रभाव उनके चरित्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

अपराधी बालकों के अध्ययन से पता चला है कि एक बालक दूसरों को किसी अनैतिक कार्य में लगने के लिए उत्साहित करता है और अन्य अपराधी बालक अपना एक समूह बनाकर अनैतिक व्यवहार के भागी होते हैं। यह अनैतिक व्यवहार ऐसा होता है जिसे कदाचित् कोई बालक अकेले करने का साहस न करता। ऐसे अनैतिक व्यवहार में रेलगाड़ी पर पत्थर फेंकना, बिना टिकट रेल यात्रा करना, वर्जित जलाशयों में तैरना, वर्जित स्थानों पर ऊधम मचाना तथा कहीं आग लगा देना आदि हो सकते हैं।

इस सामूहिक अनैतिक व्यवहार से यह जान पड़ता है कि यदि इन बालकों को अपने अवकाश-काल को बिताने का समुचित और स्वस्थकर साधन दिया जाता तो कदाचित् वे ऐसे कार्यों में न लगते। अतः समाज का यह कर्तव्य है कि वह बालक के अवकाश-काल के उपयोग के लिए उचित साधनों का आयोजन करे। इस सम्बन्ध में स्कूल का भी कुछ कर्तव्य दिखलाई पड़ता है। “सब धान बाइस पसेरी” की तरह बालकों की शिक्षा का आयोजन करना मनोवैज्ञानिक नहीं। शिक्षा में वैयक्तिक वैभिन्न्य (Individual Differences) पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे बालकों की विशिष्ट शक्तियों का विकास होगा और उनकी विभिन्न मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती रहेगी। यदि शिक्षा-क्रम में इस प्रकार का सुधार लाया जा सका तो अपराधी बालकों की संख्या कम करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

फैक्टरी में काम करने वाले बालकों की भी दशा दयनीय होती है। फैक्टरी में उन्हें मशीन की तरह काम करना होता है। उनकी सभी कोमल भावनाओं पर तुषारपात हो जाता है, फलतः वे फैक्टरी में कार्य करने के बाद अनैतिक रूप में अपने अवकाश-काल को बिताने की ओर झुकते हैं। अपने मनोरंजन के लिये वे अवांछित स्थानों पर जाते हैं। इन स्थानों पर उनकी नैतिकता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

बालक के अपराधी होने के व्यक्तिगत कारण (Personal Factors Leading to Delinquent Behaviour)

किसी शारीरिक दोष के कारण बालक का कोई अनैतिक व्यवहार दिखलाना

अवश्यम्भावी नहीं; परन्तु शारीरिक दोष के कारण जो वह दूसरों का व्यंग सुना करता है उससे उसमें असामाजिक व्यवहार दिखलाने की प्रवृत्ति आ सकती है। उदाहरणार्थ, जो बालक सदैव बीमार रहा करता है उसमें एक प्रकार की आत्महीनता की भावना आ सकती है और मन ही मन उन बालकों के प्रति विरोध-भावना ला सकता है जो प्रायः स्वस्थतर होते हैं। ऐसे बालक अन्य बालकों के समूह में अपने से कमजोर बालक को तंग कर सकते हैं अथवा दूसरों को चिढ़ाना अथवा उनकी वस्तुएँ अस्त-व्यस्त कर देना उनका साधारण स्वभाव हो सकता है।

जिन बालकों का विकास दूसरों की अपेक्षाकृत मन्द अथवा तीव्रगति से चलता है उन्हें अपने व्यवस्थापन में बड़ी कठिनाई का सामना करना होता है। दोनों को अपनी उम्र वाले बालकों के साथ निभाना कठिन हो जाता है। मन्दगति से विकसित होने वाला बालक अपने को छोटा और तीव्रगति वाला अपने को बड़ा पाता है। ऐसी स्थिति में दोनों में एक प्रकार का ऐसा मानसिक असन्तोष उत्पन्न होता है जिससे नैतिक व्यवहार की ओर झुकना कठिन नहीं होता। तीव्रगति से विकसित होने वाला बालक अपने से छोटे बालकों को विविध प्रकार से तंग कर सकता है और मन्दगति वाला अपनी आत्महीनता-भावना के प्रतिक्रिया स्वरूप अनैतिक व्यवहार दिखला सकता है।

कैशोर में काम-सम्बन्धी भावनाओं के विकास के कारण लड़के और लड़कियाँ काम-सम्बन्धी बातें जानने की इच्छुक हो जाती हैं। माता-पिता अथवा अध्यापक इस सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासयें शान्त करने का साहस काम-सम्बन्धी भावनाओं नहीं करते और किशोर (Adolescents) भी इस सम्बन्ध में अपनी बातें उनसे कहने में बड़ा संकोच करते हैं। फलतः अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए वे अनैतिक साधनों का अवलम्बन लेते हैं।

बहुत से अन्वेषकों का कहना है कि दोषयुक्त व्यवहार और मानसिक विकास की मन्दता में घनिष्ट सम्बन्ध है। इस घनिष्ट सम्बन्ध की यहाँ व्याख्या करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि मन्द बालक में अनैतिक प्रलोभनों से अपने को बचाने की सामान्य बालकों की अपेक्षा कम सामर्थ्य होती है। अतः समाज का यह कर्तव्य है कि ऐसे बालकों की रक्षा के लिए आवश्यक उपायों का आयोजन करे।

उपर्युक्त विवेचन से यह जान पड़ता है कि बालक के अनैतिक व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं और जो कारण स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है वह वास्तविक

नहीं भी हो सकता। इस वस्तु स्थिति के कारण ही अपराधी बालकों के उपचार में अभी तक पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। बालक के किसी अनैतिक व्यवहार के मनोवैज्ञानिक, घरेलू, बाह्य वातावरण-सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत कारणों को समझे बिना ही उसके सुधार के लिए उसे किसी संस्था को सुपुर्द कर देना ठीक नहीं। उसके सुधार के कार्य में माता-पिता, अध्यापकों तथा निकटवर्ती समाज की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। यदि यह सहायता ठीक से नहीं दी जा सकी तो अपराधी बालक भविष्य में प्रौढ़ अपराधियों की कोटि में आकर समाज को पीड़ा देने लगेंगे। नीचे हम देखेंगे कि अपराधी बालकों के सुधार के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन लिया जा सकता है।

अपराधी बालकों का उपचार

(Treatment of Delinquent Children)

ऊपर कहा गया है कि बालकों के अपराधी व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं। स्पष्ट है कि उनके उपचार के लिए किसी एक साधन का उल्लेख नहीं किया जा सकता। विभिन्न बालकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों का आयोजन करना आवश्यक होगा।

अपराधी बालकों का पता लगाना और पकड़ना प्रायः पुलिस के हाथ की बात होती है। अतः पुलिस को अपराधी बालकों वाले न्यायालयों के कार्य-सिद्धान्त को अच्छी प्रकार समझना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि अपराधी बालकों के साथ प्रौढ़ अपराधियों की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए। यदि पुलिस ने अपराधी बालकों के साथ कड़ाई दिखलाई तो न्यायाधीश के पुचकारने पर भी बालक अपने सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातें न बतला सकेगा, क्योंकि तब उसके मन में न्यायालय की पूरी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में एक विरोध-भावना उत्पन्न हो जायगी।

यदि अपराधी बालक हवालात में रक्खा जाता है तो उसे प्रौढ़ अपराधियों के सम्पर्क से दूर रखना चाहिए। उसकी उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए, जैसे एक पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है। अपराधी को पकड़ लेने के बाद पुलिस अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे माता-पिता को शीघ्र ही सूचित कर दें और इस सम्बन्ध में उनकी सहानुभूति के लिए अनुरोध करें, क्योंकि बालक के अपराध करने में घर का वातावरण भी कुछ हद तक उत्तरदायी हो सकता है। अपराधी बालक को सदा न्यायालय में ही उपस्थित करना आवश्यक नहीं समझना चाहिए। यदि इसके बिना ही उचित व्यवस्थापन सम्भव है तो अत्युत्तम होगा। यदि न्यायालय में लाना आवश्यक ही हुआ तो यथासम्भव उसे तब तक माता-पिता के साथ ही रहने देना चाहिए जब तक उसके मामले का निर्णय नहीं हो जाता।

अपराधी बालक के अध्ययन में उसके सामाजिक इतिहास (Social History)

तथा शारीरिक परीक्षण (Physical Examination) और मनोविश्लेषणात्मक अन्वेषणों (Psychoanalytic Investigation) पर विशेष ध्यान देना चाहिए। न्यायाधीश को बाल और किशोर मनोविज्ञान का पूरा ज्ञान होना चाहिए। अच्छा होगा यदि अपराधी लड़कियों से सम्बन्धित बातों को जानने के लिए किसी योग्य महिला को नियुक्त कर दिया जाय। इस प्रकार के अन्वेषण में पूरा वातावरण सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। अपराधी बालक अथवा बालिका में आत्म-विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। उसके साथ अपराधी जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। उन्हें समाज का ऐसा सदस्य समझना चाहिए जिन्हें निर्देशन, सहानुभूति और सहायता की आवश्यकता है। उनके मामलों को सुनने के लिये न्यायालय में जनता का इकट्ठा होना अमनोवैज्ञानिक है। अन्त में यथासम्भव बालक को माता-पिता की ही देख-रेख में दे देना चाहिए। उसे राजकीय संस्था में तभी रखना चाहिए जब कि इसके बिना काम चलते न दिखलाई दें। यदि राजकीय संस्था में बालक के लिए कुछ प्रबन्ध किया जाता है तो उस सम्बन्ध में कुटुम्ब वालों की राय बड़ी ही सहायक होगी।

अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में माता-पिता का भी मनोवैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक होगा। यदि किसी घरेलू कारण से बालक अपराध करने की ओर झुका तो उस कारण को दूर करना आवश्यक होगा। यदि पिता बेकार है और अपने बालकों को पैसा कमाने के लिए विवश करता है और इस विवशता के कारण बालक अपराध करने को बाध्य होते हैं तो पिता को किसी लाभप्रद कार्य में लगा देना चाहिए। यदि पिता किसी संवेगात्मक अव्यवस्थापन का अभियुक्त है और उसके अत्याचार के कारण बालक अनैतिक आचरण दिखलाते हैं तो पिता की मानसिक चिकित्सा करना आवश्यक है।

अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में बेकर फाउण्डेशन, बोस्टन, यू० एस० ए० ने कुछ सुझावों का प्रतिपादन किया है। इन सुझावों का नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है :

- (१) बालक की रुचियों के साथ माता-पिता की सहानुभूति।
- (२) माता-पिता का अपने व्यवहार में कड़ा न होना।
- (३) बालक की शारीरिक और मानसिक सीमाओं को समझना।
- (४) निर्दयता को बन्द करना।
- (५) कोसना बन्द करना।
- (६) रियायतें देना।
- (७) माता-पिता को अपने उत्तरदायित्व को निभाना।
- (८) अच्छा निरीक्षण करना।
- (९) बालक के अपराध को मामूली न समझना।

- (१०) कौटुम्बिक गलतफहमी को दूर करना ।
- (११) काम-सम्बन्धी भावनाओं के प्रति माता-पिता का मनोवैज्ञानिक और स्वस्थ विचार रखना तथा इस सम्बन्ध में बालक और बालिकाओं की जिज्ञासाओं को शान्त करना ।
- (१२) उचित घरेलू वातावरण उत्पन्न करना ।
- (१३) कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के अनैतिक व्यवहार को बन्द करना ।
- (१४) कुटुम्ब से उन सम्बन्धियों, को निकाल देना जिनका बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।”

बालक के अनैतिक अथवा नैतिक व्यवहार पर स्कूल का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है । अतः अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में स्कूल के उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती । इस ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है ।

यदि स्कूल में बालक बुरे लोगों के संग में आ गया है तो उसे दूसरे स्कूल में स्थानान्तरित कर देना आवश्यक है । यदि बालक किसी विषय में कमजोर है और कक्षा से भागकर अनैतिक काम में लग जाता है, तो उस विषय में उसे कुछ अधिक सहायता देने का कुछ आयोजन करना चाहिए । इस आयोजन में सहानुभूति का होना आवश्यक है ।

यदि अपराधी बालक के लिए किसी कार्य की आवश्यकता है तो इसके लिए शीघ्र ही प्रबन्ध करना चाहिये । यदि अवकाश-काल के बिताने के लिए स्वस्थकर साधनों की आवश्यकता जान पड़े तो तदनुसार प्रबन्ध करना चाहिए ।

अपराधी बालकों के उपचार का प्रधान उद्देश्य उनके अच्छे चरित्र-निर्माण का है । अतः इस उपचार के क्रम में सम्बन्धित व्यक्तियों को देखना चाहिए कि बालक का संवेगात्मक तथा मानसिक विकास इस प्रकार हो कि उसमें अच्छी आदतें आ जायें ।

यदि अपराधी बालकों को राजकीय संस्थाओं में रखना आवश्यक ही जान पड़े तो इन संस्थाओं का रूप घर के समान होना चाहिए । इनमें बालकों के ऊपर किसी प्रकार का अनुचित नियन्त्रण नहीं होना चाहिये । सारा व्यवहार सहानुभूति के रस से सना होना चाहिए । ऐसी संस्थाओं का उद्देश्य समाज को योग्य सदस्यों का देना है । इस उद्देश्य में वे तभी सफल हो सकती हैं यदि वे मनोवैज्ञानिक रीतियों का सहारा लेती हैं ।

बालकों की अपराधी-प्रवृत्ति को रोकने के उपाय

(Measures for Preventing Delinquent Behaviour of Children)

बालकों की अपराधी-प्रवृत्ति को रोकने के लिए किसी एक ऐसे उपाय की चर्चा नहीं की जा सकती जो हर स्थिति में लागू हो; क्योंकि उनकी अपराधी-प्रवृत्ति

के कई कारण होते हैं। इस सम्बन्ध में जो रुचि रखते हैं उन्हें इस क्षेत्र के सभी उपलब्ध साहित्य से परिचित होना चाहिए जिससे इस सम्बन्ध वाली आधुनिक विचारधारा से वे अवगत रहें। इसके बाद उन्हें यह समझना है कि अपराधी बालकों की मानसिक और संवेगात्मक स्थिति तथा कुछ अन्य सामाजिक बातें प्रस्तुत समस्या की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। इन दोनों बातों को किसी निश्चित रेखा से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों एक दूसरे पर निर्भर होती हैं—परन्तु दोनों को अलग-अलग समझ लेना समस्या के निराकरण में बड़ा सहायक होगा।

वस्तुतः अपराधी-प्रवृत्ति को रोकने का कार्य बालक के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। राज्य का यह कर्तव्य है कि जो पति-पत्नी विषम मानसिक रोगों से पीड़ित हैं उन्हें सन्तानोत्पादन शक्ति से हीन कर दे। इस सम्बन्ध में कुछ वैज्ञानिक साधनों का आविष्कार किया जा चुका है।

शिशु के गर्भ में आ जाने के बाद माता के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिससे शिशु का स्वास्थ्य बुरा न हो। जन्म के बाद लालन-पालन इस प्रकार का हो कि शिशु अच्छी ही आदतों को अपनाये। इस सम्बन्ध में नर्सरी स्कूलों की उपयोगिता की ओर संकेत किया जा सकता है।

समय-समय पर स्कूल के अध्यापकों को लड़कों के घर जाते रहने की एक निश्चित व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे वे बच्चों के लालन-पालन में माता-पिता की आवश्यक मनोवैज्ञानिक सहायता कर सकें।

विकासावस्थानुसार बालक और बालिकाओं की काम-मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी जिज्ञासाओं को सन्तुष्ट करते रहना चाहिये जिससे उनकी संतुष्टि के लिए वे अवांछित साधनों का सहारा न लें।

बहुधा यह देखा जाता है कि माता-पिता की गरीबी के कारण बालकों को उन धन्धों में जाना पड़ता है जिनके लिए उनमें रुचि नहीं होती। इसका फल साधारणतः अपराध-प्रवृत्ति का उत्पन्न करना ही होता है। अतः व्यावसायिक निर्देशन (Vocational Guidance) का कार्यक्रम इस सम्बन्ध में बड़ा सहायक हो सकता है, क्योंकि इससे बालकों को मनोवांछित धन्धा पाने में बड़ी सहायता मिलेगी।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अवकाश-काल के दुरुपयोग से बालकों में अपराधी-प्रवृत्ति बढ़ती है। अतः अवकाश-काल के सदुपयोग तथा मनोरंजन के लिए स्वस्थ साधनों का आयोजन करना अत्यन्त आवश्यक है। बालकों के लिए क्लब अथवा गोष्ठी तथा स्काउटिंग आदि का प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे अपनी विकासावस्थानुसार वे सामूहिक खेलों में भाग ले सकें।

राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नियुक्त पुलिस अधिकारियों द्वारा उन स्थानों का निरीक्षण करता रहे जो मनोरंजन के सस्ते व्यापारिक साधनों का आयोजन करते हैं और अबोध बालक और बालिकाओं को फँसाते हैं। जो व्यक्ति अवांछित प्रवृत्ति के होते हैं उन पर भी पुलिस की कड़ी निगरानी होनी चाहिए।

३१८ ○ बाल व्यवहार विकास

हमारे देश के कुछ बड़े-बड़े शहरों में बच्चों द्वारा भीख माँगवाने की समस्या बड़ी विकट होती जा रही है। इन भीख माँगने वाले बच्चों का अपराधी-प्रवृत्ति का अपना कठिन नहीं होता। अच्छा होगा यदि उन बच्चों को कोई कार्य दिया जाय और कानून द्वारा भीख माँगना अवैधानिक बना दिया जाय।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपराधी बालकों के उद्धार के लिए हमें कई प्रकार के कार्य करने होंगे और इसमें माता-पिता, अध्यापक, स्कूल, समाज तथा राज्याधिकारी सभी का अपना-अपना कर्तव्य है। यदि सभी अपने-अपने कर्तव्य पर ध्यान दें तो उनका उद्धार करना कठिन न होगा।

प्रतिभावान बालक

(SUPER NORMAL OR GIFTED CHILDREN)

प्रतिभावान बालकों का राष्ट्रीय और सामाजिक महत्त्व

लोगों का यह विश्वास है कि संकटकालीन अथवा विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर प्रतिभावान व्यक्ति ही आगे बढ़कर अपनी विशेष सूक्ष्म और असाधारण योग्यता द्वारा लोगों को संकट से मुक्त करते हैं। प्रतिभावान व्यक्ति संकट भारतवर्ष में तो इस वर्ग के अग्रणी व्यक्तियों की ईश्वर के से मुक्त करते हैं समान प्रतिष्ठा मिलती है। यहाँ की सामान्य मान्यता है कि जब-जब देश पर घोर संकट उपस्थित होता है तब ईश्वर कई कलाओं (विशेष गुणों) से युक्त अवतार धारण करते हैं। वास्तव में ये प्रतिभावान व्यक्ति ही होते हैं जो तत्कालीन संकटमय परिस्थिति में प्रतिभाशाली नेतृत्व द्वारा उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सके हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी, आदि इसी श्रेणी के प्रतिभावान व्यक्ति थे। इनकी प्रतिभा की झलक इनके बाल्यकाल से ही लोगों को मिलने लगी थी। आज के अन्तरिक्ष प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता के युग में भारतवर्ष की विशेष संकटकालीन तथा भयावह स्थिति में प्रतिभावान बालकों के गुणों की परख और उनका उचित विकास एक राष्ट्रीय और सामाजिक आवश्यकता है।

प्रतिभावान बालकों के विशेष गुण

प्राचीन कहावत है कि 'होनहार विरवान के होत चीकने पात'। अतः यह विचारणीय है कि प्रतिभावान बालकों के गुणों की गणना किस प्रकार की जाय। उनके जितने ही निरीक्षण किये जायेंगे उतने ही अधिक गुण स्पष्ट होंगे। प्रतिभावान बालक-बालिकाओं के कुछ विशेष गुण निम्नलिखित होते हैं—

(१) नैतिक गुण—प्रतिभावान बालकों में नैतिकता सामान्य बालक की अपेक्षाकृत अधिक होती है। वे स्वभाव से दयालु, सचरित्र और ईमानदार होते हैं।

(२) बौद्धिक गुण—प्रतिभावान बालकों की बौद्धिक जिज्ञासा सामान्य बालकों

की अपेक्षाकृत अधिक होती है। ये थोड़ा पथ-प्रदर्शन मिलने पर आगे का मार्ग स्वयं ढूँढ़ निकालते हैं। किसी समस्या को हल करने या किसी जिज्ञासा, कौशल विषय के सम्बन्धों में निष्कर्ष निकालने में अद्भुत कौशल और क्षमता प्रदर्शित करते तथा शीघ्रता दिखाते हैं। इनकी रुचि विकसित और लगन तीव्र होती है और सौंपे गये कार्य को रुचि तथा लगन से करते हैं। बौद्धिक श्रम वाले कार्यों को वे अधिक पसन्द करते हैं और प्रायः उन्हीं खेलों में भाग लेते हैं जिनमें बुद्धि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। इनकी तर्क-शक्ति प्रबल होती है और थोड़ा भी संकेत मिलने पर अपनी अशुद्धियाँ स्वयं ठीक कर लेते हैं।

(३) शारीरिक गुण—प्रतिभावान बालकों का स्वास्थ्य भी सामान्य बालकों की अपेक्षाकृत अच्छा होता है। इस सम्बन्ध में किये गये अध्ययनों के ये निष्कर्ष निकले हैं कि जन्म से ही इनके भार, ऊँचाई आदि सामान्य स्वास्थ्य अच्छा, सामयिक बालकों की अपेक्षाकृत अधिक होती है। इनके शारीरिक बीमारियाँ नहीं, थकान विकास भी शीघ्रता से होते हैं और शारीरिक क्रियायें जैसे कम बैठना, चलना, बोलना आदि अपेक्षाकृत शीघ्र सीख लेते हैं। शारीरिक दोष अपेक्षाकृत कम होते हैं और सामयिक बीमारियों (Seasonal Diseases) से जल्द प्रभावित नहीं होते। शारीरिक क्षमता भी अपेक्षाकृत अधिक होती है, जल्दी थकान अनुभव नहीं करते और रुचि के कार्यों को लगन के साथ देर तक करते रहते हैं।

(४) सामाजिक गुण—प्रतिभावान बालकों में सामान्य सामाजिकता के गुण सामान्य बालकों की अपेक्षाकृत कम होते हैं। परन्तु ये समाज को उचित दिशा में ले जाने में समर्थ पाये जाते हैं। इनमें आत्म-सम्मान की भावना कम सामाजिकता सामान्य बालकों की अपेक्षाकृत अधिक होती है। अतः उचित निर्देशन और प्रोत्साहन के अभाव में इनके घमंडी होने की सम्भावना रहती है।

नीचे दी गई तालिकाओं से प्रतिभावान बालकों के शारीरिक विकास का सापेक्षित अनुमान लगाया जा सकता है :—

तालिका (क)

वर्ग	जन्म के समय तौल (लगभग किलोग्राम में)	चलने की आयु (मास में)
प्रतिभावान बालक	३.८६	१३.०
सामान्य बालक	३.६२६	१४.५
प्रतिभावान बालिकायें	३.४०२	११.०
सामान्य बालिकायें	३.१७५	१३.०

तालिका (ख)

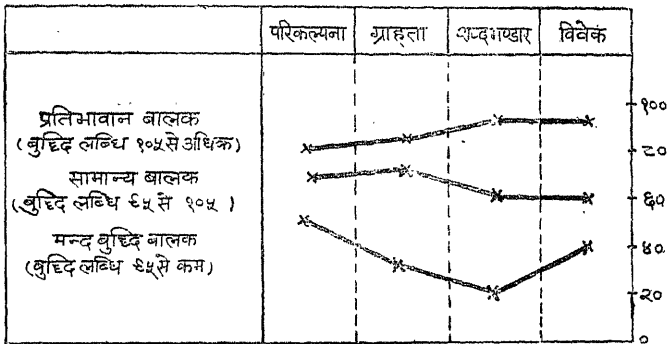
वर्ग	आयु	तील (लगभग) (किलोग्राम में)	ऊँचाई (लगभग) (मीटरों में)
प्रतिभावान बालक :— (बुद्धिलब्धि ११० से अधिक)	११७ मास	३३.५६६	१.३४
सामान्य बालक :— (बुद्धिलब्धि ९० से ११०)	११७ मास	२९.०३०	१.३१
मन्द बुद्धि बालक :— (बुद्धिलब्धि ९० से कम)	११७ मास	२६.९६९	१.२६

प्रतिभावान बालकों का चुनाव

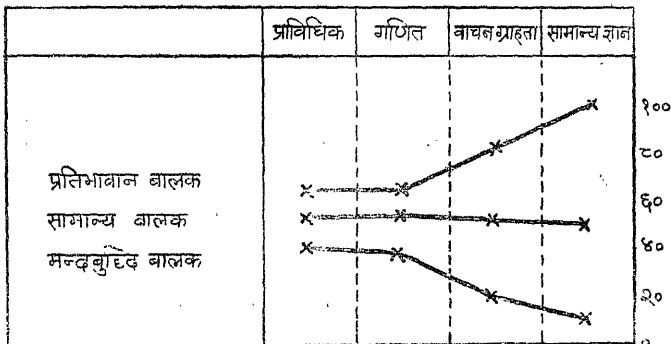
प्रतिभावान बालकों का चुनाव कुछ बुद्धि-मापक परीक्षणों द्वारा तथा कुछ विशेष जन्मजात गुणों के आधार पर किया जा सकता है। परीक्षण के लिए सामान्य बुद्धि बालकों की बुद्धि-लब्धि को आधार मानकर प्रतिभावान बालकों का सापेक्षित अध्ययन किया जा सकता है। नीचे दिये गये रेखाचित्रों से इसकी सापेक्षित योग्यता ज्ञात की जा सकती है :—

जन्मजात गुणों के आधार पर

क--बौद्धिक योग्यता



ख—विषय-योग्यता



प्रतिभावान बालकों की मूलभूत समस्यायें (Fundamental Problems of Gifted Children)

भारतवर्ष में प्रतिभावान बालकों के व्यक्तित्व-विकास में बाधक कुछ मूलभूत समस्यायें निम्नलिखित हैं :

(१) वर्तमान सामाजिक और शैक्षिक वातावरण में प्रतिभावान बालकों के चुनाव की कोई ठीक व्यवस्था नहीं है। अपढ़ व्यक्तियों से भरे समाज में इनके चुनाव की किसी सामाजिक व्यवस्था की सम्भावना तो हो नहीं सकती, परन्तु शिक्षा-संस्थाओं का भी वातावरण ऐसा है, कि अध्यापकों और शिक्षा अधिकारियों द्वारा प्रतिभावान बालकों के चुनाव करने और उन पर विशेष ध्यान देने की व्यवस्था नहीं पाई जाती। फलतः प्रतिभावान बालकों की प्रतिभा के विकास की समस्या तो दूर रही उनका ऋणात्मक-विकास होने लगता है। वे विभिन्न मानसिक दुर्भावनाओं और मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं और उनको अविकसित प्रतिभा धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है।

(२) भारतीय सामाजिक ढाँचे की जातिवाद, वर्गवाद, ऊँच-नीच, छुआछूत, आर्थिक विषमता आदि की कुछ प्रमुख समस्यायें हैं, जिससे किसी एक विशेष जाति, वर्ग या स्तर के परिवार में उत्पन्न प्रतिभावान बालकों को सामाजिक वातावरण ही व्यक्तित्व-विकास की सभी सुविधायें उपलब्ध हो सकती उपयुक्त नहीं हैं। अन्य के व्यक्तित्व विकास के लिये उपयुक्त अवसर अथवा प्रोत्साहन का सर्वथा अभाव है। इन विभिन्न सामाजिक अभावों व कुरीतियों में उनकी प्रतिभा धीरे-धीरे कुण्ठित हो जाती है और बहुधा इनका दुरुपयोग होने लगता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज उचित व्यवस्था के अभाव में कितनी ही प्रतिभाओं के लाभ से वंचित रह जाता है। इनकी उपादेयता सामाजिक विकास के दृष्टिकोण से बहुत ही मूल्यवान है।

प्रतिभावान बालकों की शिक्षा

विद्यालयों के सामान्य शिक्षा कार्यक्रमों से प्रतिभावान बालकों की प्रतिभा-विकास के कोई अवसर नहीं हैं। दिन-प्रतिदिन के शिक्षा-कार्यक्रमों को ये शीघ्र ही समाप्त कर लेते हैं और सामान्यतः उन्हें पढ़ाये गये विषयों के दुहराने और अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती। सामान्य बालकों के साथ-साथ चलाने में उनका समय व्यर्थ जाता है और उनकी प्रतिभा के विकास का कोई अवसर नहीं होता। अतएव इनकी प्रतिभा को कुण्ठित होने से बचाने तथा उसको विकसित करने हेतु विशेष प्रकार के विद्यालयों या सामान्य विद्यालयों में विशेष प्रकार के

कार्यक्रमों की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके सम्बन्ध में विस्तृत रूपरेखा अग्र-लिखित है।

विशेष विद्यालयों की व्यवस्था

अमेरिका तथा कुछ अन्य प्रगतिशील देशों में प्रतिभावान बालकों के लिए अलग विद्यालयों की व्यवस्था पाई जाती है, जिसके कार्यक्रम प्रतिभा विकास को दृष्टि में रखकर निर्धारित किये जाते हैं। अमेरिका में कुछ राष्ट्रीय उत्तरदायित्व विद्यालयों में वर्ग-रहित शिक्षा की व्यवस्था है जिसमें ऊँची बुद्धि-लब्धि वाले बालकों को प्रविष्ट किया जाता है। विद्यालय समय के अतिरिक्त समय में कार्यक्रम आयोजित करने वाले विशेष विद्यालयों की भी व्यवस्था पाई जाती है जिसमें प्रतिभावान बालक अतिरिक्त समय में सम्मिलित होकर ज्ञान वृद्धि कर सकें। उच्च प्रतिभा स्तर बनाये रखना राष्ट्रीय दायित्व है। इसके निर्वाह की दिशा में कार्य के लिये विशेष विद्यालयों की व्यवस्था होनी चाहिए।

विशेष कार्यक्रमों की व्यवस्था

प्रतिभावान बालकों के लिए सामान्य विद्यालयों में निम्नलिखित व्यवस्था की जा सकती है :—

१—प्रतिभावान बालक सामान्य-बुद्धि-बालकों की योग्यता-विचार से निर्धारित पाठ्यक्रम लगभग आधे समय में ही समाप्त कर लेते हैं तथा निर्धारित आयु और काल से पूर्व ही सामान्य परीक्षाओं (Public Examinations) में सम्मिलित होने योग्य हो जाते हैं। अतः ऐसे बालकों को प्रवेश तथा परीक्षा के सम्बन्ध में निर्धारित आयु से छूट मिलनी चाहिए तथा एक कक्षा के पाठ्यक्रम समाप्त करने पर सत्र के बीच में ही अर्थात् ६ माह बाद ही अगले वर्ग में प्रोन्नति होनी चाहिए।

२—कक्षा-कार्य के शीघ्र समाप्त करने के पश्चात् प्रतिभावान बालकों को सामान्य अभ्यास कार्यक्रमों के लिए बाध्य न किया जाय। इस समय का उपयोग करने के लिए उन्हें पुस्तकालयों व वाचनालयों में स्वतः अध्ययन की कक्षा से मुक्ति दे देनी चाहिए। इसके लिए प्रत्येक विद्यालय में पुस्तकालय और वाचनालय की व्यवस्था करना आवश्यक है। बालकों के नित्यप्रति के कक्षा अतिरिक्त-कार्य (गृह-कार्य) में भी यह ध्यान रखा जाय कि प्रतिभावान बालकों को दुहराने और अभ्यास के कार्यों के स्थान पर सम्बन्धी विषय को किसी नये दृष्टिकोण से समझने या प्रस्तुत करने के कार्य देकर उनकी बौद्धिक योग्यता की वृद्धि का प्रयत्न होना चाहिए।

३—प्रतिभावान बालकों के बचे हुए समय को अन्य कई प्रकार से उपयोगी

बनाया जा सकता है। अध्यापक उनका प्रयोग मन्द-बुद्धि छात्रों को सहायता देने अथवा अपने किसी कार्य जैसे कार्य-सूची बनाना, अभिलेख व्यक्तित्व के गुणों का तैयार करना, कक्षा एवं विद्यालय की सजावट, उपकरणों विकास के ठीक रख-रखाव आदि के लिए कर सकते हैं। इस प्रकार प्रतिभावान बालकों के व्यक्तित्व के अन्य गुणों का विकास होगा। उन्हें विभिन्न बाह्य-कार्यक्रमों, जैसे समितियों, परिषदों आदि के संगठन, सामूहिक परियोजनाओं के संगठन और नेतृत्व, सांस्कृतिक तथा मनोरंजक कार्यक्रमों के आयोजन आदि के लिए प्रेरित करके उनकी प्रतिभा तथा उनके व्यक्तित्व विकास का प्रयत्न होना चाहिए।

४—प्रत्येक विद्यालय में विशेष-कक्षाओं की व्यवस्था होनी चाहिए जिनमें विद्यालय-समय के उपरान्त प्रतिभावान बालकों को कक्षा में पढ़ाये गये विषयों को गहनता और विस्तार से समझाया जाय, उससे सम्बन्धित उपयोगी जानकारी दी जाय तथा उनकी विषय-सम्बन्धी उत्सुकताओं एवं जिज्ञासाओं का समाधान किया जाय।

बालकों का स्वास्थ्य (HEALTH OF CHILDREN)

“स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क (A healthy mind in a healthy body)” की मान्यता अब समय परिवर्तन के साथ पुरानी पड़ गई है। विज्ञान की उन्नति द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य शरीर और मस्तिष्क भी अध्ययन का विषय है। बालकों के सर्वाङ्गीण विकास दोनों के स्वास्थ्य पर के लिए उनके शारीरिक और मानसिक दोनों स्वास्थ्य का ध्यान रखना एक आवश्यकता है और विभिन्न पारिवारिक, सामाजिक और वातावरण-जनित परिस्थितियाँ बालकों के स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। अतः इस अध्याय में हम दोनों प्रकार के स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करेंगे।

शारीरिक स्वास्थ्य

बालकों का गिरा हुआ स्वास्थ्य उनके व्यक्तित्व विकास के लिए हानिकारक होने के साथ-साथ माता-पिता के लिए भी एक विशेष चिन्ता का विषय बना रहता है। बालकों के स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी के अभाव में गिरा हुआ स्वास्थ्य अधिकांश माता-पिता उनकी चिकित्सा के लिए इधर-उधर चिन्ता का कारण दौड़ते हैं, तरह-तरह के पौष्टिक आहारों पर बहुधा अपने सामर्थ्य से अधिक व्यय करते हैं और इस पर भी स्वास्थ्य सुधार न होने पर परेशान और निराश हो जाते हैं। वास्तव में अस्वास्थ्य के मूलभूत कारण अधिकांशतः उनकी पारिवारिक वातावरण, जैसे खान-पान, रहन-सहन, आदि में ही छिपा रहता है और वे अज्ञानता और अनभिज्ञता वश उसे खोज पाने में असमर्थ रहते हैं। अतः बालकों के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों और स्वास्थ्य-सुधार की व्यवस्थाओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

जन्मजात अस्वस्थता

बालकों के गिरे स्वास्थ्य के कुछ जन्मजात कारण भी होते हैं। कुछ शिशु

गर्भावस्था से ही अस्वस्थ रहते हैं। इनके कई कारण हो सकते हैं; जैसे माता-पिता का अस्वस्थ होना, गर्भावस्था में किसी रोग से पीड़ित होना गर्भावस्था, माता-पिता अथवा आहार में पौष्टिक तत्वों की कमी के कारण गिरा की अस्वस्थता हुआ स्वास्थ्य आदि। गर्भावस्था में माँ के स्वास्थ्य का प्रभाव बालकों के शारीरिक विकास पर पड़ता है और माँ के अस्वस्थ होने की दशा में बालकों का स्वाभाविक विकास रुक जाता है। वह अस्वस्थ उत्पन्न होगा और उपयुक्त वातावरण में पालन-पोषण होने पर भी वह बहुत दिनों तक अस्वस्थ रहेगा। अतः गर्भावस्था में बालकों के स्वाभाविक विकास के लिए माँ का स्वस्थ होना, गर्भावस्था में रहन-सहन और आहार-विहार का अच्छा तथा पौष्टिक होना, प्रसन्न चित रहना, उचित शारीरिक श्रम तथा उचित विश्राम करना आदि नितांत आवश्यक है। कभी-कभी प्रसव के समय किसी कठिनाई के उत्पन्न होने पर प्रसव के लिए कृत्रिम साधनों एवं उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है और विशेष दबाव के कारण या शल्यक्रिया में किसी औजार से चोट लगने के कारण बालकों का कोई अंग घायल होकर कुंठित हो जाता है और शारीरिक विकास में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। अतः माँ को इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि प्रसव स्वाभाविक हो। इसके लिए उन्हें आवश्यक शारीरिक परिश्रम करते रहना चाहिए और सहज क्रियाओं के परिचालन के लिए समय-समय पर डाक्टर की सलाह लेते रहना चाहिए।

स्वाभाविक पालन-पोषण

पालन-पोषण में स्वाभाविकता और सतर्कता के अभाव में भी बालकों का स्वास्थ्य गिर जाता है। माँ के हाथों और माँ के दूध पर पलने के स्थान पर किसी आया या नौकरानी के हाथों तथा गाय-भैंस या बन्द डिब्बों के सुखाये हुए दूध पर पलने वाले बालकों का स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रहता। स्वाभाविक पालन-पोषण माँ द्वारा ही सम्भव है। बच्चों के पालन-पोषण और देख-रेख में जिस वात्सल्यपूर्ण व्यवहार की आवश्यकता होती है वह केवल उनकी अपनी माँ ही दे सकती है। जिन बच्चों को आया या नौकरानियों को सौंप दिया जाता है उनका शारीरिक विकास कुंठित हो जाता है और बहुधा वे रोगी हो जाते हैं। अशिक्षित और अप्रशिक्षित आयार्ये व नौकरानियाँ बच्चों की स्वाभाविकता के स्थान पर अपनी सुविधाओं का अधिक ध्यान रखती हैं। इन परिस्थितियों से उच्च-वर्ग अथवा धनी-परिवारों में उत्पन्न होने वाले बच्चे विशेष प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त माँ का दूध बच्चों के स्वाभाविक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। गाय-भैंस या बन्द डिब्बों के दूध में बालकों के विकास के लिए आवश्यक सभी तत्व एवं उनकी सन्तुलित मात्रा उस प्रकार नहीं पाई जाती जैसा माँ के दूध में। दूसरी समस्या दूध के दुहे जाने से लेकर बच्चों तक पहुँचने के बीच रख-रखाव की है। इसमें विशेष

सावधानी होने पर भी कई प्रकार के अदृश्य कोटाणु दूध में मिल जाते हैं। आया या नौकर-नौकरानियों में तो सफाई और सावधानी की भावना तो और भी कम होती है। अतः विषाक्त पेय से बच्चों का स्वास्थ्य गिर जाता है और कई प्रकार के रोग बाल्यावस्था में ही अपनी जड़े जमा लेते हैं। इन कुप्रभावों से बच्चों को बचाने के लिए माँ के दूध पर ही उनका प्रारम्भिक पालन-पोषण होना चाहिए। आजकल महिलाओं में एक गलत धारणा उत्पन्न हो गई है कि बच्चों के स्तन-पान से उनकी आकृति बिगड़ जाती है और उनके स्वास्थ्य और सौन्दर्य नष्ट हो जाते हैं। अब यह बात विवाद से परे सिद्ध हो चुकी है कि स्तन-पान से इस प्रकार के कोई दुष्परिणाम नहीं निकलते और इसके स्थान पर आकृति और उन्नत तथा स्वास्थ्य और सौन्दर्य में और भी वृद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त बालकों के पालन-पोषण और माँ के दूध के अभाव में उत्पन्न रोगों की चिकित्सा पर होने वाले अनुमानित व्यय की धनराशि यदि बालकों को स्तन-पान कराने वाली महिलाओं को पौष्टिक आहार देने पर व्यय किया जाय तो माँ और बच्चे दोनों का स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जायगा। इस प्रकार की व्यवस्था द्वारा बालकों को बाल्यावस्था में विभिन्न रोगों से बचाते हुए उनके स्वास्थ्य को उत्तम तथा शारीरिक विकास को स्वाभाविक बनाया जा सकता है। पाश्चात्य सभ्यता और गलत धारणाओं से प्रभावित महिलाओं को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

नियमित आहार, विश्राम और व्यायाम

आहार

जब तक बालक माँ का दूध पीता है तब तक उसे शारीरिक विकास के सभी आवश्यक तत्व माँ के दूध से मिलते हैं। इसके लिए माँ के आहार में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। माँ का भोजन सन्तुलित और सन्तुलित भोजन की पौष्टिक होना चाहिए। जब कुछ बड़े होने पर बच्चों को आवश्यकता माँ के दूध के अतिरिक्त और आहार की आवश्यकता होती है तभी से इन्हें सन्तुलित और नियमित आहार दिया जाय। बालकों के आहार में शारीरिक विकास के लिए कुछ आवश्यक तत्व; जैसे प्रोटीन, चिकनाई, कार्बोहाइड्रेट, लवण तथा विटामिन आदि अवश्य होने चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन तत्वों से युक्त पदार्थों को अधिक पकाने और भूनने से उसके सम्बन्धी तत्व नष्ट हो जाते हैं तथा खटाई, मसाले, मिर्च आदि का प्रयोग बालकों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते हैं। दूध, हरी सब्जियाँ, ताजे फल का यथा-सम्भव प्रयोग अधिक करना चाहिए क्योंकि इनमें विटामिन तथा अन्य उपयोगी तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। बालकों के भोजन का नियमित होना दूसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता है इससे उनकी शारीरिक सहज क्रियायें भी नियमित होती हैं और बच्चों तथा उनके माता-पिता को आसानी होती है। इससे बालक अपच, पित्त-विकार, अजीर्ण आदि रोगों से मुक्त रहेंगे और बार-बार भोजन के आग्रह द्वारा माता-पिता

को परेशान न करेंगे। बालकों को दिए जाने वाले भोजन का स्वाद अच्छा होने के साथ-साथ उसकी गन्ध और आकृति आकर्षक तथा परोसने का ढंग सुरुचिपूर्ण होना चाहिए, जिससे बालकों में भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न हो। बालकों में खूब चबाकर खाने की आदत डालनी चाहिए, जिससे भोजन शीघ्र ही ठीक प्रकार से पच जाय।

विश्राम

बालकों को सन्तुलित भोजन की ही भाँति भली प्रकार विश्राम की आवश्यकता होती है। नवजात शिशु को लगभग १८ घण्टे सोने की आवश्यकता होती है। वय के बढ़ने के साथ-साथ विश्राम के घण्टों में भी कमी होती जाती सुनियोजित और पर्याप्त है। परन्तु सभी अवस्थाओं में बालकों के विश्राम सुनियोजित व नींद निर्विघ्न होनी चाहिए। विश्राम के समय को सुनियोजित करने के लिए ३ या ४ वर्ष तक बालकों को रात्रि की नींद के अलावा आवश्यकतानुसार २ से ४ घण्टे दिन के बीच में भी सुलाना चाहिए। बालकों की नींद निर्विघ्न होने के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए। उनके सोने का स्थान यथासम्भव कम से कम परिवर्तन किया जाय। उनका बिस्तर मुलायम, आराम देने वाला और साफ-सुथरा होना चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि उनके लिए अलग बिस्तर की व्यवस्था हो। उनमें ऐसी आदतें डालनी चाहिए कि वे माता-पिता को कम से कम परेशान करें। यदि बालक सोते समय अपनी किसी विशेष प्रिय वस्तु को साथ रखकर सोना चाहता है तो उसे वैसा करने दिया जाय। यदि कोई बालक अंधेरे से डरता है तो उसके सोने के स्थान पर प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए। बालकों को स्वाभाविक अवस्था में सोने की आदत डालनी चाहिए। सामान्यतः उन्हें भली प्रकार खिला-पिलाकर सोने के स्थान पर पहुँचा देना चाहिए और यदि किसी कारणवश उसे नींद नहीं आती तो अधिक से अधिक उसे सहलाकर या थपकी देकर सुलाना चाहिए। इससे अधिक किसी क्रिया का अभ्यस्त बनाना ठीक नहीं होता। यह अवश्य है कि जो बालक जागते समय दौड़-धूप या खेल-कूद में अपने को थका लेते हैं उन्हें मालिश करके या गर्म पानी से स्नान कराकर सुलाना चाहिए।

व्यायाम

व्यायाम बालकों के शारीरिक विकास की एक प्रमुख क्रिया है। जन्म के थोड़े समय बाद से ही बच्चे माँ की गोद में या बिस्तर पर ही हाथ पैर फेंककर व्यायाम करने लगते हैं। किसी वस्तु या खिलौने इसकी उपयुक्तता अत्यन्त को पकड़ने के प्रयत्न, बिस्तर पर उल्टे होकर घिसटने की क्रिया आदि उनके व्यायाम के एक अंग हैं। बड़े होने पर दौड़ना, उछलना, कूदना, गेंद खेलना आदि उनकी स्वाभाविक क्रिया होती है। किसी अन्य व्यवस्था के अभाव में बालक सीढ़ी, चारपाई, मेज, कुर्सी आदि पर चढ़-उतरकर या पानी से खेलकर, घर के सामान इधर से उधर हटाकर

ही व्यायाम करते हैं। इन सब क्रियाओं द्वारा उनके भोजन के पचने में सहायता तो मिलती ही है, साथ-साथ उनका मनोरंजन भी होता रहता है। वे स्वस्थ और प्रसन्नचित्त रहते हैं। जिन बालकों को किसी विशेष पारिवारिक परिस्थिति या असुविधा के कारण व्यायाम और मनोरंजन की सुविधायें नहीं मिलतीं वे कमजोर, चिड़चिड़े व जिद्दी हो जाते हैं। उनके स्वास्थ्य खराब रहते हैं और वे जल्दी-जल्दी बीमार पड़ते रहते हैं।

स्वस्थ वातावरण

बालकों के उचित और सर्वांगीण विकास के लिये साफ-सुथरा, स्वच्छ और खुला हुआ वातावरण चाहिये। बालकों के प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुयें साफ-सुथरी होनी चाहिये। उनमें समय पर दैनिक क्रियायें करने, सर्वांगीण विकास के लिए अपने शरीर तथा वस्त्रों की सफाई तथा अपने खिलौने, अत्यन्त आवश्यक पुस्तकें, वस्त्र आदि साफ-सुथरा एवं सजाकर रखने की आदत डालनी चाहिये। तौलिया, रूमाल, भाड़न, ब्रुश, आदि के प्रयोग का उन्हें अभ्यास कराना चाहिये। घर कि विभिन्न वस्तुओं, जैसे मेज कुर्सी, बर्तन, पर्दे, दरवाजे व खिड़कियों के शीशे, पर्दे, आदि तथा कमरों की दीवारों फर्श, आँगन तथा स्नानागार आदि की नियमित सफाई होनी चाहिए। बालकों को भी कभी-कभी सफाई के कार्यों में सम्मिलित कर लेना चाहिये। इससे काम में कुछ सहायता मिलेगी, उनमें सफाई की अभिरुचि बनेगी और वे कम से कम गन्दगी करेंगे। प्रयोग की विभिन्न वस्तुओं के लिये अलग-अलग स्थान निर्धारित करने, तथा घर के अन्य सदस्यों द्वारा वस्तुयें निश्चित स्थान पर रखने और उनके सुरुचिपूर्ण प्रयोग का भी बालकों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार के अभ्यास से उनसे कम से कम वस्तुयें टूटती-फूटती हैं। यदि घर से संयुक्त खुला स्थान हो तो उसके उचित प्रयोग की व्यवस्था करनी चाहिये। उसे साफ-सुथरा रखने तथा उसमें कुछ फूल-पौधे, फल-सब्जी आदि उगाने की व्यवस्था द्वारा बालकों में बहुत सी उपयोगी प्रवृत्तियाँ विकसित की जा सकती हैं। यह देखा गया है कि बालक धीरे-धीरे फूल-पौधों से सम्बद्ध हो जाते हैं, बड़े मनोयोग से उनका उगाना, बढ़ना, फलना, फूलना देखते हैं और अपने बचे समय का प्रयोग उनके लिये करके आनन्दित होते हैं। इस प्रकार की क्रियाओं द्वारा उनका शारीरिक श्रम और मनोरंजन दोनों होता है।

खुली हवा और धूप बालकों के स्वास्थ्य के लिये बहुत आवश्यक है। खुली हवा में धूमने-फिरने तथा खेलने-कूदने से उनका स्वास्थ्य खुली हवा तथा पोषण सुधरता है तथा धूप से बालकों के शरीर को 'डी' विटामिन हेतु सभी आवश्यक प्राप्त होती है और शरीर कई प्रकार की बीमारियों के पौष्टिक तत्त्व प्रभाव से मुक्त रहता है। धूप सेवन करते रहने से बालकों को नेत्र-रोग कम होते हैं और वे सर्दी-खाँसी आदि से जल्द

प्रभावित नहीं होते। प्राचीन मान्यता के अनुसार सूर्य की किरणों में जीवन दायनी शक्ति होती है और भारतवर्ष में तो प्रारम्भ से ही शिशुओं को मालिश करके धूप में लिटाने, धूप में स्नान आदि की परम्परा पाई जाती है। नगरों में थोड़ी धूप की अमुविधा और थोड़ा फैंशन के प्रभाव के कारण इसका प्रचलन कम अवश्य है। परन्तु अधिकांश बुद्धिमान महिलायें प्रगतिशील होते हुए भी बच्चों के पालन-पोषण में परम्परागत तेल-मालिश और धूप का ही व्यवहार करती हैं। धूप की कमी से बालकों की आँखें, हड्डियाँ, फेफड़े, त्वचा आदि रोग-ग्रसित हो जाते हैं। अतएव नगरों के जीवन में जहाँ पास-पास ऊँचे मकानों के कारण धूप का अभाव हो वहाँ खुली हवा और धूप के लिये थोड़े प्रयत्न और परिश्रम करने चाहिये। ऐसी परिस्थितियों में मकानों को छत का प्रयोग करके धूप और खुली हवा प्राप्त की जा सकती है। जहाँ तक सम्भव हो बालकों को भी सुबह-शाम नगर के खुले भाग की ओर टहलाने की व्यवस्था की जाय। नगरों के पार्कों या खुले मैदानों में खेलने, कूदने, दौड़ने की सुविधायें मिलती रहने पर बालकों का स्वास्थ्य ठीक रहेगा। अवकाश के दिनों में नगर के बाहर पिकनिक आदि के कार्यक्रम बनाते रहना चाहिये और जिन परिवारों का देहाती क्षेत्र से सम्बन्ध हो उन्हें बीच-बीच में अथवा ग्रीष्मावकाश में बच्चों को देहातों में भेज देना चाहिए।

परिवार में शान्त, प्रफुल्ल और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण होना चाहिये। माता-पिता या परिवार वालों के आपसी रगड़े-भगड़े, गाली-गलौज आदि व्यवहार सम्बन्धी अभाव से बालकों में अच्छे संस्कार नहीं उत्पन्न हो पाते और इन सबके प्रभाव स्वरूप बच्चे भी उदास व अस्वस्थ रहते हैं। अतः बालकों को प्रसन्नचित्त रखने तथा उनके उत्तम संस्कार के लिये घर का वातावरण स्नेहपूर्ण रखना चाहिये और आपसी बातचीत में भी शिष्ट भाषा और आदरसूचक सम्बोधनों का प्रयोग करना चाहिये।

मानसिक स्वास्थ्य

व्यक्तित्व के विकास के लिये मानसिक स्वास्थ्य भी शारीरिक स्वास्थ्य के समान आवश्यक है। शारीरिक स्वास्थ्य से परिपूर्ण व्यक्ति भी मानसिक अस्वस्थता की अवस्था में सभी दृष्टिकोण से असमर्थ होता है। अतः मानव-सभ्यता-विकास के इस जटिल जीवन-काल में बालकों के मानसिक स्वास्थ्य का शारीरिक स्वास्थ्य के समान ही महत्त्व है। जीवन की जटिलताओं का सामना करने हेतु मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिये। आज से कुछ सदियों पूर्व मनुष्य के सम्मुख मानसिक स्वास्थ्य के अध्ययन की समस्या इस रूप में नहीं थी। सामान्यतः उस समय आज की अपेक्षाकृत

वर्तमान सभ्यता की जटिलता के कारण इसकी अत्यधिक आवश्यकता

कम आवश्यकतायें और कम समस्यायें थीं और इनकी पूर्ति के लिये मानसिक श्रम की अपेक्षाकृत शारीरिक श्रम की अधिक आवश्यकता पड़ती थी। क्रमशः सभ्यता-विकास के साथ-साथ विभिन्न पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय प्रतिबन्धों और सामयिक समस्याओं से घिरा मानव मानसिक अस्वस्थता की ओर अग्रसर हुआ और उसकी पूर्ति के लिये मानसिक स्वास्थ्य-विधान तथा मानसिक स्वास्थ्य-चिकित्सा-सुविधाओं का विकास हुआ।

मानसिक अस्वस्थता

कई प्रकार की परिस्थितियाँ मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। बालकों को बहुधा मानसिक दोष अपने माता-पिता से प्राप्त हो जाते हैं और शैशव-काल से ही ऐसे बालक मानसिक रूप से अस्वस्थ रहते हैं। शारीरिक, आर्थिक तथा संवेगात्मक शारीरिक अस्वस्थता या शारीरिक दोष भी मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं और किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में मनः अवस्था को कुंठित कर देते हैं। बालकों के पालन-पोषण का आर्थिक पहलू मानसिक स्वास्थ्य का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है और दैन्यावस्था की भावना उनकी भावना-ग्रन्थियों को विशेष रूप से प्रभावित करती है। अतः माता-पिता की गरीबी भी बहुधा बालकों की मानसिक अस्वस्थता का कारण होती है। सामाजिक दोष बालकों की मानसिक अस्वस्थता को विशेष प्रभावित करते हैं और भारतीय समाज विभिन्न प्रकार के अनेक दोषों से भरा पड़ा है। सामाजिक असमानता के भावना-ग्रन्थियों पर प्रभाव स्वरूप अनेक बालक हीन भावना से प्रभावित होकर मानसिक रूप से अस्वस्थ रहते हैं। संवेगात्मक प्रभाव मानसिक अस्वस्थता का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। मानसिक स्वास्थ्य बालकों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं से निर्मित होता है और संवेगात्मक वृत्तियों में किसी भी प्रकार की बाधा मानसिक अस्वस्थता का कारण हो सकती है। अतः बालकों के संवेगों के विकास की कमी द्वारा मानसिक अस्वस्थता उत्पन्न होती है।

मानसिक स्वास्थ्य का महत्त्व

मानसिक अस्वस्थता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने स्वास्थ्य-चिन्तकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। बीसवीं शदी के प्रारम्भ में इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हुए। इस सन्दर्भ में क्लिफर्ड बियर्स (W. Clifford Bears) इसकी धूम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिनकी एक पुस्तक (A Mind That Found Itself) युग प्रवर्तक सिद्ध हुई। १९०८ ई० में यूरोप में इस दिशा में कार्य के लिये मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान-समिति (Mental Hygiene Committee) की स्थापना हुई जिसे क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त हो गया और उसका बाल-स्वास्थ्य सम्बन्धी अलग विभाग है जो समय-

समय तथा स्थान-स्थान पर अधिवेशनों तथा सम्मेलनों के आयोजन द्वारा बालकों के मानसिक स्वास्थ्य-विकास के लिये प्रयत्न तथा प्रचार कार्य करता है।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य को भावना-ग्रन्थियों और अन्तःसंघर्षों से बचाया जाय और उसे ऐसे रहन-सहन के लिये तैयार किया जाय जिसमें उसकी स्वाभाविक इच्छाओं और सामाजिक मान्य-भावना-ग्रन्थियों से बचाना ताओं का उचित समायोजन हो, तथा वह सम्भावित विषम परिस्थितियों को भी सहन करने की क्षमता रखे। अतः व्यक्तित्व-निर्माण की दिशा में यह व्यवस्था विशेष मूल्यवान है। बालकों को प्रारम्भ से ही अन्तः-बाह्य समायोजन के लिये तैयार करना, व्यक्तित्व विकास में विरोधी विभिन्न मानसिक उलझनों और ग्रन्थियों से उन्हें सुरक्षित रखना, उनके मानसिक दोषों को दूर करना तथा बालकों को स्वाभाविक इच्छाओं को दमन करने के स्थान पर उनकी पूर्ति करना या उन्हें सन्तोषप्रद अवस्था की ओर निर्देशित करना आदि मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के महत्वपूर्ण कार्य हो सकते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य के नियम

मानसिक-स्वास्थ्य के निम्नलिखित दो विशेष प्रभावपूर्ण तत्त्व होते हैं—

(क) भावना-ग्रन्थियाँ (Complexes)

(ख) संवेग (Emotions)

(क) भावना-ग्रन्थियाँ

भावना-ग्रन्थियों की विवेचना चेतन और अचेतन मन के बीच एक अवरोध के रूप में की जा सकती है। यदि किसी व्यक्ति के मन में कुछ अतृप्त इच्छायें पर्याप्त समय तक विद्यमान रहती हैं और किसी प्रकार उनकी तृप्ति सम्भव नहीं हो पाती तो ये भावनार्ये अचेतन मन में एक

भावना-ग्रन्थियों का निर्माण

ग्रन्थि (एक गुल्थी या गुठली) का रूप धारण कर लेती हैं।

जिस प्रकार शारीरिक विकार के कारण उत्पन्न शारीरिक ग्रन्थियाँ (Glands) सम्बन्धित विकार की वृद्धि के साथ बढ़ती हैं और विकार में कमी अथवा उचित चिकित्सा द्वारा धीरे-धीरे कम हो जाती हैं उसी प्रकार ये मानसिक विकार की भावना ग्रन्थियाँ विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होती रहती हैं। यदि किसी विशेष असन्तोष या अतृप्ति की परिस्थिति से उत्पन्न भावना-ग्रन्थि से सम्बन्धित व्यक्ति के जीवन में उसी प्रकार की असन्तोष या अतृप्ति की परिस्थिति की पुनरावृत्ति होती रहती है तो उसके अचेतन मन में उस भावना-ग्रन्थि का विकास होता रहता है और प्रभावस्वरूप उसका व्यक्तित्व दूषित हो जाता है। इसके विपरीत यदि परिस्थिति वश उसकी दशा में परिवर्तन हो जाता है और सम्बन्धी असन्तोष या अतृप्ति का निवारण होने लगता है तो सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि भी धीरे-धीरे

अशक्त होने लगती है और चेतन तथा अचेतन मन के बीच का अवरोध कम होने लगता है ।

भावना-ग्रन्थियों का बीजारोपण अधिकतर बाल्यकाल में ही होता है । जब किसी बालक की किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा अतृप्त रह जाती है, किसी पारिवारिक या सामाजिक मान्यता अथवा किसी विशेष अतृप्ति और असन्तोष व्यवहार के कारण उसके मन में असन्तोष उत्पन्न होता है और सम्बन्धी भावनाओं का दमन कर दिया जाता है तो यह असन्तोष अथवा अतृप्ति उसके अचेतन मन में जड़ जमा लेती है । उसके लिए उसके चेतन और अचेतन मन में संघर्ष होता है । अचेतन मन उसे प्राप्त करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने तथा उसकी प्राप्ति के मार्गों में आई रुकावटों के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प करता है । परन्तु उसका चेतन मन नैतिकता, असमर्थता, दमन-भय आदि का विचार करके उसको रोकता रहता है । अन्ततः चेतन मन और बाह्य परिस्थितियों की विजय होती है और सम्बन्धी अतृप्ति या असन्तोष क्रमशः भावना-ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है । मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से इन भावना ग्रन्थियों की उपस्थिति बहुत ही हानिकारक है, क्योंकि मानसिक रोगों के कीटाणुओं का जन्म इन्हीं भावना-ग्रन्थियों में होता है और भावना-ग्रन्थियों के विकास अथवा उनमें वृद्धि से मानसिक अस्वस्थता आती है ।

(ख) संवेग

संवेग को मानसिक अभिवृद्धि का आधार माना गया है । संवेगों का सम्बन्ध मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों से होता है । प्रत्येक व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों की किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति स्वाभाविक है । ये मूलप्रवृत्तियाँ अभिवृद्धि का आधार किसी भी ढंग से समाप्त नहीं की जा सकती हैं और दमन से प्रतिशोधात्मक रूप धारण कर लेती हैं । इनको उचित परिमार्जन (Sublimation) द्वारा उपयोगी बनाया जा सकता है । उचित परिमार्जन से इन्हें शान्त भी किया जा सकता है अथवा इन्हें परिशोधित करके परिवार और समाज की आलोचना से बचाया जा सकता है ।

मनुष्य की मूलप्रवृत्तियाँ बहुत सी हैं । कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इनकी संख्या चौदह तक बताई है । बालकों की विभिन्न क्रियायें सामान्यतः उनकी मूलप्रवृत्तियों से ही परिचालित होती हैं । भूख और पलायन की आत्म-मूलप्रवृत्तियों का सुरक्षा सम्बन्धी मूलप्रवृत्तियाँ हैं, शिशुओं के प्रति स्नेह और परिमार्जन और शोध विरोधी लिंग (Opposite sex) के प्रति आकर्षण जाति-रक्षा सम्बन्धी मूलप्रवृत्तियाँ हैं, तथा सामूहिकता, रचना-त्मकता, आत्म-गौरव आदि की सामाजिकता सम्बन्धी मूल-प्रवृत्तियाँ होती हैं । अन्य मूलप्रवृत्तियों का वर्गीकरण भी लगभग इन्हीं तीन वर्गों में किया जा सकता है ।

मूलप्रवृत्तियों के उचित परिमार्जन द्वारा ही संवेगों का स्वस्थ विकास किया जा सकता है। संवेगों का स्वस्थ विकास ही मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य का माप है। बालकों की मूलप्रवृत्तियों के परिमार्जन द्वारा उनके संवेगों को उचित एवं उपयोगी मार्गों पर अग्रसारित किया जा सकता है। इसके लिए परिवार, समाज व शिक्षा-संस्थाओं में उपयुक्त वातावरण के निर्माण की आवश्यकता है।

मानसिक-स्वास्थ्य तथा शिक्षा-व्यवस्था

भावना-ग्रन्थियों से बचाव

शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो बालकों को भावना-ग्रन्थियों से बचाकर मानसिक रूप से स्वस्थ रखने में सहायक हो। वही बालक मानसिक रूप से स्वस्थ कहा जा सकता है जो भावना-ग्रन्थियों से संघर्ष करके उसे दूर भगाने में समर्थ हो सके। शारीरिक उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित करना स्वास्थ्य एवं सन्तुष्टि इस दिशा में पर्याप्त सहायक होती है। उनके अन्दर संकल्प-शक्ति का विकास करके उन्हें भावना-ग्रन्थियों से संघर्ष के योग्य बनाया जा सकता है। जो बालक जितना ही दृढ़-संकल्प होगा, भावना-ग्रन्थियों पर उतनी ही सरलता से विजय प्राप्त कर सकेगा। शिक्षा-संस्थाओं की दण्ड-व्यवस्था द्वारा उनकी भावनाओं के दमन से उत्पन्न होने वाली भावना-ग्रन्थियों को रोकना एक अन्य महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। उनकी अनुपयोगी, अशोभनीय या असामाजिक भावनाओं को दूर हटाने के लिए स्नेह-भाव या समझाने आदि के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। बालकों को उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित करना भी इस दिशा में उपयोगी हो सकता है इससे उनकी अमन्तोष और अतृप्ति की भावना में कमी आयेगी।

संवेगों का स्वस्थ विकास

बालकों की मूलप्रवृत्तियों के उचित परिमार्जन द्वारा संवेगों का स्वस्थ विकास शिक्षा-कार्यक्रमों का मुख्य अंग होना चाहिए। सन्तुलित भोजन, व्यायाम, विश्राम, सफाई, रोगोपचार आदि द्वारा उनकी भूख एवं शारीरिक सांस्कृतिक, कलात्मक आवश्यकता सम्बन्धी मूलप्रवृत्तियों का परिमार्जन किया जा सकता है। शिक्षकों के स्नेहयुक्त तथा वात्सल्यपूर्ण व्यवहार द्वारा उनकी पलायन-सम्बन्धी मूलप्रवृत्तियाँ परिमार्जित की जा सकती हैं। जाति-रक्षा सम्बन्धी मूलप्रवृत्तियों के परिमार्जन हेतु विद्यालयों में विभिन्न वर्गों के बालकों के बीच सौहार्द्रपूर्ण तथा एक-दूसरे की सहायता की भावना विकसित करना श्रेयस्कर होगा तथा सामाजिक मर्यादा को ध्यान में रखकर जहाँ तक सम्भव हो उन्हें यौन (Sex) सम्बन्धी बोध भी कराया जा सकता है। विरोधी लिंग-आकर्षण की मूलप्रवृत्तियों के कारण कोमल आयु के बालक-बालिकाओं को साथ-साथ पढ़ाने तथा महिलाओं द्वारा शिक्षण की व्यवस्था अधिक उपयोगी होगी।

सामाजिकता सम्बन्धी मूलप्रवृत्तियों के लिए बालकों में आपसी सहयोग, भिन्नतापूर्ण व्यवहार की भावना विकसित की जाय, स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के अभ्यास द्वारा स्वतन्त्रता और आत्मविश्वास की भावना की तुष्टि की जाय, रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा उनकी रचनात्मक-प्रवृत्तियों का परिमार्जन किया जाय तथा खेलकूद, व्यायाम, स्काउट, सैनिक शिक्षा, आदि की व्यवस्था द्वारा उनकी साहसिक कार्यों से सम्बन्धित मूलप्रवृत्तियों के परिमार्जन की व्यवस्था समीचीन होगी। इसी प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक, कलात्मक और ज्ञानात्मक कार्यक्रमों जैसे विभिन्न विषयों के लिए समित्तियों, परिषदों का गठन तथा सम्बन्धी कार्यक्रम; नाटक और वेराइटी शो; संगीत, कविता पाठ, वाद-विवाद, आर्ट, पेंटिंग आदि की प्रतियोगिताओं, द्वारा उनकी आत्म-तृप्ति तथा आत्म-गौरव की मूलप्रवृत्तियों का परिमार्जन किया जा सकता है। बालकों के लिए निर्धारित किये गये पाठ्यक्रम एवं अन्य कार्यक्रमों में उनकी शारीरिक, मानसिक, स्मरण-सम्बन्धी, कल्पना-सम्बन्धी तथा चरित्र-सम्बन्धी शक्तियों के विकास तथा उनकी स्वाभाविक अभिरुचियों का विशेष ध्यान होना चाहिए।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का अध्ययन

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का ज्ञान प्रत्येक अध्यापक के लिए आवश्यक होना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था से दुहरे प्रयोजनों की सिद्धि होगी। प्रथम तो, यह कि कुछ शिक्षक किसी न किसी कारण से मानसिक रूप से अध्यापक के लिए इस अस्वस्थ हो सकते हैं। मानसिक अस्वस्थता की अवस्था में विज्ञान का ज्ञान उनसे स्वस्थ शिक्षा की आशा नहीं की जा सकती। मानसिक आवश्यक स्वास्थ्य-विज्ञान के ज्ञान द्वारा वे अपने स्वास्थ्य में सुधार कर सकेंगे। दूसरे, वे बालकों की शिक्षा में मानसिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण अपना सकेंगे।

साधारण और मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के ज्ञाता अध्यापकों के दृष्टिकोण निःसन्देह अलग-अलग होंगे। यदि प्रथम के लिए एक उद्दण्ड या ऊधमी बालक एक समस्या प्रतीत होगा तो द्वितीय के लिए अन्य की अपेक्षाकृत बालकों की शिक्षा के शान्त व सुस्त रहने वाले बालकों को सामान्य स्तर पर प्रति लाने की समस्या रहेगी। विद्यालयों के पाठ्यक्रम और अन्य कार्यक्रम, अनुशासन, व्यवस्था, समायोजन आदि का आधार प्रायः मनोवैज्ञानिक नहीं होता। मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के जानने वाले अध्यापक उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। बालकों के प्रति ऐसे अध्यापकों के व्यवहार स्नेहपूर्ण होंगे तथा वे बालकों की अभिरुचियों और मूलप्रवृत्तियों का पूरा-पूरा विचार करेंगे।

अधिकांश विद्यालय कुसमायोजित रहते हैं, और उनके कार्यक्रमों में बालकों

३३६ ○ बाल व्यवहार विकास

की क्षमता का ध्यान नहीं रखा जाता । इसके फलस्वरूप या तो बालकों की शक्ति का अपव्यय होता है या कार्यक्रमों के बोझ से वे क्लान्त विद्यालयों में उपयुक्त रहते हैं । बालकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए कार्यक्रमों का समायोजित तथा बालकों की शक्ति के अनुसार होना अत्यन्त आवश्यक है । मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा प्रत्येक अध्यापक के लिए आवश्यक होनी चाहिए । अध्यापकों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह प्रत्येक बालक के मानसिक विकास पर ध्यान रखे तथा जिन बालकों का सुधार उनसे सम्भव न हो उनके लिए मनोचिकित्सकों की सुविधायें उपलब्ध की जायँ ।

SELECTED BIBLIOGRAPHY

चुनी हुई सहायक पुस्तकों की सूची

- Abernethy, E. M. Correlations in Physical and Mental Growth, *Journal of Educational Psychology*, 16, pp. 435-466, 539-546, 1925.
- Abramson, H. The Influence of Disease upon Motor Development during Childhood. *Psychological Bulletin*, 31, pp. 800-814, 1934.
- Abt, I., Adler, A., and Bartelme, P. The Relationship between the onset of Speech and Intelligence, *Journal of American Medical Association*, 93, pp. 1351-1353, 1929.
- Ackerson, H. *Children's Behaviour Problems*, Univ. of Chicago Press, Chicago, 1931.
- Adler, A. *Problems of Neurosis*, Cosmopolitan Book Corporation, New York, 1930.
- Adler, A. *The Education of Children*, Greenberg, New York, 1930.
- Aldrich, C. A. The Pediatrician looks at Personality, *American Journal of Orthopsychiatry*, 17, pp. 571-574, 1947.
- Aldrich, C. A. A new test of hearing in the new born, *American Journal of Dis. Child.*, 35, pp. 36-37, 1928.
- Aldrich, C. A., Sing, C., and Knop, C., and Venegas, F. The crying of newly born babies. I. The Community Phase, *Journal of Pediat.* 26, pp. 313-326, 1945.
- Allport, G. W. *Personality : A Psychological Interpretation* ; Holt, New York, 1937.
- Almack, I. C. The Influence of Intelligence on the Selection of Associates, *School and Society*, 16 pp. 529-530, 1922.
- Amen, E. W. Individual Differences in Apperceptive Reaction : a Study of the Response of Pre-school children to Pictures, *Genet. Psychol. Monograph*, 23, pp. 319-385, 1941.

- Ames, L. B. The Constancy of Psycho-motor Tempo in Individual Infants, *Journal of Genetic Psychology*, 57, pp. 445-450, 1940.
- Ames, L. B. The Development of the Sense of Time in the Young Child, *Journal of Genetic Psychology*, 68, pp. 97-125, 1946.
- Ames, L. B., and Learned, J. Imaginary Companies and related Phenomena, *Journal of Genetic Psychology*, 69, pp. 147-167, 1946.
- Ames, L. B., and Learned, J. The Development of Verbalized Space in the Young Child, *Journal of Genetic Psychology*, 72, pp. 63-84, 1948.
- Amster, F. Differential use of Play in Treatment of Young Children, *American Journal of Ortho-Psychology*, 13, pp. 62-68, 1943.
- Anastasia, A. *Differential Psychology*, Macmillan, New York, 1949.
- Anderson, H. H. Domination and Integration in the Social Behaviour of Young Children in an Experimental Paly Situation, *Genetic Psychology Monograph*, 19, pp. 343-408, 1937.
- Anderson, J. E. The Method of Child Psychology, In Murchison, C., *A Handbook of Child Psychology*, 2nd. ed. Clark Univ. Press, Worcester, pp. 3-28, 1933.
- Anderson, J. E. Personality Organisation in Children, *American Psychology*, 3, pp. 409-416, 1948.
- Andrews, E. G. The Development of Imagination in the Pre-school Child, *University of Iowa Student Character*, 3, No. 4, 1930.
- Arlitt, A. H. *The Child from One to Twelve*, McGraw-Hill, New York, 1931.
- Arringto, R. E. Interrelations in the Behaviour of Young Children, *Child Development Monograph*, No. 8, 1932.
- Arreniah, S. Bilingualism and Mental Development, *Teach Coll. Contr. Edu.* No. 712, 1937.
- Arthur, G. The Relationship of Intelligent Quotient to Position in the Family, *Journal of Educational Psychology*, 17, pp. 541-550, 1926.
- Austin, M. C., and Thompson, G. G. Children's Friendships : a Study of the Bases on which Children select and reject their best Friends, *Journal of Educational Psychology*, 39, 101-116, 1948.

- Ayer, M. A., and Birneuter, R. G. A Study of the Relationship between Discipline and Personality Traits in little Children, *Journal of Genetic Psychology*, 50, pp. 165-170, 1937.
- Baker, H. J., Decker, F. J., and Hill, A. S. A Study of Juvenile Theft, *Journal of Educational Res*, 20 pp. 81-87, 1929.
- Bakwin, H. The Emotional Status at Birth, *American Journal of dis. child*, 74, pp. 373-376, 1947.
- Baldwin, A. L. Differences in Parent Behaviour towards three and nine-year old Children, *Journal of Personality*, 15, pp. 143-165, 1945.
- Baldwin, A. L. Changes in Parent Behaviour during Childhood, *American Psychology*, 2, pp. 425-426, 1947.
- Baldwin, A. L., Kalthorn, J., and Breese, F. H. Patterns of Parent Behaviour, *Psychol. Monograph*, 58, No. 3, 1945.
- Baldwin, B. T. The Physical Growth of Children from Birth to Maturity, *Univ. Ia Stud. Child Welf.* 4, No. 1, 1921.
- Baldwin, B. T. The Relation between Mental and Physical Growth, *Journal of Educational Psychology*, 13, pp. 193-203, 1922.
- Baldwin, B. T., and Stecher, L. I. *The Psychology of the Pre-school Child*, Appleton-Century-Crofts, New-York, 1917.
- Banister, H., and Ravden, M. The Problem Child and his Environment, *British Journal of Psychology*, 34, pp. 60-65, 1943.
- Barker, M. A. A Technique for Studying the Social-material Activities of Young Children, *Child Development Monograph*, No. 3, 1930.
- Barnes, E. The Prettiest Thing, *Study in Education*, 2, pp. 180-194, 1920.
- Bartlet, E. R. and Harris, D. B. Personality Factors in Delinquency, *School and Society*, 43, pp. 653-656, 1935.
- Bayley, M. The Consistency of Mental Growth during the First Year, *Psychological Bulletin*, 28, pp. 225-226, 1931.
- Bayley, N. Mental growth during the first three years, A development study of 61 children by repeated tests, *Genetic Psychology Monograph*, 14, pp. 1-92, 1933.
- Bayley, N. The Development of Motor Abilities during the first three years, *Monograph Soc. Res. Child Development*, 1, pp. 1-26, 1935.
- Beaver, A. P. The Institution of Social Contacts by Pre-school Children, *Child Development Monograph*, No. 7, 1932.

- Bender, L. Behaviour Problems in the Children of Psychotic and Criminal Parents, *Genetic Psychology Monograph*, 19, pp. 229-339, 197.
- Bender, L. The Psychology of Children's reading and Comics, *Journal of Educational Sociology*, 18, pp. 223-231, 1944.
- Bender, L., and Vogel, B. F. Imaginary Companions of Children, *American Journal of Orthopsychiatry* 11, pp. 56-65, 1941.
- Bennet, H. E. Leadership in Relation to Intelligence, *School Review*, 31, pp. 125-128, 1923.
- Berne, E. V. An Experimental Investigation of Social Behaviour Patterns in Young Children, *Univ. Ia. Stud. Child Welf.* 4, No. 3, 1930.
- Berliner, A. Aesthetic Judgments of School Children, *Journal of Applied Psychology*, 2, pp. 229-242, 1918.
- Blanton, S. Speech Disorders, *Mental Hygiene*, N. Y. 13, pp. 740-73.
- Blanton, S. and Blanton, M. G. *Child : Guidance*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1927.
- Blanton, S. and Blanton, M. G. *For Stutterers*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1935.
- Blatz, W. E., Bott, E. A., and Millichamp, D. A. *The Development of Emotion in the Infant*, Univ. Toronto, Press, Child Development Series, No. 4, Toronto, 1935.
- Blumer, H. *Movies and Conduct*, Macmillan, New York, 1933.
- Blumer, H., and Hauser, P. M. *Movies, Delinquency and Crime*, Macmillan, New York.
- Bonney, M. E. Sex Differences in Social Success and Personality Traits, *Child Development*, 15, pp. 63-79, 1944.
- Bonney, M. E. Popular and Unpopular Children, a Sociometric study, *Sociometry Monograph*, No. 9, 1947.
- Bonser, F. G. Chums : a study in youthful friends, *Ped. Sem.* 9, pp. 221-236, 1902.
- Boynton, B. *The Physical Growth of Girl*, Univ. Iowa Press, Iowa City, 1936.
- Boynton, P. L. The Vocational Preference of School Children, *Journal of Genetic Psychology*, 49, pp. 411-425.
- Boynton, P. L. The Relationship of Hobbies to Personality Characteristics of School Children, *Journal Experimental Education*, 8, pp. 363-367, 1940.

- Boynton, P. L., and Boynton, J. C. *Psychology of Child Development*, Educational Publishers, Minneapolis, 1938.
- Brandenburg, G. C. Psychological Aspects of Language, *Journal of Educational Psychology*, 9, pp. 313-332, 1918.
- Brandenburg, J., and Brandenburg, G. C. Language Development during the fourth year, *Ped. Sem.*, 26, pp. 27-40, 1919.
- Breckenridge, M. E., and Vincent, E. L. *Child Development*, Saunders, Philadelphia, 1943.
- Beian, C. R., and Goodenough, F. L. The Relative Potency of Colour and form Perception at Various ages, *Journal of Exp. Psychology*, 12, pp. 197-213, 1929.
- Bridges, K. M. B. A Genetic Theory of Emotions, *Journal of Genetic Psychology*, 37, pp. 514-527, 1930.
- Bridges, K. M. B. Social and Emotional Development of the Pre-school Child, Kegan Paul, London, 1931.
- Bridges, K. M. B. Measuring Emotionality in Infants. A Tentative Experiment, *Child Development*, 5, pp. 36-40, 1934.
- Bromberg, W. The Meaning of Twin Children, *American Journal of Orthopsychiatry*, 18, pp. 147-149, 1938.
- Brown, F. J. *The Sociology of Childhood*, Prentice Hall, New York, 1939.
- Bruch, H. Obesity in Childhood IV. Energy Expenditure in Obese Children, *American Journal Dis. Child.* 60, pp. 1082-1109, 1940.
- Bruch, H. Food and Emotional Security, *Nervous Child*, 3, pp. 165-173, 1943.
- Buhler, C. *The First Year of Life*, Day, New York, 1930.
- Buhler, C. The Child and its Activity with Practical Material, *British Journal of Educ. Psychol.* 3, pp. 27-41, 1933.
- Buhler, C. The Social Behaviour of Children, In Murchison, C. A *Handbook of Child Psychology*, 2nd Ed. Rev. Clark University Press, Chap. 15, Worcester, 1933.
- Buhler, C. *Three Generations of Youth as seen in their Diaries*, Gustav Fischer (Psychol. Abstr. 1934, 8, No. 2329) 1934.
- Buhler, C. *From Birth to Maturity*, Kegan Paul, London, 1935.
- Buhler, C., and Hetzer, H. *Testing Children's Development from Birth to School age*, Farrar, New York, 1935.
- Buhler, K. *The Mental Development of the Child*, Harcourt, New-York, 1930.

- Burt, C. *The Young Delinquent*, Appleton-Century-Crofts, New-York, 1925.
- Caldwell, O. W., and Wellman, B. Characteristics of School Leaders, *Journal of Educational Research*, pp. 14, 1-13, 1926.
- Cambell, A. A. A study of the Personality Adjustments of Only and Intermediate Children, *Journal of Genetic Psychology*, 43, 197-206, 1933.
- Carmichael, L. A Further Experimental Study of the Development of Behaviour, *Psychological Review*, 35, 253-260, 1928.
- Cattell, P. *The Measurement of Intelligence of Infants and Young Children*, Science Press, Ancester, 1940.
- Chaube, S. P., *Bal Manovigyan*, Ram Narain Lal, Allahabad, 1959.
- Chave, E. J. *Personality Development in Children*, Chicago Press, Chicago University, 1937.
- Cole, L. *Psychology of Adolescence*, Rinehart, New York, 1942.
- Cook, W. M. Ability of Children in Colour Discrimination, *Child Development*, 2, 303-320, 1931.
- Cowley, W. H. Three Distinctions in the Study of Leaders, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 23, 144-157, 1928.
- Cuff, N. B. Social Status and Vocabulary, *Journal of Genetic Psychology*, 4, 6, 226-229, 1935.
- Curti, M. W. *Child Psychology*, Longmans, New York, 1940.
- Dashiell, J. E. *Fundamentals of General Psychology*, Houghton Mifflin, Borton, 1937.
- Davis, E. A. Development in the Use of Proper Names, *Child Development*, 8, 270-272, 1937.
- Davis, E. A. *The Development of Linguistic Skills*, Univ. of Minn. Press, Minneapolis, 1937.
- Dolger, L., and Ginandes, J. Children's Attitude towards Discipline as Related to Socio-economic Status. *Journal of Experimental Education*, 15, 161-165, 1946.
- Ellis, H. *A Study of British Genius*, Hurst & Backett, London, 1904.
- Fanquter, W. The Attitudes of Aggressive and Submissive Boys Towards Athletes, *Child Development*, 11, 115-125, 1940.
- Fenton, N. *Mental Hygiene and School Practice*, Stanford Univ. Press, Stanford, 1943.
- Fisher, M. S. *Language Patterns of pre-school Children*, Teacher's College, Columbia Univ. Press, New York, 1934.

- Gates, A. J., and Scott, A. W., Characteristic and Relations of Motor Speed and Dexterity among Young Children, *Journal of Genetic Psychology*, 39, 423-424, 1931.
- Gates, G. S. An Experimental Study of the Growth of Social Perception *Journal of Education Psychology*.
- Gates, A. *The Mental Growth of the Pre-school Child*. Macmillan, New York, 1925.
- Gessell, A. *Infancy and Human Growth*, Macmillan, New York, 1928.
- Gessell, A. *The Guidance of Mental Growth in Infant and Child*, Macmillan, New York, 1930.
- Gessell A., *The First Five Years of Life*, Harper, New York, 1940.
- Gessell, A., and Thompson, H. *Infant Behaviour, Its Genesis and Growth*, McGraw-Hill, New York, 1935.
- Gessell, A., and Thompson, H. *The Psychology of Early Growth*, Macmillan, New York, 1938.
- Gessell : *Child Development*, Harper, New York 1949.
- Goodenough, F. L. The Emotional Behaviour of Young Children during Mental Tests, *Journal of Juvenile Research*, 13, 204-219, 1929.
- Goodenough, F. L., *Anger in Young Children*, Univ. Minu. Press, Minneapolis, 1931.
- Green, G. H., *The Day Dream*, Univ. London, Press, London, 1923.
- Hall, G. S. A Study of fears, *American Journal of Psychology*, 8, 147-249, 1897.
- Hartshorne, H., May, M. *Studies In Deceit*, Macmillan, New York, 1928.
- Hartshorne, H., May, M. *Studies in the Nature of Character*, 3 Vols., Macmillan, New York, 1928.
- Healy, W., and Bronner, A. F. *New Light on Delinquency and Its Treatment* Yale, Univ. Press, New Haven, 1936.
- Hollingworth, H. C. *Mental Growth and Decline* Appleton-Century. New York, 1928.
- Hollingworth, L. S. *Gifted Children, Their Nature, and Nature*, Macmillan, 1926.
- Hurlock, E. B. *Child Development*, McGraw Hill, New York, 1950.
- Irwin, O. C. Infant Speech Development of Vowel Sounds, *Journal of Speech Hearing Disorders*, 13, 31-34, 1848.

- Isaacs, S. *Social Development in Young Children*, Routledge, London, 1933.
- Jaiswal, Mahendra Prasad : *Vikasatmak Mnovigyan*, Delhi Pustak Sadan, Delhi.
- Jensen, A. S. *Psychology of Child Behaviour*, Prentice-Hall, New York, 1938.
- Jersild, A. T. *Child Psychology*, Prentice-Hall, New York, 1954.
- Jordon, A. M. *Children's Interests in Reading*, Univ. North Carolina Press, Chaple Hill, 1926.
- Jordon, A. M. *Educational Psychology*, 3rd Ed., Holt, New York, 1942.
- Lazar, M. *Reading Interests, Activities and Opportunities of Bright, Average and Dull Children*, Teachers College, Columbia Univ. New York, 1937.
- Lehman, H. C. and Witay, P. A. *The Psychology of Play Activities*, A. S. Barnes, New York, 1927.
- Lerner, E. and Murphy, L. Methods for the Study of Personality in young Children, *Monogram of Social Research in Child Development*, 6, No. 4, 1941.
- Lwies, M. How Parental Attitudes affect the Problem of lying in Children, *Smith College, Study of Social Work*, 1, 403-404, 1931.
- Macfarlane, J. W. Study of Personality Development, In Barkar, R. G. & others', *Child Behaviour and Development*, McGraw-Hill, New York, 1943.
- Mary and Mary : From Infancy to Adolescence, Harvard, 1940.
- McCarthy, D. A. *The Language Development of the Pre-school Child*, Univ. Minn. Press, Minneapolis, 1930.
- McCarthy, D. A. Language Development, In Murchison, C. A *Handbook of Child Psychology*, 2d Ed. Rev, Clark Univ. Press, Worcester, 1933.
- McDougall, W. *An Introduction to Social Psychology*, J. W. Luce, Boston, 1923.
- Millard, C. V. *Child Growth and Development*, D. C. Heath and Co., Boston, 1951.
- Miller, A. M. *Children and the Movies*, Chicago Univ. Press, Chicago, 1930.
- Munu, N. L. *Psychological Development*, Houghton, Boston, 1938.

- Murchison, C. *A Handbook of Child Psychology*, 2d Ed. Rev. Clark, Univ. Press, Worcester. 1933.
- Morgan : Introduction to Psychology, McGraw Hill, 1961.
- Murphy, G. *An Historical Introduction to Child Psychology*, Harcourt Brace, Chap. 17, New York, 1929.
- Murphy, G., Murphy, L. B., and Newcomb, T. M. *Experimental Social Psychology*, Rev. Ed. Harper, New York, 1937.
- Newman, H. H. *Multiple Birth, Twins, Triplets and Quadruplets and Quintuplets*, Doubleday, New York, 1940.
- Page, M. L. The Modification of Ascendant Behaviour in Pre-school Children, *Univ. Ia, Stud. Child Welf*, 12, No. 3, 1936.
- Paynter, R. H., and Blauchard, P. *Educational Achievement of Children with Personality and Behaviour Difficulties*, Joint Committee on Method of Preventing Delinquency, New York, 1928.
- Piaget, J. *The Language and Thought of the Child*, Harcourt Brace, New York, 1926.
- Piaget, J. *The Child's Conception of the World*, Harcourt Brace, New York, 1929.
- Piaget, J. *The Moral Judgment of the Child*, Harcourt Brace, New York, 1932.
- Piaget, J. Children's Philosophies, In Murchison, C., *A Handbook of Child Psychology*, 2d Ed. Rev. Clark, Univ. Press, Worcester, opp. 534—547, 1933.
- Pintner, R. Intelligence and Month of Birth, *Journal of Applied Psychology*, 15, pp. 149-154, 1931.
- Radke, M. J. *The Relation of Parental Authority to Children's Behaviour and Attitudes*, Univ. Minnesota Press, Minneapolis, 1946.
- Raymond : Psychological Studies of Human Development, Appleton, 1952.
- Rothney, J. W. M. Recent Findings in the Study of the Physical Growth of Children, *Journal Educ. Res.*, 35, pp. 161-182, 1941.
- Salisbury, F. S. *Human Development and Learning*, McGraw-Hill, New York, 1939.
- Seashore, C. E. The Material Weight, Illusion. *Univ. Ia. Stud. Psychol.* 2, pp. 44-46, 1899.
- Sherman, M., and Sherman, I. C. *The Process of Human Behaviour* Norton, New York, 1929.

- Shinn, M. W. *The Biography of a Baby*, Houghton Mifflin, Boston, 1900.
- Shirley, M. M. *The First Two Years*, Univ. Minnesota Press, Minneapolis, Vol. 1, 1931.
- Shuttleworth, F. K. Sexual Maturation and Physical Growth of Girls age Six to Nineteen, *Monograph Soc. Res. Child Development*, 2, No. 5, 1937.
- Skinner, C. E., and Harriman, P. L. *Child Psychology*, Macmillan, New York, 1941.
- Stagner, R. *Psychology of Personality*, 2nd Ed., McGraw-Hill, New York, 1948.
- Stagner, R., and Drought, N. Measuring Children's Attitude towards their Parents, *Journal of Educational Psychology*, 26, pp. 169-176, 1935.
- Stern, W. *Psychology of early Childhood*, Holt. New York, 1931.
- Strang, R. *An Introduction to Child Study*, Rev. Ed. Macmillan, New York, 1938.
- Strayer, L. C. Language and Growth : The Relative Efficacy of Early and Deferred Vocabulary Training, Studied by the Method of Co-twin Control, *Genet. Psychol. Monograph*, 8, pp. 209-319, 1930.
- Symonds, P. M. *The Psychology of Parent Child Relationship*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1939.
- Terman, L. M. *The Measurement of Intelligence*, Houghton Mifflin, Boston, 1916.
- Terman, L. M. Genetic Studies of Genius, Standford Univ. Press, Stanford University, 1925, Vol. 1 ; 1926, Vol. 2 ; 1930, Vol. 3.
- Terman, L. M., and Lima, M. *Children's Readings*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1927.
- Thorndike, E. L. *The Psychology of Wants, Interests, and Attitudes*, Appleton-Century-Crofts, New-York, 1935.
- Thorpe, L. P. *Child Psychology and Development*, Ronald, New-York, 1946.
- Thurstone, L. L. and Jekins, R. L. *Order of Birth, Parentage and Intelligence*, Chicago Univ. Press, Chicago, 1931.
- Van-Dyke, G. E. The Effect of the Advent of puberty on the Growth in Height and Weights of Girls, *Sch. Rev.*, 38, pp. 11-221, 1930.

- Verma, Savitri Devi : *Aap ka Munna*, Atmaram & Sons Delhi.
- Yinay Kumar Rai : *Vaikasik Manovigyan*, Nand Kishore Varanasi, 1963.
- Wagner, I. F. The Establishment of a Criterion of Depth of Sleep in new born Infants, *Journal of Genetic Psychology*, 51, pp. 17-59, 1937.
- Wang, C. K. A. The Significance of Early Personal History for certain Personality Traits. *American of Psychology*, 44, pp. 774, 1932.
- Watson, J. B. *Psychological Care of Infant and Child*, Norton, New-York, 1928.
- Wiggam, A. E. Do Brains and Character go together ? *School and Society*, 54, pp. 261-265, 1941.
- Witty, P. A. A Study of Deviates in Versality and Sociality of Play Interests, *Teach. Coll. Contr. Educ.*, No. 470, 1931.
- Yogendrajit, Bhai : *Bal Manovigyan*, Vinod Pustak Mandir, Agra, 1967.
- Yogendrajit, Bhai : *Vikasatmak Manovigyan*, Vinod Pustak Mandir, Agra, 1967.
- Young, F. E. *Clothing the Child*. McGraw-Hill, New York, 1938.
- Young, F. M. Development as Indicated by a Study of Pronouns, *Journal of Genetic Psychology*, 61, pp. 125-134, 1942.
- Zachry, C. B. *Emotion and Conduct in Adolescence*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1940.

अभिसूचिका

(Index)

अ

अकाल प्रौढ़ बालक (Precocious Children)	३०३-३०४
अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त (Theory of Insight)	८२-८३
अनुकरण का सिद्धान्त (Theory of Imitation)	८१
अपराधी बालक (Delinquent Children)	३०५-३१८
अभ्यास-सम्बन्धी नियम (Law of Exercise)	८३-८४
अवधान (Attention)	१३७-१४०
असामान्य बालक (Abnormal Children)	२६८-३०४

आ

आत्म, का प्रत्यय (Concept of Self)	७२-७४
आदत (Habit)	२०८-२१६
आनन्द (Delight)	१५५

ई

ईर्ष्या (Jealousy)	१५८-१६१
--------------------	---------

ऊ

ऊँचाई, की बाढ़ (Growth of Height)	३३-३६
-----------------------------------	-------

क

क्रम निर्धारण मान विधि (Rating Scale Technique)	१३
कष्ट (Distress)	१५८

ग

गति का विकास (Motor Development)	४६-६०
----------------------------------	-------

च

चरित्र (Character)	२१६-२३४
चिकित्सक विधि (The Clinical Method)	१४
चिन्तन (Thinking)	१०८-१०९

ज

जीवन चरित्र (Biography)	१५
-------------------------	----

त

तर्क (Reasoning)	१०८-१०९
तत्परता-सम्बन्धी नियम (Law of Readiness)	८४
तौल, का प्रत्यय (Concept of Weight)	७१
तौल, की बाढ़ (The Growth of Weight)	३२-३३

द

दाँत (Teeth)	४१-४२
--------------	-------

ध

धार्मिक विकास (Religious Development)	२८०-२९०
---------------------------------------	---------

न

नियन्त्रित व्यक्तिगत निरीक्षण (Controlled Subjective Observation)	१३
नेतृत्व (Leadership)	१८३-१८४
नैतिक विकास (Moral Development)	२६२-२७६

प

परिणाम-सम्बन्धी नियम (Law of Effect)	८४
परिपक्वता (Maturation)	७८-७९
परीक्षणान्तरक विधियाँ (Experimental Methods)	१४
प्रत्यय, बच्चों के (Children's Concepts)	६२-७७
प्रतिभावान बालक (Super Normal or Gifted Children)	३१६-३२४
प्रश्नावली विधि (Questionnaire Technique)	१३
प्यार (Affection)	१५६

ब

बुद्धि (Intelligence)	१२३-१३३
-----------------------	---------

भ

भय (Fear)	१५६-१५७
भाषा का विकास (Development of Language)	९०-१०८

म

मनः शारीरिक अध्ययन (Psycho-physical Studies)	१४
मानसिक विकास (Mental Development)	१२१-१३६
मांसपेशियाँ (Muscles)	४२-४३
मूलप्रवृत्तियाँ (Instincts)	१८६-२००

र

रुचि (Interest)	१४०
रोना (Crying)	१५८

व

व्यक्तिगत आँकन (Subjective Appraisal)	१२-१३
व्यक्तित्व, का विकास (Personality Development)	२३५-२६१

श

शारीरिक विकास (Physical Development)	२६-४५
--------------------------------------	-------

स

समझ, का विकास (Development of Understanding)	६१-७७
समय, का प्रत्यय (Concept of Time)	६६-७०
सम्बद्ध प्रत्यावर्तन, का सिद्धान्त (Theory of Conditioned Reflex)	८१-८२
स्मृति (Memory)	१११-१२०
सामाजिक प्रत्यय (Social Concept)	७४
स्वरूप, का प्रत्यय (Concept of Form)	७१-७२
संख्या, का प्रत्यय (Concept of Number)	६८-६९
संवेगात्मक विकास (Emotional Development)	१४७-१६१
सामाजिक विकास (Social Development)	१६२-१८८
स्थान, का प्रत्यय (Concept of Space)	६७-६८
स्नायुमण्डल, का विकास (The Development of Nervous System)	४४-४५
स्वास्थ्य, बालकों का (Health of Children)	३२५
सोखना (Learning)	७८-८६
स्टैनली हाल (Stanly Hall)	१३
सौन्दर्य, का प्रत्यय (Aesthetic Concept)	७४-७७
सौन्दर्यात्मक विकास (Development of Aesthetic Sense)	२६१-२६७

ह

हड्डियाँ (Bones)	३६-४०
------------------	-------

ज्ञ

ज्ञानेन्द्रियाँ (Senses)	२०१-२०७
--------------------------	---------